न-योग-प्रकाशः

योगिराज स्वामी लक्ष्मणानन्द

॥ ओ३म् ॥

ध्यान-योग-प्रकाशः

(वेद-वेदाङ्गादिसच्छास्त्रप्रमाणैरलङ्कृतः)

[दयानन्द-बलिदान-शताब्दी-संस्करणम]

योगिराज स्वामी लक्ष्मणानन्द

प्रकाशकः—
सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट
५ लेलिन सरणि
कलकत्ता-७०००१३

मुद्रकः—
कमाल प्रिंटिग प्रेस
नई सड़क, देहली

षष्ठ संस्करण

ऋषि दयानन्द के योगविद्या में शिष्य श्री स्वामी लक्ष्मणानन्द जी कृत "ध्यानयोग-प्रकाश" का प्रस्तुत षष्ठ-संस्करण वैदिक धर्मप्रेमी श्री बा० मोहनलाल जी बागड़िया (कलकत्ता) के अनुरोध पर उनकी स्वर्गीय मातुश्री की स्मृति में संस्थापित 'श्री सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट' (कलकत्ता) की ओर से प्रकाशित किया जा रहा है। कागज और छपाई का व्यय अत्यधिक बढ़ जाने से मूल्य में वृद्धि अनिवार्यरूप से करना पड़ी। आशा है ध्यान-योग में रुचि रखने वाले पाठक इस संस्करण को भी पूर्व की भांति ही अपनावेंगे।

—युधिष्ठिर मीमांसक

षष्ठ बार १००० } भाद्र पूर्णिमा, सं० २०४० / २२ सितम्बर, १९८३ { मूल्य १६-००

॥ ओ३म् ॥

दो शब्द

१९ वीं सदी में सभ्य संसार ने आत्मा का बहिष्कार कर दिया था। बड़े बड़े विद्वान् यह मानने लग गये थे कि ज्ञान का स्रोत केवल इन्द्रियां ही हैं। सब ज्ञान इन्द्रियजन्य ही है। यहां तक कि विचार भी मस्तिष्क के कोष्ठों के व्यापारमात्र हैं। एक लेखक ने लिखा था कि जैसे वृक्ष से गोंद निकलता है, वैसे ही मस्तिष्क से विचारों का निकास होता है।

२० वीं सदी में एकदम नई लहर उठी। अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक 'जेम्स' ने लिखा कि - 'कोई नहीं कह सकता कि इन्द्रियों के अतिरिक्त हमें ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता'। 'मार्कोनी' से किसी ने पूछा कि तुमने किन परीक्षणों से 'बेतार की तार' का पता लगाया है? उसने कहा —"मैंने कोई परीक्षण नहीं किया, यह विचार स्वभावतः मेरे मन में उठे। मैं नहीं कह सकता कि इन विचारों का स्रोत क्या था" ? इसी प्रकार 'आइन्स्टाइन' से, जो संसार का वर्त्तमान सबसे बड़ा गणितज्ञ है, पूछा गया कि तुमने अपनी स्थापनाओं को सिद्ध करने के लिये गणित की किन क्रियाओं का उपयोग किया है ? उसने बताया कि- 'ये विचार मेरे मन में आप ही उठे। कहां से आये ? मैं नहीं जानता'।

L. C. Beekett की इंगलैंड में अभी ही प्रकाशित हुई पुस्तक The world Breath में, जो भौतिकी के सर्वमान्य पण्डित Sir Arthur Eddiughtyas को समर्पित की गई है, लिखा है कि "योग में हिन्दू लोग सहस्रों वर्ष पहले योरोपियन लोगों से बाजी मार ले गये। और अबतक भी जितनी निर्मल बुद्धि हिन्दुओं की है, उतनी और किसी की नहीं"। फिर वे मैत्रेयी उपनिषद् का प्रमाण देकर लिखते हैं कि—'प्राणविद्या ही सब विद्याओं का मूल है। और प्राणा-

याम द्वारा इन्द्रियों को वशीभूत करना ही बुद्धि को निर्मल बनाने और परिमार्जित करने का एकमात्र सर्वोत्तम साधन है'। फिर योगसूत्र ३, ५, १६ का प्रमाण देकर वे लिखते हैं कि—'मनुष्य की बुद्धि के विकास के सर्वोत्तम साधन पतञ्जलि मुनि ने बताये हैं'।

जिस योग की इतनी महिमा संसार भर में प्रसिद्ध है, उस योग की पहिली सीढ़ियों का वर्णन बड़ी सुन्दर रीति से इस प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

"ध्यानयोग-प्रकाश" लिखकर स्वर्गीय स्वामी लक्ष्मणानन्द जी ने आर्य्यसमाज का जो महान् उपकार किया है, उससे वह कभी उऋण नहीं हो सकता। पर खेद है कि आर्य्यसमाज ने अपने ऊपर किए गये उस महान् उपकार को अभी तक पहचाना नहीं है।

इस पुस्तक की शिक्षा को बहिन आचार्या विद्यावती जी ने न केवल अपने ही जीवन में घटाया है, अपितु लोक के भी कल्याणार्थ अपने पूज्य गुरु की इच्छा के अनुसार छपाया है। अब इसका तीसरा संस्करण निकल रहा है। भगवान् आशीर्वाद दें कि श्री आचार्या जी के इस सत्प्रयत्न से आर्य्यसमाज तथा आर्य्यजाति का उद्धार हो और आर्य्यलोग अपने खोए हुए कोष को पुनः प्राप्त करें।

देहरादून —रामदेव
२-९-२८

भूमिका

[तृतीय-संस्करण]

सब सज्जनों को विदित हो कि यह पुस्तक सबसे प्रथम संवत् १९५८ विक्रमी में प्रकाशित हुई थी। उस समय इसकी मांग इतनी रही कि थोड़े ही काल में प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। दूसरे संस्करण को निकालने के लिये श्री १०८ स्वामी लक्ष्मणानन्द जी महाराज कई बार कहा करते थे, परन्तु शीघ्र निकल न सका। फिर भी उनकी प्रेरणा से मैंने उसे लखनऊ से संवत् १९७० विक्रमी में पुनः प्रकाशित कराया। उसमें उक्त स्वामी जी का एक चित्र भी दिया गया, किन्तु और जो नस-नाड़ियों के चित्र वह देना चाहते थे, वह उनके स्वर्गवास हो जाने से न हो सका।

द्वितीय संस्करण एक और व्यक्ति ने भी छाप लिया था, अतः भिन्न-भिन्न दो स्थानों से छप कर यह ग्रन्थ बहुत देर तक बिकता रहा, परन्तु अब बहुत देर से इसके पुनः प्रकाशित करने की मांग थी। स्वर्गवासी श्री गुरु लक्ष्मणानन्दजी की इच्छा यही थी कि इसकी छपाई आदि का प्रबन्ध अच्छे व्यक्तियों के हाथ में रहे, ताकि कोई गड़बड़ न हो सके। अतः उन्होंने इस कार्य को हमारे हाथ में सौंपा था। हम कई वर्षों से इसे छपवाना चाह रहे थे, किन्तु देर होती ही गई। परन्तु हर्ष है कि कई मित्रों के अनुरोध से अब यह तीसरा संस्करण निकल रहा है, यद्यपि यह दूसरे संस्करण के २४ वर्ष बाद निकाला जा रहा है। आशा है कि जनता इसका यथोचित स्वागत करेगी।

भारतवर्ष में यों तो योगविद्या का नाम घर-घर में फैला हुआ है किन्तु इस विद्या की दुर्गति भी इतनी अधिक है कि आजकल यह पता लगाना मुश्किल हो रहा है कि वास्तविक योगविद्या क्या है ?

एक अध्यात्मविद्या ही क्या, सब ही प्रकार के ज्ञान के लोप हो जाने से हमारे देशवासियों को ईश्वर-आज्ञा कर्तव्याकर्तव्य तथा जीवन के सदुपयोग तक का भी कुछ ज्ञान नहीं रहा। बहुतों को तो यहां तक मूढ़ता ने आ घेरा है कि उन्हें ईश्वर के अस्तित्व में ही संशय है, फिर उसकी प्राप्ति का उपाय करना तो दूर ही रहा।

दुःख की बात तो यह है कि अनेक पुरुष और देवियां, जिनकी गणना सुशिक्षितों में है, और जो सभ्य समाज में लब्धप्रतिष्ठ भी हैं, और जो सच्चे आस्तिक कहलाते हैं, वह भी तो इस ध्यानयोग विद्या की प्रतिष्ठा नहीं करते। उनको चटकीले, विषय-वासना-मलीन नावलों, नाटकों और उपन्यासों से ही प्रेम होता है। वह हमेशा समाचारपत्रों में यही देखा करते हैं कि कोई नया नावल निकले और वह मंगावें। किन्तु अध्ययन करने योग्य सुविचारों से भरे हुए ग्रन्थों से तो ऐसे डरते हैं, जैसे कोई विषधर सर्प से डरे। परन्तु इसमें उन बेचारों का भी दोष क्या है ? आजकल की शिक्षा-प्रणाली ही ऐसी दूषित है, कि जो स्त्री-पुरुषों को शिक्षित बनाते हुए भी उन्हें अविद्या के घोर अन्धकार में गिरा देती है, जिसमें पड़कर उन्हें विवेकाविवेक का कुछ भी ध्यान नहीं रहता है। उनकी दशा उपनिषद् के इस वाक्य के बिल्कुल अनुरूप है कि—

"अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
मुण्डक खं० २, मं० ८॥

हम अपनी मातृभाषा, अपनी संस्कृतभाषा का अक्षर भी नहीं जानते, किन्तु गणना हमारी बड़े-बड़े स्कालरों में होती है। हम वेदों शास्त्रों तथा उपनिषदों के नाम भी नहीं जानते, किन्तु "वेद बच्चों की बिलबिलाहट है, उनमें जड़ पदार्थों की पूजा का विधान है, शास्त्रों में बहुत कुछ कपोल-कल्पना है, प्राचीन ऋषि जंगली थे,

उन्हें झोंपड़ों में रहना तथा सब कुछ त्यागकर अपने शरीर को कष्ट देना ही मालूम था। अगर सब लोग ध्यानयोग द्वारा तप ही करने लग जावें, तो सृष्टि के कार्य कौन करे" इत्यादि-इत्यादि भ्रममूलक कल्पनायें करते हुए अपने को सिद्ध गिनते रहते हैं। बहुतेरे जन ऐसे भी हैं, जो कहते रहते हैं कि ध्यानयोग करने से शारीरिक बल घटता है, और मनुष्य गृहस्थाश्रम के कार्य नहीं कर सकता।

इनके अतिरिक्त आजकल के कुछ लोग, जिनको वेदों तथा शास्त्रों में विश्वास है, जो ब्रह्मचर्य के गुणों को भी जानते हैं, और जो ऐसी संस्थाओं को चला रहे हैं जिनमें इस ध्यानयोग की अत्यन्त आवश्यकता है, और जिसके विना वे अपने उद्देश्य में यथावत् सफलता भी नहीं लाभ कर सके हैं, वे भी क्रियात्मक रूप से इस ओर पूर्ण ध्यान देते हुए प्रतीत नहीं होते।

शोक ! शोक !! महाशोक !!! कि जिस ध्यानयोग विद्या का गौरव उपनिषद्, गीता, शास्त्र और वेद सभी करते हैं, जो ईश्वर-प्राप्ति का तथा अन्य सांसारिक और पारमार्थिक सुखों का एकमात्र उपाय है, जिसके लिये स्वयं वेद भगवान् ही कहते हैं कि:-'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। (यजुः ३१। १८), उसी योगविद्या का आजकल इस प्रकार निरादर हो रहा है।

हम संसार में देखते हैं कि प्रायः सभी विद्यार्थियों का शरीर रोगी पाया जाता है। और विद्या समाप्त न होते-होते बहुतेरे विकराल काल के ग्रास हो जाते हैं, या क्षीणशरीर हो जाते हैं। किन्तु इसके बिल्कुल विपरीत हमारे शास्त्र कहते हैं कि जितना ही अधिक विद्याध्ययन किया जाये। उतना ही अधिक बल आरोग्यता और आयु की वृद्धि होती है। यहां तक कि प्राण भी उसके वश में हो जाते हैं, जो ब्रह्मचर्यपूर्वक प्राणायाम करता हुआ विद्याध्ययन करता हो।

यही कारण था कि अक्षराभ्यास के साथ ही प्राचीन गुरुलोग अपने

शिष्य और शिष्याओं को इस विद्या का साक्षात्कार कराते थे। अब तो केवल 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' इत्यादि सूत्र रटा दिये जाते हैं, चाहे कोई समझे या न समझे। किन्तु स्थान प्रयत्न इत्यादि क्या हैं, यह कोई नहीं समझता। इसका साक्षात् ज्ञान तो तभी हो सकता है, जब, कि प्राणविद्या का अध्ययन किया जाये। जैसा कि महर्षि दयानन्द नें अपनी 'वर्णोच्चारण-शिक्षा' में लिखा है कि—

'वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्त्तते।
सवर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते॥

जब इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली प्रचलित थी, और बालकों को शैशव से ही इस विद्या की प्रारम्भिक शिक्षा मिलती थी, तभी यह सम्भव था कि ऐसे उच्चकोटि के सच्चरित्र राजे भी होते थे जिनके विषय में कहा जा सकता था कि—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ (रघुवंश १।८)

आधुनिक समय में जब यह विद्या लुप्तप्राय हो रही है, और इसके सीखनें और सिखानेवाले विरले हैं, फिर यह कैसे सम्भव है कि आजकल बिना इस विद्या का ज्ञान प्राप्त किये शरीर की रक्षा और मलीनता का नाश हो सके। क्या योगसूत्र—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। २।२८॥

और मनु महाराज का यह वाक्य कि—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु० ३।७२॥

कभी मिथ्या हो सकते हैं? लेकिन अभाग्यवश ऐसा घोर समय आया है कि इस योगविद्या के नाम से ही बहुत से लोग अनभिज्ञ हैं। और बहुतेरे तो इससे ऐसे डरते हैं, कहते हैं कि कहीं इसका अभ्यास हमें पागल न बना दे। इस डर का एक बड़ा कारण तो प्राणायामों की कपोल-कल्पना है। इसी भ्रम को दूर करने के हेतु

श्री १०८ स्वामी लक्ष्मणानन्द जी महाराज ने बड़े परिश्रम से महर्षि पतञ्जलि के अनुसार बहुत सरल करके आर्यभाषा में बड़े विस्तार से एक एक बात खोलकर वेदों और शास्त्रों के प्रमाण देकर बताई है, कि जिससे धोखे में पड़कर जो मनुष्य उल्टे मार्ग पर चल पड़ते हैं, वह बचें। लेकिन यह याद रखना चाहिये कि जो लोग यह कह देते हैं कि हम बूढ़े होने पर सब कुछ छोड़कर इसको कर लेंगे, वह भी बड़े भ्रम में पड़े हैं। भला जो सबसे सूक्ष्म विद्या है, और जिसका प्राचीन लोग ब्रह्मचर्य से लेकर संन्यास तक अभ्यास करते थे, उसके विषय में ऐसी बात कहना उसका निरादर नहीं तो और क्या है ?

बहुत से आर्यसमाजी यह जानते हुए भी कि महर्षि दयानन्द जी ने वेदारम्भ के समय जो गायत्रीमन्त्र का उपदेश बतलाया है, उसी समय प्राणायाम की क्रिया का उपदेश भी देना बतलाया है। अगर आवश्यक न समझते, तो क्यों व्यर्थ लिखते ? और पञ्चमहायज्ञ में जो प्रथम यज्ञ सन्ध्योपासन है, उसके आरम्भ में भी पहिले तीन प्राणायाम करकेतब मन स्थिर करके ही सन्ध्या करने का विधान किया है। ऐसा जानते हुए भी हम इस बात को बिल्कुल भूला रहे हैं। और कितने ही गुरुकुलादि खुल जाने पर भी प्राणायामादि योग की क्रियाओं की शिक्षा जैसी होनी चाहिये, वैसी उन में अभी तक दुर्भाग्यवश नहीं है। इसी कारण हम लोगों का ध्यान इस ओर यह लिखकर आकर्षित करना चाहते हैं कि अनिच्छा होते हुए भी सब लोग इस पुस्तक की एक एक प्रति अपने घर में अवश्य रखें, ताकि वह झूठे योगाभ्यासी रूप ठगों से बचे रहें। और जो लोग इस भ्रम में पड़े हुए हैं, यदि वह इस पुस्तक को पढ़ें, तो उनका भ्रम भी दूर हो सके।

इस पुस्तक को इतनी सरल भाषा में लिखकर श्री स्वामी जी ने लोगों का बड़ा ही उपकार किया है। जिनको उनकी संगति का लाभ नहीं मिल सका, और इसलिये जो उनके पवित्र उपदेश से वञ्चित रह गये हैं, तथा जो नवीन युग के युवक और युवतियां हैं, उनको तो

एक बार इसे आद्योपान्त अवश्य पढ़ जाना चाहिये, ताकि उन्हें इस विद्या का दिग्दर्शन तो हो सके। और जो विशेषज्ञ पुरुष हैं, विशेषतया गुरुकुलों के स्नातक और स्नातिकायें, ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियां तथा अन्य ब्रह्मचर्य्य-व्रतधारी जन हैं, वह तो जितना ही इस पर मनन करेंगे, उतनी ही नई-नई विचित्र लाभदायक बातें उन्हें मिलेंगी।

यदि सौभाग्यवश किन्हीं के ऐसे उत्तम सुकर्म हुए कि उनकी रुचि इस ओर इतनी बढ़ी कि, जैसे कि आर्यजगत् में प्रसिद्ध विद्वान् स्नातक श्री आचार्य देवशर्मा जी (=अभयदेव जी) तथा श्री मुनि देवराज जी इत्यादि ने इस क्षेत्र में ऊंचा स्थान प्राप्त करके आर्यसमाज पर जो कलङ्क था उसे बहुत हद तक दूर किया, उन्होंने दत्तचित्त होकर इस ध्यानयोग का अनुष्ठान पुस्तक में लिखी विधि के अनुसार करना प्रारम्भ कर दिया और कुछ थोड़ा भी समझ में आ गया, तो उनके हाथ से यह पुस्तक छूटेगी ही नहीं। क्योंकि—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ यजु० १९। ३०॥

'इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है, तभी सत्य को जानता है। उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं। जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है, तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है। जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तभी सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्मादि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। जब ब्रह्मचर्य आदि सत्यव्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का सत्कार होता दीख पड़ता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है। क्योंकि सत्य के आचरण में जितनी-जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है, उतना-

उतना ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ में सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जावें, जिससे सत्य धर्म की यथावत् प्राप्ति हो'

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० ११३ रालाकट्र सं० १।

ऋषि दयानन्द जी के इस कथन के अनुसार सबको इस ध्यान-योग-विद्या में श्रद्धा रखकर बड़े उत्साह और परिश्रम से इसकी क्रिया का अध्ययन और अभ्यास करना चाहिये। ताकि उनकी आयु विद्या यश और बल की वृद्धि हो। और इन्द्रियदमन द्वारा उनका जीवन सुख और शान्ति से व्यतीत होवे।

परमात्मा दया करे कि यह ज्ञान पुनः हमारे देश में घर-घर फैले। और भारतवर्ष फिर से अपने तपोभवनों में तपस्वियों के सच्चे स्वरूप की, तीर्थों में सच्चे गुरुओं की, गुरुकुलों में सच्चे ब्रह्मचर्य-व्रतधारी आचार्यों की, गृहस्थ में जितेन्द्रिय गृहस्थियों की; और अन्त में राष्ट्र में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना करनेवाले सच्चे संन्यासियों की झांकी दिखाकर सभ्य संसार को मनुष्य जीवन का लाभ समझाने में समर्थ हो सके।

देहरादून
संवत् १९९४

विद्यावती सेठ

प्रकाशक का वक्तव्य

चतुर्थ-संस्करण

आर्यसमाज की सुयोग्य विदुषी, भूतपूर्व आचार्या कन्या गुरुकुल देहरादून, श्रीमती आचार्या विद्यावती (सेठ), जिन्होंने अपना सारा जीवन आर्यसमाज की सेवा, वा स्त्री-जाति के उद्धार में ही अर्पण कर दिया, जो कि एक उत्कृष्ट विचारक महिला हैं, जिनकी आयु इस समय ८४ वर्ष के लगभग है, उक्त आचार्या जी ने जून सन् १९५८ में अपने द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित "ध्यान-योग-प्रकाश" के तृतीय संस्करण की बची हुई प्रतियां, तथा अपनी बनाई, बहुत ही उत्तम, वैदिकधर्म की उत्कृष्ट शिक्षाओं से पूर्ण, कन्याओं में सात्त्विक एवं प्राचीन आर्य वैदिक संस्कृति में श्रद्धा रुचि उत्पन्न करानेवाली, अपनी पुस्तक "आर्ष पाठावली" स्वयं ही 'श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट' को प्रदान की। इन दोनों के छापने का पूर्ण अधिकार रामलाल कपूर ट्रस्ट को दे दिया, जिसके लिये ट्रस्ट उनका अनुगृहीत है। इतना ही नहीं 'आर्ष पाठावली' के ब्लाक भी उन्होंने ट्रस्ट को दे दिये।

कुछ समय तक तो उन की भेजी "ध्यान-योग-प्रकाश" की बची प्रतियां हम स्वाध्यायप्रेमी सज्जनों को देते रहे। किन्तु बहुत समय से यह योगविषय की प्रामाणिक पुस्तक समाप्त हो चुकी थी, इससे कई सज्जनों को निराश होना पड़ा।

यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी तथा प्रामाणिक है। क्योंकि यह पुस्तक ऋषि दयानन्द के शिष्य (=उनसे साक्षात् योग सीखने-वाले) श्री स्वामी लक्ष्मणानन्द जी सरस्वती की बनाई हुई है। हमें पूरी आशा है कि आर्य जनता पूर्ववत् इस संस्करण से भी पूरा लाभ उठायेगी॥

निवेदक

मन्त्री, रामलाल कपूर ट्रस्ट

गुरु बाजार, अमृतसर (पंजाब)

पञ्चम-संस्करण

इस ग्रन्थ के तीन संस्करण स्वर्गीया माता श्री विद्यावतीजी सेठ (देहरादून) ने प्रकाशित किये थे। अगले संस्करणों को छापने का अधिकार रामलाल कपूर ट्रस्ट को देते हुए आपने तृतीय संस्करण की अवशिष्ट प्रतियां भी ट्रस्ट को दे दी थीं (द्र०—चतुर्थ संस्क० प्रकाशकीय वक्तव्य)। चतुर्थ संस्करण विक्रम संवत् २०२० में छपा था। उसे समाप्त हुए कई वर्ष हो चुके। श्री माननीया माता विद्यावती जी सेठ, तथा श्री माननीया माता ओमवती जी शास्त्री ने इसके पुनः संस्करण का कई बार आग्रह किया, परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण ट्रस्ट चाहते हुए भी इसका नया संस्करण न छाप सका। इस बीच श्री माता विद्यावतीजी सेठ का स्वर्गवास हो गया। इधर मंहगाई के कारण आर्थिक कठिनाइयां उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही हैं। ऐसी अवस्था में यदि आर्यसमाज शताब्दी समारोह के अवसर पर भी इस श्रेष्ठतम पुस्तक का प्रकाशन न हो, तो भविष्य में तो सर्वथा कठिन हो जायेगा। यह सोचकर अन्य पुस्तक के लिये खरीदे गये कागज पर ही इसे छापकर हम योगविद्या में रुचि रखनेवाले महानुभावों के करकमलों में इसे उपस्थित कर रहे हैं।

इस बार ग्रन्थ का आकार बदल दिया है। पूर्व मुद्रण की भूलों को ठीक कर दिया है। और इस ग्रन्थ में जहां-जहां ऋषि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, आर्याभिविनय और ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के उद्धरण दिये गये हैं, वहां रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा मुद्रित संस्करणों की पृष्ठ-संख्या दे दी गई है।

योगिराज श्री स्वामी लक्ष्मणानन्द जी महाराज ने योगविद्या का क्रियात्मक ज्ञान ऋषि दयानन्द से प्राप्त किया था (द्र०—उनका स्वलिखित जीवन वृत्तान्त)। इतना ही नहीं, आपने योगविद्या के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसका अधिकांश भाग ऋषि दयानन्द के

सत्यार्थप्रकाश ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और वेदभाष्य पर ही आधृत है। अतः आर्यजगत् के लिये योगशास्त्रीय विषय को जानने के लिये इस ग्रन्थ से-बढ़कर अन्य कोई ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हो सकता, यह स्पष्ट है।

योगविद्या परम गहन एवं निरन्तर अभ्यास-साध्य है। विना गुरु के इसमें पूर्णता प्राप्त नहीं की जा सकती। परन्तु श्री स्वामी जी महाराज ने इस विद्या के रहस्यों और क्रियाओं का वर्णन इतना सरल शब्दों में कर दिया है कि साधारण जन भी इस ग्रन्थ से लाभ उठा सकते हैं, और योगमार्ग में प्रवेश प्राप्त कर सकते हैं।

आज देश-विदेश में सर्वत्र योग के नाम पर ठगी चल रही है। नित नये योगिराज उत्पन्न हो रहे हैं। जनता को अपने आडम्बर से भ्रान्त करके अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। आर्यसमाज में भी कतिपय व्यक्ति इसी ढंग के उत्पन्न हो गये हैं। ये लोग बिना योग-शास्त्र-निर्दशित आठ अङ्गों का अभ्यास कराये ही सीधा समाधि लगवाने का दम्भ करते हैं। ऐसे लोगों से बचने, अपने स्वास्थ्य वा धन की रक्षा करने, और योगशास्त्रोपदिष्ट सरल मार्ग को जानने के लिये इस ग्रन्थ से बढ़कर और कोई अवलम्बन नहीं है।

आशा है योगविद्या-प्रेमी महानुभाव इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करके अपना आत्म-कल्याण करने में अवश्य सफल होंगे यही विचार कर हम इसका यह संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं।

चैत्र शुक्ला १, वि०सं० २०३२
(आर्यसमाज स्थापना शताब्दी)

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

लेखक का स्वलिखित वृत्तान्त

मैं इस ग्रन्थ के साथ कुछ अपना वृत्तान्त वर्णन करना चाहता हूं, जिससे ज्ञात हो जायेगा कि वर्त्तमान समय में सच्चे मार्ग के अन्वेषण और प्राप्त करने के निमित्त क्या-क्या दुःख उठाने पड़ते हैं, कैसी-कैसी आपत्तियों से बचना किस प्रकार दुस्तर होता है। अर्थात् धनक्षय, आयुक्षय, वृथा कालक्षय, अपकीर्त्ति, अनादर, लोकापवाद, स्वजनबन्धुतिरस्कार आदि हानियां सहन करने पर भी यदि किसी को साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण क्रियासहित यथार्थ योगविद्या का विद्वान् मिल जाये, तो अहोभाग्य जानो। इतने पर भी ईश्वर का अत्यन्त अनुग्रह, तथा उस पुरुष को अपना बड़ा ही सौभाग्य समझना चाहिये कि जिसको ऐसे दारुण समय में कोई विद्वान् उपदेश देने को सन्नद्ध भी हो जाये। क्योंकि प्रथम तो सत्ययोग के जानने वा उपदेश करने वाले आप्त विद्वान् आजकल सर्वत्र प्राप्त नहीं होते। दूसरे योग के सीखने की श्रद्धा वा उत्कण्ठावाले भी बहुत कम लोग होते हैं। तीसरे जिज्ञासुओं को विश्वास होना भी इस समय कठिन इसलिये है कि इतस्ततः भ्रमण करते हुए योगदम्भक जन योग की शिक्षा देने के स्थान में जिज्ञासुओं तथा उनके कुटुम्बियों को अधिक दुःख में फंसा देते हैं[1]। चौथे योग का कोई अधिकारी जिज्ञासु भी मिलना दुर्लभ है। मैंने भी पूर्वोक्त विविध आपत्तियां झेली हैं। अतः मुझको अत्यन्त आवश्यक और उचित है कि लोगों को अच्छे प्रकार कान खोलकर सावधान कर दूं।

मेरा जन्म संवत् १८८७ विक्रमी में पंजाब देशान्तर्गत अमृतसर नगरनिवासी एक क्षत्रिय कुल में हुआ था। मेरे पिता का देहान्त तो तब ही हो गया था, जब मैं केवल दो ही वर्ष का था। मेरी विधवा माता ने जिस कठिनाई से मेरा पालन-पोषण करके मुझे बड़ा किया, उसका

१. वर्त्तमान में यह स्थिति और भी भयङ्कर हो गई है। योग के नाम पर भोली-भाली जनता को ठगने वाले योगी नामधारी व्यक्ति अपनी-अपनी दुकानें लगाये बैठे हैं। सम्पा०।

सब लोग अनुमान कर सकते हैं। घर में माता सब प्रकार लाड-चाव रक्षा वा ताड़ना तथा शासनादि प्रबन्ध भारत देश की स्त्रियों की योग्यतानुसार रखती ही थी, परन्तु घर से बाहर जाने पर वहां पिता के समान हित वा आतङ्क करनेवाला कोई न था। यदि इस प्रकार का हित चाहनेवाला कोई होता, तो कदाचित् मेरा अहित होना सम्भव था। चौदह वर्ष की अवस्था से मैं साधु,संन्यासी,योगी,यति आदि जनों में आने-जाने लगा था। धीरे-धीरे उस सत्संग का व्यसन पड़ गया, और मेरा अधिक समय इसी प्रकार के लोगों के साथ व्यतीत होता रहा।

माता मेरी इस बात से कुछ अप्रसन्न-सी रहती थी। और जब मैं घर आता था, तब मुझको इन बाबा जी आदि लोगों में आने-जाने से वर्जती रहती थी। क्योंकि मेरा पिता कूंडा-पन्थियों से योग सीखने के नाम से प्रसिद्ध था,कि जिसमें उसने अपना प्रचुरतर धन भी गंवाया था, और मेरी माता इस बात से कुढ़ा करती थी।

मैं जब कुछ अधिक बड़ा हुआ,तो ईश्वर की कृपा से आजीविका का योग भला चंगा हो गया, और माता भी अब अप्रसन्न नहीं रहने लगी, क्योंकि धनागम आवश्यकता से अधिक था। दूसरे मां को यह भी पूर्ण विश्वास था कि मैं दुर्व्यसनी पुरुषों के संग में कहीं नहीं जाता वा रहता था। तथापि संन्यासी हो जाने का मेरी ओर से उस को भय भी रहता था। परन्तु मैंने अच्छे प्रकार आश्वासन दे दिया था कि जब तक माता जी ! आप जीवित हैं, तब तक ऐसा विचार मेरा सर्वथा असम्भव जानो। अन्य सब प्रकार की उसकी सेवा-शुश्रूषा मैं करता ही रहता था, और वह भी मेरे इस स्वभाव से सुख मानती थी, और मेरा विवाह कर देने के उपाय में रहती थी।

मेरा प्रारब्ध वा सौभाग्य, वा परमेश्वर की कृपा, वा विरागियों का संग, वा पूर्वजन्म के संस्कार, कुछ भी समझ लो, ज्यों-ज्यों मेरी माता अपने विचार को दृढ़ करके विवाह का प्रयत्न करती जाती थी, त्यों-त्यों उत्तरोत्तर मेरा विचार गृहस्थाश्रम धारण करने से हटता जाता था। परिणाम में मैंने विवाह नहीं होने दिया, क्योंकि

परमात्मा जब सहायक होता है, तो अच्छे ही बानक बना देता है। इस प्रकार अनेक मतमतान्तर-वादियों, तथा पन्थ-प्रचारकों से वार्त्तालाप तर्कविवाद,और अनेक दम्भी पाखण्डीजनों से मेल-मिलाप करते-करते, अनेक विपत्तियां सहते-सहते अब मैं २६ छब्बीस वर्ष का होने आया। बहुत धन. इतने समय में खोया, भांति-भांति के मनुष्यों से मिलते रहने और सबके ढंग देखते रहने से मैं अब पक्का भी हो गयाथा,और एकाएकी किसी की बात में नहीं आने पाता था। मैं वाचाल भी अधिक था, अतएव असत्पथानुयायी मिथ्यावेषधारी नाममात्र के साधुओं की पोल भी खोलता रहता था। उनकी बात मेरे सामने नहीं चलने पाती थी, इसलिये वे लोग मुझ से घबराया करते थे।

प्रतिमा-पूजन, तीर्थ-यात्रा, एकादश्यादि-व्रत आदि बातों में मुझको प्रथम ही से विश्वास नहीं रहा था। इस कारण नास्तिक नाम से मैं प्रसिद्ध हो गया था। यद्यपि साधु, संन्यासी, वैरागी कहानेवाले लोगों के खानपान सम्मान में धनव्यय करने में, ग्रीष्म की तीव्र घाम, हेमन्त और शिशिर की शीत, वर्षा का वृष्टिजल, हिम, उपल (=ओले), वायुवेगोत्पन्न आंधी, झक्कड़ आदि सब अपने शिर पर झेले। तमोभूत अन्धकारमय अर्धरात्रि आदि भयंकर कुसमयादिमें उनके पास दूर-दूर निर्जन वन=जङ्गल आदि में भूख, प्यास, शीतोष्ण, मानापमान आदि अनेक द्वन्द्वरूप संकट सहन करके उनका सत्संग करने में भी कभी आलस्य न किया। क्योंकि ऐसे जनों से मिलने की श्रद्धा इतनी थी कि मिले बिना रहा नहीं जाता था। मानो यही मेरा स्वाभाविक व्यसन हो गया था। क्योंकि यह निश्चय भी मन में था कि परमात्मा जब कृपाकटाक्ष मेरी ओर करेंगे, तब इन कष्टों के उठाने के फल में किसी अच्छे साधु योगीजन से भेंट अवश्य होगी।

योगमार्ग की चर्चा भी बहुधा रहा करती थी। और जिस प्रकार के योग के ढकोसलों का सम्प्रति जगत् में प्रचार है, उनको सच्चा

योगमार्ग जानकर बहुत प्रकार की हठयोग-क्रियाओं का भी साधन किया, परन्तु मन को वश में करने का कोई न पाया।

कूंडापन्थ एक वाममार्ग की शाखा है। ये लोग योगी प्रसिद्ध हैं। गुप्त गुफा में इनकी कार्यवाही हुआ करती है। और वाममार्गियों के समान मांसादि पदार्थों के विचित्र गुप्त नाम इन लोगों ने भी रख छोड़े हैं। यथा— मदिरा को तीर्थ, मांस को ऋद्धि, हुक्के को मुरली, भंग को अमीरस आदि। जो लोग इनसे पृथक् मार्ग के होते हैं, उनको ये भी कण्टक कहते हैं। इनमें से कुछ मनुष्यों ने यह कह कर मेरा पीछा किया कि "तुम्हारे पिता ने भी हम लोगों से योग सीखा था और वह योगी था, वही योग हम तुमको भी सिखावेंगे।" ऐसा विश्वास दिलाते थे। और आग्रह करके मुझको गुप्त स्थान में ले जाकर कहने लगे कि—"योगी बनने से पूर्व कान फड़वाने पड़ेंगे।" उनकी यह बात सुनकर मैंने जब कुछ प्रश्नोत्तर किये, तो बोले—'कान फाड़े नहीं जायेंगे, केवल कहने मात्र को पकड़कर खींचे जायेंगे'। और आटे की मुद्रा बनाकर मेरे कानों में बांध दीं, और कहा कि—'तुम इनको कढ़ाई में तल कर खा लेना, और यहां का हाल किसी से न कहना'। परन्तु मैंने बाहर आकर उनकी समस्त व्यवस्था प्रकाशित कर दी।

कूंडापन्थियों के विषय में इतना वर्णन सूक्ष्मता से इसलिये कर दिया है कि लोगों को स्पष्ट ज्ञात हो जाय कि इन लोगों में योग का कोई लक्षण नहीं घटता। किन्तु वाममार्गियों का सा दुष्टाचार, अनाचार, अत्याचार, व्यभिचार इनमें प्रचलित है। इन लोगों में कुछ भी भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं है, किन्तु मांस-मदिरा का अधिक प्रचार है।

रोशनी देखने, शब्द सुनने वालों का भी संग मैंने किया। नेती धोती, वस्ति आदि षट्कर्म का भी अभ्यास किया। दातौन भी सटका

करता था, परन्तु इन में से किसी क्रिया में चित्त के प्रशान्त वा एकाग्र स्थिर होने का कोई उपाय न मिला। मैं सदा दत्तचित होकर शुद्धान्तःकरण तथा सत्यसंकल्पपूर्वक अपने कल्याण के हेतु ईश्वर से यही प्रार्थना किया करता था कि—'हे परमात्मन् ! किसी सत्यवादी उपदेशक से मेरा संयोग कृपया करा दीजिये, तो मेरा कल्याण हो'। सर्वान्तिर्यामी परमेश्वर ने मेरी टेर सुनी, और अनुग्रहपूर्वक। जबकि मैं २७ वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुआ, तब तीन साधु अकस्मात् मुझे दीख पड़े। मैंने अपने स्वाभाविक नियमपूर्वक खानपानादि से उनका सम्मान करना चाहा, परन्तु उन्होंने यह कहकर इनकार कर दिया कि क्षुधा नहीं है। फिर मैंने आग्रहपूर्वक कहा कि और कुछ नहीं तो थोड़ा-थोड़ा दूध ही ग्रहण कीजिये। मेरे बहुत कहने पर दुग्ध-पान करना स्वीकृत किया।

पश्चात् जब उनको हलवाई की दुकान पर दुग्ध पान करा मैंने योग-विषयक चर्चा छेड़ी, तो वार्त्तालाप से जान गया कि उन में एक साधु इस विषय को समझता है, तो मैंने अपना अभिलाष उससे उपदेश ग्रहण करने का किया। मेरी तीव्र उत्कण्ठा जानकर वह साधु बोला कि जो कुछ मैंने अब तक जाना है,उसके बता देने में मुझे कुछ भी दुराव नहीं है। यह कहकर एक स्थान पर जाकर मुझको मन के ठहराने की क्रिया बतलाई। और कहा कि नित्य नियम से प्रातःकाल निरालस्य निरन्तर अभ्यास किया करो।

इस विधि के करने से मुझको कुछ काल उपरान्त बड़े परिश्रम से मन कुछ एकाग्र होता जान पड़ा। तब उस क्रिया में श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न हुआ। फिर क्रमशः उत्तरोत्तर चित्त की स्वस्थता की वृद्धि होने लगी, और कुछ अकथनीय आनन्द भी प्राप्त हुआ। चिरकाल इस प्रकार व्यतीत होने पर वह साधु फिर मिला: और उससे आगे की विधि मैंने जब पूछी, तो उत्तर यह मिला कि एक बाबा जी

वहां कभी-कभी आते रहते हैं। अधिक और कुछ जानना चाहो तो उनसे पूछना। तुम्हारा मेल उनसे करा दूंगा।

दैवयोग से दो ही मास के अन्तर्गत वे बाबा जी पधारे। मेरा सब वृत्त पूर्वोक्त साधु ने उनसे कह सुनाया। और बाबाजी ने तब से मेरे ऊपर प्रेमभाव का बर्त्ताव रक्खा। और जो कुछ उन्होंने जब कभी उपदेश किया, उस विधि से मैं अभ्यास करता रहता था,और बाबाजी कदाकाल अर्थात् बहुत कम वहां आते थे। जब कभी वे महात्मा वहां कुछ दिनों निवास करते थे, मैं यथाशक्ति उनकी सेवा-शुश्रूषा भी भक्ति से करता था। उनकी टहल के नियत समयों पर चूकता न था, बरन् दिन का अधिक भाग उनके पास ही व्यतीत करता था। अति-परिचय होने के कारण वे मेरे शील स्वभाव आचरण भक्ति आदि से अधिक प्रसन्न हुए, और अधिक प्रेम से योग की युक्तियां बताया करते थे।

अतएव बीस बाईस वर्ष के समय में मैंने तीन प्राणायामों की सम्पूर्ण क्रिया सीखकर पूर्णता से परिपक्व अभ्यास कर लिया। और बाबाजी के सत्सङ्ग से योग-विषय की और भी अनेक बातें सीखीं, जो गुरुलक्ष्य विषय बिना सत्सङ्ग किये पुस्तकों से कभी किसी को नहीं प्राप्त हो सकतीं, और केवल अभ्यास अनुभव तथा श्रवण मनन निदिध्यासन से ही जानी जाती हैं। तदनन्तर बाबाजी का स्वर्गवास हो जाने के कारण आगे कुछ उनसे न सीख सका।

बाबाजी का अन्त समय जब अतिसन्निहित जान पड़ा, तब मैंने शोकयुक्त अश्रुपातसहित विह्वल होकर यह दीनता का वचन कहा कि—"महाराज! मैं आपसे बहुत कुछ अधिक सीखने की अभिलाषा रखता था, सो मेरी आशा पूर्ण होती नहीं जान पड़ती।" बाबाजी ने मेरा आश्वासन करके आशीर्वाद की रीति से कहा

कि—"बच्चा! तेरा मनोरथ सिद्ध होगा।" यह कहकर थोड़ी देर में उन्होंने यमालय की राह ली।

सत्यवादी महात्माओं की वार्त्ता सत्य ही होती है। उनका आशीर्वचन मुझको फलीभूत हुआ। अर्थात् उनके देवलोक हो जाने के दो वर्ष पश्चात् श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज अमृतसर पधारे, और मेरी मनोकामना पूर्ण हुई। चतुर्थ प्राणा-कि जिसकी व्यवस्था किसी से नहीं लगती थी, स्वामी जी ने बात की बात में अतिसुगमता से मुझे बता दी, और मैंने शीघ्र ही उसका भी अभ्यास परिपक्व कर लिया। तदनन्तर स्वामी जी महाराज अमृतसर आते रहा करते थे। उन अवसरों में समाधियों की अनेक क्रिया तथा योगविषयक अन्य उपयोगी बातें स्वामी जी ने बहुत सी सिखलाईं। परन्तु मुझ से भेंट होने के पश्चात् अधिक से अधिक चार वर्ष ही हुए होंगे कि स्वामी जी ने भी इस असार संसार को तज दिया।

मेरे मन में बहुत दिनों से संन्यासाश्रम ग्रहण करने की इच्छा थी, सो उसका अवसर भी अब इस समय निकट आ गया। अर्थात् अपनी वृद्धा माता को निरालम्ब बिलखती हुई छोड़कर संन्यास लेना मुझको अङ्गीकार न था। किन्तु जब अचिरात् उसने भी अपना जीवन समाप्त करके मुझको स्वतन्त्र किया, उस समय अमृतसर में आर्यसमाज नवीन ही स्थापित हुआ था। और स्वामी जी के सिद्धान्त और मन्तव्य मेरे मन में अच्छे प्रकार बस गये थे। नई वार्त्ताओं में उत्साह भी मनुष्यों को अधिक हुआ करता है। और स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत 'संस्कारविधि' सम्पादित संस्कार अभी अच्छे प्रकार प्रचलित नहीं हुए थे, और मुझे अपनी माता का संस्कार विधिपूर्वक करने की उत्कण्ठा भी थी, अतः यह अमृतसर में प्रथम ही मृतक संस्कार था कि जो यथायोग्य विधिवत् धूमधाम के साथ किया गया।

मेरी माता के इस मृतक संस्कार में जो सुगन्धित पदार्थ होमने से सुगन्धि वायुमण्डल में फैली, और वहां पर वेद-मन्त्रों की ध्वनि से जो वेदी में हवन हुआ, उसको देखकर लोग बड़े चकित और विस्मित हुए। यत्र-तत्र आश्चर्य के साथ आर्यसमाज के संस्कारों की चर्चा होने लगी, और समाज का गौरव और प्रशंसा भी लोग करने लगे। माता के दाहकर्म से उऋण, निश्चिन्त और स्वतन्त्र होकर शीघ्र अमृतसर के समाज में ही मैंने संन्यासाश्रम भी उक्त संस्कारविधि-सम्पादित विधि से ग्रहण किया। इस प्रकार संन्यासाश्रम धारण करने का मेरा संस्कार भो उस समाज में प्रथम ही हुआ।

उस वार्त्ता को अब १५ वर्ष से अधिक समय हुआ, और तब से मैं इतस्ततः इस वेष में भ्रमण करता हूं। संन्यास धारण करने के पश्चात् दो वर्ष पर्यन्त मैं एकान्त में ध्यानावस्थित होकर निरन्तर योगाभ्यास करता रहा। इस अवधि के बीतने पर मेरा मनोरथ पूर्णतया सिद्ध हुआ। और जैसा आनन्द इन दो वर्षों में मुझ को प्राप्त हुआ, वैसा इससे पूर्व कभी नहीं मिला था। अतः मेरी पूर्ण सन्तुष्टि भी हुई। ईश्वर-कृपा से मुझको उपदेश करने की योग्यता भी प्राप्त हुई। तब ही से इस योगमार्ग का उपदेश करना अङ्गीकार किया है। अब मैं वृद्ध अर्थात् ७१ वर्ष की अवस्था को प्राप्त हो चुका हूं। अतः अधिक भ्रमण करने का कष्ट सहन नहीं होता। अतएव एकत्र स्थायी होकर निवास करने का विचार मैंने अब किया है। यह जो अपना वृत्तान्त सूक्ष्मता से मुख्य-मुख्य वार्त्ताओं से सुगुम्फित मैंने वर्णन किया है, इससे सब को भली-भांति प्रकाशित होगा कि अनेक अनेक कठिनाई, परिश्रम, प्रयत्न, उद्यम; कष्ट सहन करने पर भी इस योग-विषय का पता वर्त्तमान में दुष्प्राप्य है। इस ही देश में किसी समय नित्यकर्म के समान इसका अभ्यास किया जाता था। उक्त प्रकार की कठिनता को दूर करके

पुनः इस सत्य ब्रह्मविद्या के प्रचलित करने के अभिप्राय से, तथा परोपकाररूप बुद्धि से मैंने इस पुस्तक का बनाना स्वीकार किया है।

जो-जो कुछ मैंने अपने पूर्वोक्त दो सद्गुरुओं श्रीयुत बाबाजी तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती जी से सीखा है, वह-वह सब याथातथ्य इस पुस्तक में प्रकाशित किया है। वे सब क्रियायें मैंने अपने अभ्यासरूप पुरुषार्थ द्वारा सिद्ध की हैं, उनको सर्वथा सच्ची जानता और मानता हूं, और योग्य जिज्ञासु को सिखा भी सकता हूं। अतएव जो कोई इस पुस्तक के अनुसार मुझ से निष्कपट होकर जब कभी सीखना चाहेगा, उसको मैं भी निष्कपट होकर बताने में किंचित् दुराव न करूंगा। और जो कुछ जितना-जितना सिखलाऊंगा, उसको प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध कराकर पूर्ण विश्वास भी करा दूंगा॥

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वरसज्जनेषु॥

———:o:———

विषय-सूची

परिशिष्ट

———:०:———

ध्यान-योग-प्रकाशः

विशेष-निर्देश

इस ग्रन्थ में जहां-कहीं भी ऋषि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, सत्यार्थ-प्रकाश और आर्याभिविनय का उल्लेख पृष्ठ-संख्या सहित किया है, वहां सर्वत्र रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित निम्न संस्करणों की पृष्ठ-संख्या जानें।

१—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका — १८×२३ चार पृष्ठ के आकार में संवत् २०२४ का संस्करण।

२—सत्यार्थ-प्रकाश — १८×२३ आठ पृष्ठ के आकार में संवत् २०२९ में छपा आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण।

३—आर्याभिविनय — १८×२३ आठ पृष्ठ के आकार में छपे "दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह" के अन्तर्गत छपा संस्करण।

ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रथम, तथा सत्यार्थप्रकाश के तृतीय संस्करण की पृष्ठ-संख्या दी थी। इन संस्करणों के अनुपलब्ध होने से ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित उपलब्ध संस्करणों की पृष्ठ-संख्या दे दी गई है।

—सम्पादक

॥ ओ३म् ॥

तत्सत्परब्रह्मणे परमात्मने सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

अथ

ध्यान-योग-प्रकाशः

तत्र ज्ञानयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः

आदौ प्रार्थना

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥१॥ यजु० अध्याय ३० । मन्त्र ३ ॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ[1]—हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे परमकारुणिक ! हे अनन्तविद्य परब्रह्म परमात्मन् !

देव—आप विद्याविज्ञानार्कप्रकाशक तथा सकल जगद्विद्याद्योतक और सर्वानन्दप्रद हैं। तथा—

सवितः—हे जगत्पिता ! आप सूर्यादि अखिल सृष्टि के कर्त्ता सर्वैश्वर्यसम्पन्न सर्वशक्तिमान् और चराचर जगत् के आत्मा हैं। इस कारण हम सब लोग श्रद्धा भक्ति प्रेम आदि अपनी सम्पूर्ण माङ्गलिक सामग्री से सविनय अर्थात् अत्यन्त आधीनतापूर्वक

---

१. वेदोक्त प्रमाणों में सर्वत्र श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत वेदभाष्य का ही आश्रय लिया गया है।—लेखक

अभिमानादि दुष्ट गुणों को त्यागकर शुद्ध आत्मा और अन्तःकरण से बारम्बार यही प्रार्थना आपसे करते हैं—कि हमारे

विश्वानि दुरितानि—सम्पूर्ण दुःखों और दुष्ट गुणों को

परासुव—कृपया नष्ट कर दीजिये। और हमारा

यद्भद्रम्[1]—कल्याण, जो सब दुःखों दुर्गुणों और दुर्व्यसनों से रहित तथा अभीष्ट पूर्णानन्दादि भोगों और शुभ गुणों से युक्त है,

तन्न आसुव—वह हमको सब प्रकार सत्र ओर से और सर्वदा के लिये सम्प्रदान करके हमारी सम्पूर्ण आशा फलित और हम लोगों को कृतार्थ कीजिये।

और मुझ अल्पज्ञ को इस ग्रन्थ के निर्माण करने की योग्यता से युक्त कीजिये। और (शान्तिः शान्तिः शान्तिः) त्रिविध संतापों से पृथक् रखिये कि निर्विघ्न यह ग्रन्थ समाप्त होकर मुमुक्षु जनों का हितकारी हो॥

ब्रह्माऽनन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतम्,
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी।
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा,
तन्नत्वा निगमार्थध्यानविधिना योगस्तु तन्तन्यते॥२॥[2]

अर्थ—जिस परमात्मा की वेदनामिका निर्मल विद्या परमार्थ अर्थात् स्वरूप से सनातनी, निश्चय करके जगत् को हितकारिणी,

---

१. (भद्रम्) मोक्ष-सुख तथा व्यवहार-सुख दोनों से परिपूरित सर्व कल्याणमय जो सुख है, उसको 'भद्र' कहते हैं। अर्थात् एक तो—सांसारिक सुख, जो सत्य-विद्या की प्राप्ति से अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्त्ति राज्य, इष्ट मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर से अति उत्तम सुख का प्राप्त होना। दूसरा—त्रिविध दुःख से अत्यन्त निवृत्ति होकर निःश्रेयस और सच्चा सुख=मोक्ष का प्राप्त होना। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ४)

२. ग्रन्थकार ने स्वयोगविद्या के गुरु श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के प्रथम श्लोक के चतुर्थ चरण में स्वग्रन्थोपयोगी ऊहा करके लिखा है।

मनुष्यों को सम्पूर्ण ऐश्वर्य-भोगों से युक्त सौभाग्य-सम्पत्तिदायिनी, तथा सकलवैधर्म्यजन्य वेदविरुद्ध मतमतान्तरों को विध्वंस करनेवाली है, उस अनन्त अनादि सृष्टिकर्त्ता अजन्मा सत्यस्वरूप और सनातन परब्रह्म को अत्यन्त प्रेम और भक्तिभाव से विनयपूर्वक अभिवादन करके, निगम जो वेद उसका सारभूत तत्त्व अर्थ जो परमात्मा उसकी प्राप्ति करानेवाली, और ध्यानरूपी सरलविधि से सिद्ध होनेवाली जो योगविद्या है, उसका मैं वर्णन करता हूं। अतएव आप मेरे सहायक हूजिये ॥

सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽनन्तो यो न्यायकृच्छुचिः।
भूयात्तमां सहायो नो दयालुः सर्वशक्तिमान् ॥३॥

आर्याभिविनय[1] ॥

अर्थ – हे सबके अन्तर्यामी आत्मा परमात्मन् ! आप सत् चित् और आनन्दस्वरूप हैं। तथा अनन्त न्यायकारी निर्मल (=सदा पवित्र) दयालु और सर्वसामर्थ्ययुक्त हैं। इत्यादि अनन्त गुण विशेषण विशिष्ट जो आप हैं, सो मेरे सर्वथा सहायक हूजिये। जिससे कि मैं इस पुस्तक के बनाने में निमित्त समर्थ हो जाऊं ॥

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्यमा। शन्नः इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम् ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥४॥

इति तैत्तिरीयोपनिषदि शिक्षाध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—ओ३म्—हे सर्वरक्षक, सर्वाधार, निराकार परमेश्वर !

नः मित्रः शम्—ब्रह्मविद्या के पढ़ने-पढ़ाने, सीखने-सिखानेहारे गुरु-शिष्यों, स्त्री-पुरुषों, पिता-पुत्रों आदि सम्बन्धवाले हम दोनों के धर्म अर्थ काम और मोक्षसम्बन्धी सुखों की प्राप्ति के लिये, सबके सुहृत् आप तथा हमारा प्राणवायु आपके अनुग्रह से कल्याणकारी हो।

१. यह ऋ. द. कृत आर्याभिविनय की उपक्रमणिका का प्रथम श्लोक है।

वरुणः शम्—हे स्वीकरणीय वरिष्ठेश्वर ! आप तथा हमारा अपान वायु सुखकारक हों।

अर्यमा नः शम् भवतु—हे न्यायकारी यमराज परमात्मन् ! आप तथा हमारा चक्षु इन्द्रिय हमारे लिये सुखप्रद हों।

इन्द्रः नः शम्—हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न ईश्वर ! आप तथा हमारी दोनों भुजायें हमारे सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के सुखों अर्थात् समग्रैश्वर्य-भोगों की प्राप्ति के निमित्त सुखकारी सकलैश्वर्य-दायक और सर्वबलदायक हों।

बृहस्पतिः [नः शम्] हे सर्वाधिष्ठाता विद्यासागर बृहस्पते ! आप तथा सद्विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मविद् आप्त जन ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये हमको विद्याविज्ञानप्रद हों।

विष्णुः उरुक्रमः नः शम्—हे सर्वव्यापक और महापराक्रमयुक्त परमेश्वर ! हमको आप अपनी दया करके योगसिद्धिरूप बल वीर्य और पराक्रम प्रदान कीजिये। कि जिस बल के द्वारा मोक्षसुख प्राप्त करके हम दोनों आपकी व्याप्ति में सर्वत्र अव्याहतगतिपूर्वक स्वेच्छानुसार आपके ही निष्केवल आधार में रमण और भ्रमण करते हुए अमृतसुख को भोगते रहें।

नमो ब्रह्मणे—हे सर्वोपरि विराजमान सर्वाधिपते परब्रह्मन् ! आपको हमारा नमस्कार प्राप्त हो।

नमस्ते वायो—हे अन्तवीर्य सर्वशक्तिमन्नीश्वर ! आपको हम सविनय प्रणाम करते हैं। क्योंकि—

त्वम् एव प्रत्यक्षम् ब्रह्म असि—आप ही हमारे पूज्य सेवनीय और अन्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष इष्टदेव और सबसे बड़े हो। इसलिये—

त्वाम् एव प्रत्यक्षम् ब्रह्म वदिष्यामि—मैं समस्त भक्तों जिज्ञासु या मुमुक्षु जनों के लिये अपनी वाणी से यही उपदेश करूंगा कि आप ही पूर्णब्रह्म और उपास्य देव हैं। आप से भिन्न ऐसा अन्य कोई नहीं। इसी बात को मन में धारण करके—

ऋतं वदिष्यामि—मैं वेदादिसत्यशास्त्रों के प्रमाणों से ही इस

ग्रन्थ में विषय को याथातथ्य कहूंगा। और—

सत्यं वदिष्यामि—मन कर्म और वचन से जो कुछ इस ग्रन्थ में कहूंगा, सो सब सत्य ही सत्य कहूंगा।

तत् माम् अवतु - इसलिये मैं सानुनय आपसे प्रार्थना करता हूं कि इस ग्रन्थ की पूर्ति के लिये आप मेरी रक्षा कीजिये।

तत् वक्तारम् अवतु—अब मैं बारम्बार आपसे यही निवेदन करता हूं कि उक्त मुझ सत्यवक्ता की कृपया सर्वथा ही रक्षा कीजिये। जिससे कि आपके आज्ञापालनरूप सत्यकथन में मेरी बुद्धि स्थिर होकर कभी विरुद्ध न हो।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः—अतएव हमारा आपसे अतिशय करके यही विनय है कि हम सब लोगों (=उक्त गुरु-शिष्यादिकों) के तापत्रय नष्ट होकर हमारा कल्याण हो॥

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ५॥ य० अ० ३६। मं० ३॥

अर्थ—[हे मनुष्याः! यथा वयम्] हे मनुष्यो! जैसे हम लोग

भूः—कर्मविद्याम्—कर्मकाण्ड की विद्या (=कर्मयोग) वा यजुर्वेद,

भुवः—उपासनाविद्याम्—उपासनाकाण्ड की विद्या(=उपासना-योग) वा सामवेद,

स्वः—ज्ञानविद्याम्—ज्ञानकाण्ड की विद्या (=ज्ञानयोग) वा ऋग्वेद, और इस त्रयी विद्या का साररूप ब्रह्मविद्या(=विज्ञानयोग) वा अथर्ववेद को

[अधीत्य] संग्रहपूर्वक पढ़के

[तस्य] देवस्य—कमनीयस्य, सवितुः—सकलैश्वर्यप्रदेश्वरस्य, यः नः धियः प्रचोदयात्=प्रेरयेत्—उस कामना करने के योग्य समस्तैश्वर्य के देनेवाले परमेश्वर के, कि जो हमारी धारणावती बुद्धियों को धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये शुभ कर्मों में लगाता है,

तत्—इन्द्रियैरग्राह्यम्=परोक्षम्—उस इन्द्रियों से न ग्रहण करने योग्य परोक्ष=परमगूढ़ और सूक्ष्म,

वरेण्यम्—स्वीकर्त्तव्यम्—स्वीकार करने योग्य, उग्र—

भर्गः—सर्वदुःखप्रणाशकं तेजःस्वरूपम्—और सर्व दुःखों के नाशक तेजःस्वरूप का

धीमहि—ध्यायेम—ध्यान करते हैं।

[तथा यूयमप्येतद्ध्यायत]—वैसे तुम लोग भी इसी का ध्यान किया करो ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कर्म उपासना और ज्ञान-सम्बन्धिनी विद्याओं का सम्यक् ग्रहण करके सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं, तथा अधर्म अनैश्वर्य्य और दुःखरूप मलों को छुड़ाके धर्म ऐश्वर्य और सुखों को प्राप्त होते हैं, उनको अन्तर्यामी जगदीश्वर आप ही धर्म के अनुष्ठान और अधर्म का त्याग कराने को सदैव चाहता है।

अतः हे महाविद्यावाचोऽधिपते बृहस्पते ! आप से मेरी यही प्रार्थना है कि आप अवश्य मेरी बुद्धि को विमल कीजिये, जिससे कि मैं "ध्यान-योग-प्रकाश" नामक इस ग्रन्थ के ग्रन्थनरूप समुद्र का सरलता से उल्लंघन कर सकूं ॥

उत्थानिका

प्राणिमात्र तापत्रय से पृथक् रहकर आनन्द में मग्न रहने की इच्छा रखते हैं, किन्तु अज्ञानवश उस सच्चे सुख को प्राप्त करने का यथोचित उपाय न जानकर अनुचित कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं, इसी कारण दुःख में पड़ते हैं। उक्त मङ्गलमय आनन्द-प्राप्ति का यथोचित उपाय "ध्यान-योग" है, जिसका वर्णन इस पुस्तक में किया जाता है।

सुख सांसारिक और पारमार्थिक भेद से दो प्रकार का है। दोनों ही सुख "ध्यान-योग" से प्राप्त होते हैं। इस ही आशय को मन में धारण करके प्रथम वेद-मन्त्र द्वारा परमेश्वर से यही प्रार्थना की

है कि हे परमकारुणिक परमपिता! आप हमको भद्र नाम दोनों प्रकार के सुखों से परिपूरित कीजिये।

सांसारिक सुख सांसारिक शुभ कर्मों का फल है, और पारमार्थिक सुख परमार्थ-सम्वन्धी कल्याणकारी कर्मों का फल है। सो दोनों ही पुरुषार्थपूर्वक करने से उग्र फलदायक होते हैं।[1]

अथ अनुबन्ध-चतुष्टय-वर्णनम्

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥

(१) विषय, (२) प्रयोजन, (३) अधिकारी, और (४) सम्बन्ध इन चार वस्तुओं का नाम 'अनुबन्ध-चतुष्टय' है। प्रत्येक ग्रन्थ वा कार्य के ये ही चारों प्रधान अवयव होते हैं। अर्थात् इनके विना किसी कार्य का प्रबन्ध ठीक नहीं होता। इनमें से कोईसा एक भी यदि न हो, वा अज्ञात हो, अर्थात् यथार्थरूप में स्पष्टता से न जाना वा समझा गया हो, तो वह ग्रन्थ वा कार्य खण्डितसा जाना जाता वा रहता है। अर्थात् उसका फल व प्रयोजन यथावत् सिद्ध नहीं होता। इसलिये इनका जता देना अतीव आवश्यक हुआ। जैसे कि उपरोक्त श्लोक में कहा है कि—

श्रोता सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं प्रवर्त्तते—सुननेवाला सिद्ध

---

१. जिससे आत्मा शान्त सन्तुष्ट निर्भय तृप्त हर्षित और आनन्दित होकर सुख माने, उसको सुख जानो। और जिससे आत्मा को संकोच भय लज्जा शंका शोक सन्ताप अप्रसन्नता अशान्ति आदि प्राप्त हों, वहां जानो दुःख वा दुःख का हेतु है। अतः विषय-लम्पट, जो विषयानन्द में सुख मानते हैं, वह सच्चा सांसारिक सुख नहीं है, किन्तु सांसारिक व्यवहारों का धर्मयुक्त वर्तमान सांसारिक सुख का हेतु जानो। जिससे आत्मा तृप्त होता है, और परिणाम में शुभ फल प्राप्त होता है।

अर्थ [=मुख्य प्रयोजन] तथा सिद्धसम्बन्ध [=मुख्य सम्बन्ध] को सुनने के लिये प्रवृत्त होता है।

तेन शास्त्रादौ सप्रयोजन:-सम्बन्ध: वक्तव्य:—इसलिये शास्त्र के आदि में प्रयोजनसहित सम्बन्ध को कहना उचित है।

अर्थात् किसी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापन=पढ़ने-पढ़ाने, श्रवण-श्रावण=सुनने-सुनाने, वा तदनुसार आचरण आदि करने के लिये श्रोता आदि मनुष्यों को प्रवृत्ति रुचि वा उत्कण्ठा तब ही यथावत् होती है, जब कि वे अच्छे प्रकार जानलें कि अमुक ग्रन्थ क्या है, उसका विषय क्या है, उस विषय का प्रयोजन वा फल क्या है, तथा उसके अनुसार अपना वर्त्तमान=आचरण रखनेवाला कौन और कैसा होना चाहिये, और उसका सम्बन्ध क्या है ? इन चारों बातों का भलीभांति बोध हुए विना वह शास्त्र रुचिकारक नहीं होता। इस हेतु से प्रथम 'अनुबन्ध-चतुष्टय' का वर्णन कर देना आवश्यक जाना गया। सो क्रमश: कहा जाता है। **अनुबन्ध चार हैं**—विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध।

(१) **विषय**—सम्पूर्ण वेदादिशास्त्रों के अनुकूल जो "ध्यान-योग-प्रकाश" नामक यह आत्मविद्या (=ब्रह्मविद्या वा योगविद्या) का बोध करानेवाला ग्रन्थ है, इस करके प्रतिपादित (प्रतिपाद्य) जो परब्रह्म, उस परब्रह्म की जो प्राप्ति, सो ही इस ग्रन्थ का विषय है। अर्थात् इस ग्रन्थ के आश्रय से प्रथम अपने आपे का नाम जीवात्मा का ज्ञान, तदुपरान्त अन्त में परमात्मा नाम ब्रह्म का ज्ञान साक्षात् होता है, जिसको ब्रह्मप्राप्ति भी कहते हैं। यही अन्तिम परिणाम-रूप ब्रह्मप्राप्ति प्रधान विषय जानो।

(२) **प्रयोजन**—उक्त ब्रह्मप्राप्ति नामक विषय का फल सब दु:खों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष-सुख है। जिस सत्य सुख की इच्छा सब प्राणी करते हैं, और जिस सुख से परे अधिक कोई सुख नहीं। यही सुख की परम अवधि है। अत: मुक्त होकर मोक्ष-सुख का प्राप्त होना, इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है।

ऐसे महान् उत्कृष्ट फल देनेहारे "ध्यान-योग-प्रकाशाख्य" ग्रन्थ का सब को आश्रय वा अवलम्बन करना उचित है।

(३) अधिकारी—वक्ष्यमाण साधन-चतुष्टय में कहे चारों साधनों से युक्त जो कोई मनुष्य (=स्त्री वा पुरुष) होता है, वही मोक्ष और ब्रह्मप्राप्ति का परमोत्तम (=श्रेष्ठ) अधिकारी माना जा सकता है। सो मोक्ष की इच्छा रखनेवाले मुमुक्षु, वा ब्रह्म की प्राप्ति-रूप खोज में तत्पर जिज्ञासु को उत्तम अधिकारी बनने के लिये प्रबल प्रयत्न और अत्यन्त पुरुषार्थपूर्वक साधन-चतुष्टय का अनुष्ठान निरन्तर और निरालस होकर करना अतीव उचित है।

ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु तथा मुमुक्षु को योगाभ्यास करना उचित है। पूर्ण योगी होने के निमित्त उसको पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिये। उस पूर्ण अधिकारी में प्रधानतया इतने लक्षण होने चाहियें, जो नीचे लिखे हैं—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ यो० पा० १। सू० २०॥

अर्थात्—(क) श्रद्धा—परमात्मा में विश्वासपूर्वक दृढ़ भक्ति और प्रेमभाव तथा वेदादि सत्यशास्त्रों और आप्त विद्वानों के उपदेशादिक वाक्यों में निर्भ्रम और अटल विश्वास रखने को 'श्रद्धा' कहते हैं।

(ख) वीर्य—उक्त श्रद्धा के अनुसार आचरणादि करने में तीव्र उत्साह उत्कण्ठा वा हर्षपूर्वक पुरुषार्थ, अर्थात् अनेक विघ्न उपस्थित होने पर भी प्रयत्नरूप उद्योग को न त्यागना। सर्वदा उद्योगी और साहसी होकर योगाभ्यास के अनुष्ठान में निरन्तर तत्पर रहना 'वीर्य' कहाता है। ऐसे पुरुषार्थ से योग-वीर्य (=योग का सामर्थ्य वा बल) प्राप्त होता है। इसी कारण इस पुरुषार्थ को 'वीर्य' कहते हैं।

(ग) स्मृति—जो शिक्षा वा उपदेश गुरुमुख वा विद्वानों से ग्रहण किया हो, उसका यथावत स्मरण रखना भूलना नहीं, और

वेदादिसत्यशास्त्रोक्त अधीत ब्रह्मविद्या को भी याद रखना 'स्मृति' कहाती है।

(घ) समाधि—समाहित चित्त अर्थात् चित्त की सावधानता वा एकाग्रता 'समाधि' कहाती है।

(ङ) प्रज्ञा—निर्मल बुद्धि, जिससे कि कठिन विषय भी शीघ्र समझ में आ सके, तथा उसमें किसी प्रकार का संशय शंका वा भ्रांति न रहे, ऐसी विमलज्ञानकारिणी बुद्धि को 'प्रज्ञा' जानो।

१. तीव्र श्रद्धावान् जिज्ञासु को ही योगबल नाम वीर्य प्राप्त होता है। २. उक्त पुरुषार्थयुक्त उत्साही योगी अर्थात् योगबल-प्राप्त मुमुक्षु को तद्विषयक स्मृति भी रहती है। ३. स्मृति की यथावत् स्थिति होने पर चित्त आनन्दमय होकर सावधान हो जाता है, अर्थात् समाधि भी प्राप्त होती है। ४. यथावत् समाधि का परिणाम प्रज्ञा है। अर्थात सत्यासत्य का निर्णय करके वस्तु को यथार्थरूप से जान लेने का जो विवेक है, उस विवेक का साधनरूप जो अन्तःकरण की विमल शुद्ध और निश्चयात्मक वृत्ति है, उस वृत्ति का नाम प्रज्ञा है। और उक्त प्रज्ञा का साधन समाधि है। तात्पर्य यह है कि समाधि प्राप्त होने से प्रज्ञा=बुद्धि तीव्र और निर्मल होती है। बुद्धि के निर्मल होने से विवेक (=यथार्थज्ञान) की सत्ता होती है। उस विवेक द्वारा निरन्तर योगाभ्यास करते रहने से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, जिस में जीवात्मा को निजस्वरूप का यथार्थ निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त होता है।

पूर्वोक्त सूत्रगत 'इतरेषाम्' पद का अभिप्राय यह है कि जीवन्मुक्त अर्थात् श्रेष्ठ कोटि के योगियों से भिन्न मध्यम कनिष्ठ आदि योग्यता वा कक्षावाले अथवा नवशिक्षित योगियों में मुमुक्षुत्व की सम्भावना तब हो सकती है, जब कि वे लोग उक्त श्रद्धा आदि लक्षणों से युक्त हो जावें। अतः उनको उचित है कि विद्वानों के संग से उपदेशों का अभ्यास करके उक्त लक्षणों से युक्त होकर मुमुक्षु जिज्ञासु वा योगीपने की योग्यता का अधिकार प्राप्त करें, अर्थात् अधिकारी बनें।

पातञ्जल योगशास्त्रानुसार तीन प्रकार के अधिकारियों के १८ भेद इस रीति से हो जाते हैं कि योगसाधन के उपाय तीन प्रकार के हैं। १—मृदु, २—**मध्य**, और ३—**अधिमात्र**। अतः नूतन योगिजन वा अधिकारी तीन ही प्रकार के हुए। १—**मृदूपाय अधिकारी**, २—**मध्योपाय अधिकारी**, और ३—**अधिमात्रोपाय अधिकारी**।

फिर संवेग नाम क्रियाहेतु दृढ़तर संस्कार अर्थात् जन्मान्तरीय संस्कारजन्य क्रिया की गति के मृदु मध्य और तीव्र भेद से तीन प्रकार इन अधिकारियों में होते हैं। अतः पूर्वोक्त तीन प्रकार के प्रत्येक अधिकारी के संवेग भेद से तीन-तीन भेद होने से नव प्रकार के अधिकारी होते हैं। फिर अधिकारियों के पुरुषार्थ के तीव्र और अतीव्र भेदभाव से दो-दो भेद होकर नव के द्विगुण नाम १८ भेद हो जाते हैं—

प्रथम—१—मृदूपाय मृदुसंवेग अतीव्र अधिकारी।
२—मृदूपाय मृदुसंवेग तीव्र अधिकारी।
३—मृदूपाय मध्यसंवेग अतीव्र अधिकारी।
४—मृदूपाय मध्यसंवेग तीव्र अधिकारी।
५—मृदूपाय तीव्रसंवेग अतीव्र अधिकारी।
६—मृदूपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी।

द्वितीय—७—मध्योपाय मृदुसंवेग अतीव्र अधिकारी।
८—मध्योपाय मृदुसंवेग तीव्र अधिकारी।
९—मध्योपाय मध्यसंवेग अतीव्र अधिकारी।
१०—मध्योपाय मध्यसंवेग तीव्र अधिकारी।
११—मध्योपाय तीव्रसंवेग अतीव्र अधिकारी।
१२—मध्योपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी।

तृतीय—१३—अधिमात्रोपाय मृदुसंवेग अतीव्र अधिकारी।
१४—अधिमात्रोपाय मृदुसंवेग तीव्र अधिकारी।
१५—अधिमात्रोपाय मध्यसंवेग अतीव्र अधिकारी।
१६—अधिमात्रोपाय मध्यसंवेग तीव्र अधिकारी।
१७—अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग अतीव्र अधिकारी।

१८—अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी।

संक्षेप से मुख्य-मुख्य ये अठारह भेद कहे गये हैं, किन्तु पूर्वोक्त योगसूत्रानुसार श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा आदि अधिकारियों के लक्षण-भेद, साधन-चतुष्टयोक्त साधनोपसाधनों के भेद, तथा वर्ण-भेद, सत्त्व रज तम आदि त्रैगुण्यभेद, सत्संगजन्यभेद, तापत्रय वा शान्तित्रयभेद इत्यादि शारीरिक मानसिक और आत्मिक गुणों के भेद, भावाऽभाव, न्यूनाधिक्य, तारतम्य, समता-विषमता आदि अनेक कारणों करके अधिकारी जनों के अगणित भेद होते हैं। वे सब इन ही १८ भेदों के अन्तर्गत वा अवान्तर भेद जानो।

सम्बन्ध - पूर्वोक्त ब्रह्मप्राप्ति नामक 'विषय' तथा उसके फल वा प्रयोजन नामक पूर्वोक्त 'मोक्षसुख' इन दोनों का "ध्यान-योग-प्रकाश" ग्रन्थ के साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है।

ब्रह्म (=ईश) और अधिकारी (=जीव) का अनुक्रम से उपास्य उपासक, सेव्य सेवक, पूज्य पूजक, प्राप्य प्रापक, ध्येय ध्याता, ज्ञेय ज्ञाता, प्रमेय प्रमाता, व्यापक व्याप्य, जनक जन्य और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध है।

विषय और अधिकारी का प्राप्य प्रापक सम्बन्ध है। इसी प्रकार प्रयोजन और अधिकारी का भी प्राप्य प्रापक ही सम्बन्ध है। अधिकारी और ग्रन्थ का बुध बोधक, ज्ञाता ज्ञापक, प्रमाता प्रमाण सम्बन्ध है। अर्थात् अधिकारी जब ग्रन्थोक्त वाक्यों के प्रमाण से पूर्णबोध (=ज्ञान) प्राप्त करके परमात्मा की उपासना करता है, तब उस (=अधिकारी जीव) को ग्रन्थोक्त इष्ट विषय 'ब्रह्म' तथा अभीष्ट प्रयोजन 'मोक्षसुख' की यथावत् प्राप्ति होती है।

उक्त बोध (=ज्ञान) अधिकारी को गुरुकृपा बिना यथार्थ रूप से नहीं होता। अर्थात् गुरु और शिष्य का अध्यापक अध्येता, ज्ञापक ज्ञाता, पिता पुत्र, सेव्य सेवक, पूज्य पूजक सम्बन्ध है।

उक्त सब पदार्थों और उनके सम्बन्ध को यथावत् समझकर अन्वित करना जिज्ञासु (=मुमुक्षु) को अति उचित है।

उपक्रम

वेद चार हैं—ऋग् यजुः साम और अथर्व, किन्तु वास्तव में वेद विद्या तीन ही हैं। चौथी जो अथर्ववेद विद्या है, सो पूर्व के तीन वेदों का ही सारांशरूप तत्त्व है। अतः वेदत्रय भी कहा जाता है। उक्त तीन वेदों के काण्ड भी तीन ही हैं, अर्थात् ज्ञान कर्म और उपासना। चौथा काण्ड विज्ञान कहलाता है,सो इन ही तीन काण्डों का सार तत्त्व है, अर्थात् उपासना काण्ड के ही अन्तर्गत है। ये तीनों काण्ड तीनों वेदों में इस प्रकार विभक्त हैं कि—

(१) **ज्ञानकाण्ड ऋग्वेद** है, जिस में ईश्वर से लेकर पृथ्वी और तृणपर्यन्त समस्त पदार्थों की स्तुति और परिभाषा द्वारा ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् का बोध(=ज्ञान)कराया है। जिस ज्ञान के प्राप्त होने से कर्म में प्रवृत्ति और योग्यता होती है।

(२) **कर्मकाण्ड यजुर्वेद** है, जिसमें सम्पूर्ण धर्मयुक्त सांसारिक और पारमार्थिक कर्मों का विधान है, जिनका फल उपासना है।

(३) **उपासनाकाण्ड सामवेद** है, जिसका फल विशेष ज्ञान (=विज्ञान) अर्थात् ब्रह्मविद्या है। जिसका परिणाम ब्रह्मज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति है। सो ब्रह्मविद्या ही उपासनाकाण्ड का तत्त्व सार-रूप अंग अथर्ववेद वा पराविद्या जानो। इस आशय से ही इस **"ध्यान-योग-प्रकाश"** ग्रन्थ के तीन अध्यायों में योगविद्या(=ब्रह्मविद्या) को तीन खण्डों में विभक्त किया है। अर्थात्—

प्रथमाध्याय में **"ज्ञानयोग"** कहा है। जिस में संसारस्थ और देहस्थ पदार्थों का संक्षिप्त वर्णन है। इस **"ज्ञानयोग"** को ही **"सांख्ययोग"**, **"ज्ञान काण्ड"** और **"ऋग्वेद विद्या"** जानो।

दूसरे अध्याय में **"कर्मयोग"** का विधान है। जिसके अनुष्ठान से मुमुक्षु जनों को उत्तमाधिकार की प्राप्ति होती है। **"कर्मयोग"**

को ही 'कर्मकाण्ड' वा 'तपोयोग' और यजुर्वेद-सम्बन्धी विद्या जानो।

तीसरे अध्याय में "उपासनायोग" की व्याख्या है।

इस के दो अंग हैं—"समाधियोग" और "विज्ञानयोग"। "संप्रज्ञातसमाधि" पर्यन्त "उपासनायोग" को "समाधियोग" जानो। क्योंकि अधिक दृढ़ भक्ति प्रेम श्रद्धा आदि पूर्वक पुरुषार्थ का फल "सम्प्रज्ञातसमाधि" है। और "असम्प्रज्ञात" तथा "निर्विकल्प समाधि" को "विज्ञानयोग" जानो, जिस में कि विशेष ज्ञान अर्थात् आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार (=ज्ञान) होता है। विज्ञानयोग को ही विज्ञानकाण्ड वा पराविद्या जानो, जो कि वेदान्तादि षट्शास्त्रों में से केवल योगशास्त्र द्वारा सिद्ध होती है। अतः योगशास्त्रान्तर्गत ध्यानयोगक्रिया ही प्रधान परा विद्या प्रसिद्ध है, जिस से कि मुक्ति प्राप्त होती है।

अथ ज्ञानयोगः

अब ब्रह्मज्ञान तथा मोक्ष-प्राप्ति-हेतुक योगादि षड्दर्शनान्तर्गत द्वादश उपनिषद् नामक वेदान्त ग्रन्थों में से श्वेताश्वतराख्य उपनिषद् के अनुसार आरम्भ करके वेदादिसत्यशास्त्रों के प्रमाणों से अलङ्कृत ज्ञानयोग की, जिस को ज्ञानकाण्ड वा सांख्ययोग भी कहते हैं, व्याख्या की जाती है। यही ज्ञानयोग वेदचतुष्टयान्तर्गत ऋग्वेद का प्रधान विषय है, जिसके आश्रय से जगत् के उपादान कारण प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों का बोध प्राप्त करके प्रकृति पुरुष के भेदभाव को जानकर परमात्मा का निश्चयात्मक विश्वास जब होता है, तब जिज्ञासु की रुचि श्रद्धा भक्ति प्रेम अपने कल्याणकर्त्ता परमात्मा के साक्षात् स्वरूप को जानने की ओर झुकते हैं, और तब ही जन्म मरण जरा व्याधिमय तापत्रय के विनाशक योगाभ्यासरूप उपाय वा पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न करने की दृढ़ प्रवृत्ति भी होती है। एतन्निमित्त प्रथम उक्त रोचक विषय का ही वर्णन करना उचित जाना गया।

इस ही रुचिवर्द्धक विषय को प्रधान (=प्रथम श्रेणी) जान कर अनेक ब्रह्मवादी ऋषिजन निज कल्याण के अभिलाष रखनेवाले जिज्ञासु जनों की आशा पूर्ण करने के अभिप्राय से ही 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के आदि में वक्ष्यमाण प्रकार से निर्णय करने को सन्नद्ध हुये थे—'ओ३म् ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।'

उक्त श्वेताश्वतरादि ब्रह्मनिष्ठ महर्षिगण ने एक समय किसी स्थान में एकत्र उपस्थित होकर वक्ष्यमाण दो श्लोकों में १६ प्रश्न उपस्थापित किये—

जगत् का कारण

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः, जीवामः केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु, वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥
श्वेता० उप० अ० १ । श्लोक १ ॥

अर्थ—(हे ब्रह्मविदः) हे ब्रह्म के जाननेवाले भद्र पुरुषो ! (कारणं ब्रह्म किं) कारण ब्रह्म क्या है ? (कुतः जाताः स्म) किस ने हम सब उत्पन्न किये हैं ? (केन जीवामः) हम सब लोग किस से जीते हैं ? अर्थात् हमारा प्राणाधार प्राणप्रद वा जीवनहेतु कौन वा क्या है, कि जिस की सत्ता से हम जगत् की स्थिति-दशा में जीवित रहते हैं ? (क्व च संप्रतिष्ठाः) और प्रलयावस्था में कहां वा किस आधार पर हम सब स्थित रहते हैं ? (केन अधिष्ठिताः सुखेतरेषु व्यवस्थाम् वर्त्तामहे) और किस के नियत किये हुए हम सब लोग सुखों और दुःखों में नियम को वर्त्तते हैं, अर्थात् हमारे सुख वा दुःख के भोगों को प्राप्त कराने की ऐसी व्यवस्था कौन करता है कि जिस का उल्लङ्घन न करके पराधीनता से हम भोगते हैं। इस व्यवस्था का नियामक कौन है ?॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥
श्वेता० उप० अ० १ । श्लो० २ ॥

पूर्व श्लोकगत ५ प्रश्न उपस्थापित करके फिर अन्य प्रश्न इस

प्रकार स्थापित किये कि क्या वक्ष्यमाण पदार्थों में से कोई एक-एक पदार्थ वा उनके समूह का मेल जगत् का कारण ब्रह्म है, वा कोई और है। अर्थात्—

अर्थ—(कालः)क्या काल ही सृष्टि का कारण ब्रह्म है? (स्वभावः) क्या पदार्थों का नियत धर्म वा स्वाभाविक गुण सृष्टि का कारण है? (नियतिः) क्या प्रारब्ध वा सञ्चित कर्म ही कारण ब्रह्म है? (यदृच्छा) जब किसी कार्य का कारण किसी प्रकार से भी निश्चित नहीं होता, तब मनुष्य को लाचार होकर यही कहना पड़ता है कि यह ईश्वर की इच्छा से हुआ। ऐसे किसी आश्चर्यजनक अप्रयास अनायास वा अकस्मात् उपस्थित वा इन्द्रियगोचर हुये कार्य के अप्रज्ञात अप्रतर्क्य और परोक्ष (=गूढ़) कारण को 'यदृच्छा' कहते हैं, सो यह चौथा प्रश्न उठाया कि क्या यदृच्छा ही कारण ब्रह्म है, वा कुछ और? (भूतानि) वा क्षिति अप तेज मरुत् व्योम नामों से प्रसिद्ध पंचभूत ही कारण हैं क्या? (योनिः) यद्वा इन पांचों तत्त्वों की जननी (=सत्त्व रज तम की साम्यावस्था), जिसको प्रकृति कहते हैं, कारण ब्रह्म है क्या? (पुरुषः) वा जीवात्मा अथवा परमात्मा कारण ब्रह्म है क्या? (एषां संयोगः) अथवा इन पूर्वोक्त कालादि पुरुषान्त सातों पदार्थों का संयोग ही कारण ब्रह्म है क्या? (न तु) परन्तु इन आठों पक्षों में से कोई भी पक्ष यथार्थ नहीं जाना जाता। क्योंकि कालादि योनिपर्यन्त पूर्वोक्त छः पदार्थ तो केवल जड़ ही हैं। इनमें कोई स्वतन्त्र सामर्थ्य नहीं है। अतएव (आत्मभावात्) 'पुरुष एव कदाचित् कारणं ब्रह्म स्यात्' अर्थात् चेतन और व्यापक होने से कदाचित् जीवात्मा वा परमात्मा ही कारण ब्रह्म हों, यह बात 'आत्मभावात्' पद से जताई गई। (आत्मा अपि अनीशः सुखदुःखहेतोः) फिर विचार करने से जाना गया कि परमात्मा तथा जीवात्मा इन दोनों में से सुख-दुःखादि भोगों का हेतु होने से जीवात्मा तो पराधीन और असमर्थ है, अर्थात् जीवात्मा सुख की आशा करता है, और दुःख से बचा रहना चाहता

हैं, तथापि परवश होकर अनभिलषित अनिष्ट दुःख भोग उसको भोगने ही पड़ते हैं। और सर्वव्यापक भी नहीं है, इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि इन सबसे प्रबल सब का नियन्ता सब को अपने वश में रखनेवाला सर्वव्यापक और स्वतन्त्र अन्य ही कोई इस सृष्टि का कारण है।(इति चिन्त्यम्)यह विचारणीय पक्ष है। अर्थात् इस पर फिर अच्छी प्रकार ध्यानपूर्वक दृढ़ विचार करके निश्चय करना चाहिये ॥२॥

यह कहकर ध्यानयोग समाधि द्वारा जो कुछ उक्त ऋषिगण ने जिस प्रकार निश्चय किया, सो अगले श्लोक में कहा है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्, देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि, कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥३॥

श्वेता० उप० अ० १ । श्लोक ३ ॥

अर्थ—(ते ध्यानयोगानुगताः)सृष्टि की उत्पत्ति के प्रधान आदि कारण के खोजनेरूप विचार में युक्त हुये उन ब्रह्मवादी योगी जनों ने ध्यानयोगपूर्वक चित्त की एकाग्र तदाकार वृत्ति सम्पादित समाधि द्वारा (स्वगुणैर्निगूढां देवात्मशक्तिम्[1] अपश्यन्) उस अचिन्त्य ईश्वर के निज-गुणों करके गूढ (=गुप्त), और केवल अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से

---

१. 'देवात्मशक्तिम्' इस पद का दूसरा अर्थ यह भी है कि देव नाम परमात्मा, आत्मा नाम जीवात्मा, और शक्ति नाम प्रकृति, इन जीव प्रकृति और ईश तीनों को जगत् का कारण जाना। अर्थात् यह निर्णय किया कि परमात्मा तो कालादि अन्य कारणों से भिन्न स्वतन्त्र सब का अधिष्ठाता और निमित्त कारण है। अन्य कारणों में से काल नियति(=प्रारब्ध)यदृच्छा और जीव ये चारों भी जगत् के निमित्त कारण तो हैं, परन्तु परमेश्वर के आधीन हैं। और प्रकृति तथा उसके कार्य पञ्च सूक्ष्मभूत(=तन्मात्रा)और पञ्च स्थूल भूत तथा स्वभाव, और इन सब कारणों का संयोग, ये सब जड़ होने के कारण सर्वथा परतन्त्र ही हैं। इस प्रकार सब मिलकर जगद्रचना के त्रयोदश कारण हुए। अतएव सारांश यही उन ऋषियों ने निकाला कि परमात्मा तथा उसकी महिमा (=सामर्थ्य वा शक्ति) ही सर्वोपरि प्रधान कारण सृष्टि का है।

जानने योग्य, सब देवों के महादेव उस परमात्मा की आत्म-शक्ति (=महान् सामर्थ्य) को ज्ञान-दृष्टि से निश्चय अनुभव करके पहिचाना कि मुख्य कारण तो वही एक सब आत्माओं का आत्मा अनन्तशक्ति वा सामर्थ्यवाला परमात्मा तथा उस की शक्ति ही है। (यः एकः कालात्मयुक्तानि तानि निखिलानि कारणानि अधितिष्ठति) जो स्वयं असहाय एक अकेला ही कालादि जीवांत उन सब कारणों का अधिष्ठता है ॥३॥

पूर्व श्लोक में जो काल से लेकर पुरुषपर्यन्त कारण कहे हैं, उन सब को वही एक परमात्मा अपने नियमों के अनुकूल अपने ही आधीन रखकर उन से सृष्टि रचता है। अतः प्रधान गौण सब मिलाकर सृष्टि की उत्पत्ति के १३ कारण हुए।

उनके दो भेद हैं। एक तो—निमित्तकारण, और दूसरा—उपादानकारण। चेतन वा स्वतन्त्र तथा जड़ वा परतन्त्र भाव से निमित्तकारणों के फिर भी दो भेद हैं, जो अगले पृष्ठ २१ पर कोष्ठक में पृथक्-पृथक् दिखाये गये हैं:—

निमित्त कारण			उपादान कारण
सब का अधिष्ठाता प्रधान स्वतन्त्र चेतन और निमित्त कारण	परतन्त्र चेतन और निमित्त कारण	परतन्त्र जड़ और निमित्त कारण	परतन्त्र जड़ और उपादान कारण
चेतन		जड़	(६) योनि (अव्यक्त अनादि कारण प्रकृति) पंच तन्मात्रा (सूक्ष्म भूत) और (७) पृथिवी, (८) जल, (९) अग्नि, (१०) वायु, (११) आकाश — पञ्च स्थूल भूत
(१) परमात्मा	(२) जीवात्मा	(३) काल (४) नियति वा प्रारब्ध (५) यदृच्छा	(१२) स्वभाव (१३) संयोग (जड़ चेतन निमित्त और उपादानादि सब कारणों का संयोग भी एक तेरहवां कारण माना गया है)

ध्यानयोग द्वारा निश्चयात्मकबुद्धिपूर्वक जाने हुए जगत् के कारण की पुष्टि, फिर भी छठे अध्याय के आरम्भ में ग्रन्थ की समाप्ति होने से पूर्व स्पष्ट करके उन श्वेताश्वतरादिक महर्षियों ने ब्रह्मविद्या के जिज्ञासुओं का विश्वास दृढ़तर निश्चित करने के लिये इस प्रकार की है कि:—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति, कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके, येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥४॥

श्वेता० उप० अ० ६ । श्लोक १ ॥

अर्थ—(येन इदं ब्रह्मचक्रम् भ्राम्यते) जगत् के जिस कारण द्वारा यह ब्रह्मचक्र घुमाया जाता है, (तम् एके परिमुह्यमानाः कवयः स्वभावं वदन्ति) उस कारण को कोई-कोई अज्ञानी पण्डित-जन स्वभाव बतलाते हैं । (तथा अन्ये परिमुह्यमानाः कवयः कालम् वदन्ति) तथा अज्ञानान्धकार से आच्छादित, संशयात्मक वा भ्रमात्मक बुद्धि से मोहित, लोक में पण्डित नाम की उपाधि से सिद्ध, अन्य लोग काल ही को जगत् का कारण बताते और मानते हैं । (तु=इति वितर्के) परन्तु वास्तव में इस विषय का मर्म वा यथार्थ भेद तो ब्रह्मज्ञानपरायण तत्त्वज्ञानी योगीजनों ने यही निश्चय किया है कि (लोके देवस्य महिमा एष अस्ति, येन महिम्ना इदं ब्रह्मचक्रम् भ्राम्यते) संसार में उस परब्रह्म परमात्मा की केवल यह महिमा ही प्रधान कारण है कि जिस से यह समस्त ब्रह्मचक्र घुमाया जाता है ॥४॥

परमेश्वर की इस महिमा का महत्त्व अगले वेदमन्त्र से भी सिद्ध है:—

ओम् एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

यजु० अ० ३१ । मन्त्र ३ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १३५] ॥

अर्थ—(**अस्य=जगदीश्वरस्य**) इस जगदीश्वर का (**एतावान्=दृश्यादृश्यं ब्रह्माण्डरूपम्**) यह दृश्य और अदृश्यरूप ब्रह्माण्ड (**महिमा=माहात्म्यम्**) महत्त्वसूचक है। (**अतः=अस्माद् ब्रह्माण्डात्**) इस ब्रह्माण्ड से (**पूरुषः=अयम् परिपूर्णः परमात्मा**) यह सर्वत्र व्याप्त एकरस परिपूर्ण परमात्मा (**ज्यायान्=अतिशयेन प्रशस्तो महान्**) अति प्रशंसित और बड़ा है। (**च अस्य=अस्य परमेश्वरस्य च**) और इस परमेश्वर के (**विश्वा भूतानि=सर्वाणि पृथिव्यादीनि भूतानि**) सब पृथिव्यादि चराचर जगत् (**एकः पादः=एकोंऽशः**) एक अंश है। (**अस्य त्रिपादः अमृतं दिवि वर्त्तते=अस्य जगत्स्रष्टुः त्रयः पादाः यस्मिन् तन्नाशरहितं द्योतनात्मके स्वस्वरूपे वर्त्तते**) इस जगत्स्रष्टा का तीन अंश नाशरहित महिमा द्योतनात्मक अपने स्वरूप में है॥

अथ ब्रह्मचक्र-वर्णनम्

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तम्, शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशम्, त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥[1]

श्वेता० उप० अ० १। श्लोक ५॥

अर्थ—(**एकनेमिम्**) एक बुद्धि से बने हुये, (**त्रिवृतम्**) सत्व रज तम रूप तीन परिधियों से घिरे हुये, (**षोडशान्तम्**) सोलह पदार्थों में ही अन्त को प्राप्त हो जानेवाले, (**शतार्द्धारम्=शत अर्ध अरम्**) पचास अरों से सुगुम्फित जुड़े हुये, (**विंशतिप्रत्यराभिः**) बीस पच्चरों से सुदृढ़तापूर्वक अचल अटल ठुके हुये, (**अष्टकैः षड्भिः**) छः अष्टकों से जुड़े हुये, (**विश्वरूपैकपाशम्**) विश्वरूप कामना (=तृष्णा) मय एक ही बन्धन (=फन्दे) में जकड़कर बंधे हुये, (**त्रिमार्गभेदम्**) तीन मार्गों के भेदभाव से युक्त, वा तीन भिन्न मार्गों में घूमनेवाले, (**द्विनिमित्तैक-**

१. इस श्लोक में ब्रह्माण्डचक्र (=ब्रह्मचक्र वा संसारचक्र) का वर्णन है। अर्थात् जगत् को रथ के पहिये के तुल्य मानकर रूपकालंकार में उसकी व्याख्या की है।

मोहम्) दो निमित्तों तथा एक मोह में फंसे हुये [तं ब्रह्मचक्रम् इत्यधिकम्] उस ब्रह्मचक्र को [ते ध्यानयोगानुगता ब्रह्मवादिन अपश्यन् इति पूर्वश्लोकानुवृत्तिः] ध्यानयोग में प्रवृत्त हुये उन ब्रह्मवादी महर्षियों ने अनुसन्धान करके ज्ञानदृष्टि से निश्चित किया ॥

अब रूपकालंकार में वर्णित इस ब्रह्मचक्र के सांगोपांग सम्पूर्ण पदार्थों का सविस्तर विवरण दिया जाता है—

(१) नेमि=पुट्ठी—जैसे गाड़ी के पहिये में सब से ऊपरली, वर्त्तुलखण्डाकार गोलाई में झुके हुये काष्ठखण्डों से जुड़ी हुई, एक पुट्ठी नामक परिधि होती है, वैसे ही ब्रह्मचक्र में एक पुट्ठीस्थानी प्रकृति जानो, जिसको अव्यक्त अव्याकृत प्रधान प्रकृति भी कहते हैं। सत्त्व रज तम की साम्यावस्था भी इस ही को कहते हैं। यही ब्रह्मचक्र की, जो प्रकृतिनाम्नी नेमि है, सो महत्तत्त्व अहङ्कार पंचतन्मात्रा दश इन्द्रिय पांच स्थूलभूत पदार्थों की, जो क्रमशः उत्तरोत्तर अपने से पूर्व-पूर्व के कार्य, तथा पूर्व-पूर्व की अपेक्षा स्थूल भी हैं, योनि नाम उत्पन्न करनेवाली माता है। अर्थात् सत्त्व रज तम इन तीनों का जो अत्यन्त सूक्ष्म रूप में स्थित होना है, उसको 'प्रकृति' कहते हैं। वही नेमि नाम से यहां बताई गई है।

(२) त्रिवृतम्—गाड़ी के पहिये की तीन परिधियां होती हैं। एक तो पुट्ठी के ऊपर चढ़ी हुई लोहे की हाल, दूसरी पुट्ठी, और तीसरी पहिये के केन्द्रस्थानी नाभि(=नाह) जो गाड़ी के कीलक नाम धुरे पर घूमा करती है, और जिसमें अरे जड़े जाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मचक्र में भी तीन ही परिधियां जानो। अर्थात् प्रकृति के पृथक्-पृथक् तीनों गुण सत्त्व रजस् और तमस्।

(३) षोडशान्तम्—रथ नाम गाड़ी के पहिये की पुट्ठी पर जो हाल लगी होती है, वही उस पहिये की अन्तिम परिधि है। उस से आगे पहिये का कोई अङ्ग वा भाग नहीं होता। मानो वही रथचक्र की परमावधि है, और उस ही के अन्तर्गत सारा पहिया रहता है।

उस लोहे की हाल में कीलें ठुकी होती हैं, जिनसे कि वह पुट्ठी पर जमी और चिपकी रहती हैं। उक्त कीलों के सदृश ही संसारचक्र नाम ब्रह्मचक्र की १६ सोलह कला हैं। अर्थात् सम्पूर्ण विश्व वा ब्रह्माण्ड उन ही के अन्तर्गत है, उनसे बाहर कुछ भी नहीं।

वे १६ कला ये हैं—

१६ पदार्थ	१६ पदार्थ
मतान्तर से	मतान्तर से
१० इन्द्रिय	१ विराट्
१ मन	१ सूत्रात्मा
५ भूत	१४ लोक (=भुवन)
१६	१६

(१) प्राण (९) मन
(२) श्रद्धा (१०) अन्न
(३) आकाश (११) वीर्य (=पराक्रम)
(४) वायु (१२) तप (धर्मानुष्ठान)
(५) अग्नि (१३) मन्त्र (=वेदविद्या)
(६) जल (१४) कर्म (=चेष्टा)
(७) पृथिवी (१५) लोक और अलोक
(८) दश इन्द्रिय (१६) नाम

(४) शतार्द्धारम् — रथचक्र में नाभि से पुट्ठी-पर्यन्त व्यासार्द्धवत् अनेक अरे नाम काष्ठदण्ड लगे होते हैं। इस ब्रह्मचक्र में भी ५० अरे गिनाये गये हैं, उन सब की व्याख्या आगे की जाती है। यथा—

(क) पांच अविद्या वा मिथ्याज्ञान के भेद	५
(ख) अट्ठाईस प्रकार की शक्तियां और अशक्तियां	२८
(ग) नव प्रकार की तुष्टियां	९
(घ) आठ प्रकार की सिद्धियां	८
	५०

ये सब मिलकर पचास अरे हैं। इनकी व्याख्या आगे लिखी जाती है—

[क] अविद्या के पांच भेद ये हैं, जो मतान्तर से दो प्रकारों में विभक्त हैं—

पञ्च क्लेश		पांच मिथ्याज्ञान
(१) अविद्या	अथवा मतान्तर से	(१) तमस्
(२) अस्मिता		(२) मोह
(३) राग		(३) महामोह
(४) द्वेष		(४) तामिस्त्र
(५) अभिनिवेश		(५) अन्धतामिस्त्र

अब क्रमशः संक्षेप में इनकी व्याख्या की जाती है--

(क)तमस्—मन बुद्धि अहंकार ये तीन, और पांच तन्मात्रा,प्रकृति के इन आठ कार्यों में, जो जड़ हैं, आत्म-बुद्धि का होना। अर्थात् इनको चेतन आत्मा जानना। यह आठ प्रकार का 'तमस्' है।

(ख)मोह—उन अणिमादि योगसिद्धियों में, जो कि देह छूटने के पश्चात् मुक्त जीवों को प्राप्त होती हैं,यह विश्वास रखना कि वे जीवित दशा में प्राचीन योगियों को प्राप्त हो चुकी हैं, अतः हमको भी प्राप्त होना सम्भव है, इस भ्रम से आप अन्यों के धोखे में आ जाना, अथवा अन्यों को स्वयं ठगना।

वे आठ सिद्धियां ये हैं—(१) अणिमा, (२) महिमा, (३) गरिमा, (४) लघिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य, (७) ईशत्व, और (८) वशित्व।

(१) अणिमा—अपने शरीर को अणु के समान सूक्ष्म कर लेना।

(२) महिमा— „ „ बहुत बड़ा कर लेना।

(३) गरिमा— „ „ बहुत भारी कर लेना।

(४) लघिमा— „ „ बहुत हलका कर लेना।

(५) प्राप्ति—कोई पदार्थ चाहे कितनी ही दूर हो, उसको छू सकना वा प्राप्त कर लेना। यथा चन्द्रमा को अंगुली से छू वा पकड़ लेना।

(६) प्राकाम्य—इच्छा का विघात न होना, अर्थात् इच्छा का पूर्ण हो जाना।

(७) ईशत्व—शरीर और अन्तःकरणादि को अपने वश में कर लेना, तथा सम्पूर्ण ऐश्वर्य-भोगों और भौतिक पदार्थों को प्राप्त कर लेने में समर्थ होना।

(८) वशित्व— सब प्राणिमात्र को अपने वश में ऐसा कर लेना कि कोई भी अपने वचन का उल्लंघन न कर सके।

यह आठ प्रकार का 'मोह' कहाता है।

(ग) महामोह - दश इन्द्रियों के दश विषयों से भोगने योग्य परोक्ष अर्थात् मरण उपरान्त अन्य देह वा लोक में प्राप्तव्य, वा अपरोक्ष वर्त्तमान देह से प्राप्तव्य और भोक्तव्य भोगों की तृष्णा में अत्यन्त मोहित होकर तीव्र उत्कण्ठा रखना; और धर्माधर्म का विचार छोड़ कर उसके उपाय में अहर्निश तत्पर रहना। यह दस प्रकार का 'महामोह' है।

(घ) तामिस्र—दशों इन्द्रियों के भोग, जो दृष्ट और अदृष्ट होने के कारण दो-दो प्रकार के पूर्व कहे गये हैं, उनको पूर्वोक्त ८ प्रकार की सिद्धियों के साथ भोगने की इच्छा से प्रयत्न वा पुरुषार्थ करने पर भी जब वे भोग प्राप्त नहीं होते, वा विघ्नों के कारण सिद्ध नहीं हो सकते, इस प्रकार भोग अप्राप्त होने की दशा में जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसको 'तामिस्र' कहते हैं। जो आठ सिद्धियों तथा दस इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्ध रखने के कारण अठारह (१८) प्रकार का कहाता है।

(ङ) अन्धतामिस्र—तामिस्र की व्याख्या में गिनाये गये १८ प्रकार के दृष्ट वा अदृष्ट भोगों की आशा रखनेवाला पुरुष जब कोई भोग प्राप्त होने पर पूर्णतया नहीं भोगने पाता, अर्थात् आधा वा चौथाई आदि अंशों में ही भोगने पर, अथवा कोई भी भोग न प्राप्त होने पर प्रत्याशा करते-करते ही जब मरण-समय निकट आ जाता है, तब उस पुरुष को बड़ा भारी पश्चात्ताप और शोक यह होता है कि मैंने इन भोगों की प्राप्ति की आशा में बड़े-बड़े दारुण कष्ट सहे, अत्यन्त परिश्रम भी किया, परन्तु परिणाम में कुछ भी प्राप्त न हुआ। सो

वह सिर धुनता और हाथ मलता हुआ पछताता रह जाता है, और हाहाकार मचाकर रोता पीटता है। इस प्रकार के मिथ्याज्ञान-जन्य शोक को 'अन्धतामिस्र' कहते हैं। अठारह प्रकार के पूर्वोक्त भोगों से सम्बन्ध रखने के कारण अन्धतामिस्र भी १८ प्रकार का है।

इस विस्तार से अविद्या (=मिथ्याज्ञान) के ये ६२ भेद हो जाते हैं—

(१) तमस् के भेद	८
(२) मोह के भेद	८
(३) महामोह के भेद	१०
(४) तामिस्र के भेद	१८
(५) अन्धतामिस्र के भेद	१८
सर्वयोग	६२

[ख] २८ प्रकार की शक्तियां और अशक्तियां

इन २८ प्रकार की शक्तियों और अशक्तियों का वर्णन आगे पृष्ठ २९ पर कोष्ठक में दर्शाया गया है—

[ख] अट्ठाईस प्रकार की शक्तियां और अशक्तियां क्रमशः ये हैं—

नोट—जो नीचे कही ११ शक्तियां और अशक्तियां हैं, उनके साथ ९ प्रकार की तुष्टि और ८ प्रकार की सिद्धि सब मिलाकर २८ हुईं।

इन्द्रिय	विषय	शक्तियां	अशक्तियां
१. श्रोत्र	शब्द	श्रवण शक्ति	श्रवणाऽशक्ति—बधिरत्व
२. त्वचा	स्पर्श	स्पर्श शक्ति	स्पर्शाऽशक्ति—कुष्ठ वा पाण्डुरोग वा सुन्न गोग
३. चक्षु	रूप	दर्शन शक्ति	दर्शनाऽशक्ति—अन्धत्व
४. जिह्वा	रस	रसना शक्ति	रसनाऽशक्ति—स्वादाविवेक (=स्वाद न जान सकना)
५. नासिका	गन्ध	घ्राण शक्ति	घ्राणाऽशक्ति—नासिका-रोग (=गन्ध का बोध न होना)
६. वाक्	वचन	वाक् शक्ति	वचनाऽशक्ति—मूकत्व
७. हस्त	आदान=ग्रहण	ग्रहण शक्ति	ग्रहणाऽशक्ति—बाहुबल-हीनत्व=अशौर्य
८. पाद	गमन	गमन शक्ति	गमनाऽशक्ति—पंगुत्व वा लंगड़ापन
९. उपस्थ	रति, मूत्रत्याग	भोगानन्द शक्ति=पुंसत्व	आनन्दाऽशक्ति—नपुंसकत्व
१०. गुदा	मलत्याग	उत्सर्ग शक्ति	उत्सर्गाऽशक्ति—विष्टब्ध
११. मन	संकल्प-विकल्प	मनन शक्ति	मननाऽशक्ति—अव्यवस्थितत्व, उन्मत्तता आदि

[ग] नव तुष्टियां[1]—इन के होने से मनुष्य आलसी और निष्पुरुषार्थी होकर मुक्ति के साधनों और मोक्षमार्ग से मन हटाकर कुछ भी प्रयत्न नहीं करता। विरक्त सा बना हुआ अपने को 'सन्तुष्ट-सा मान लेता है, और सत्यासत्य का निर्णय भी नहीं करता। अपने आत्मा तथा परमात्मा को भी जानने की इच्छा से उपरत-सा हो जाता है। तुष्टियों का अभाव इनकी 'अशक्ति' जानो।

वे 'नव तुष्टि' ये हैं —

(१) प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होने पर अपने को तत्वज्ञानी वा कृतार्थ मान कर, अथवा संसार को असार वा दुःख का हेतु जानकर विरक्त और सन्तुष्ट-सा हो जाना। यह 'प्रथम-तुष्टि' है।

(२) तीर्थ-यात्रा गंगा-स्नान आदि से मुक्त हो जाने में पूर्ण विश्वास हो जाने पर सन्यासाश्रम धारण करके, वा पूर्ण वैराग्य प्राप्त करके, पूर्ण योगाभ्यास द्वारा मोक्ष प्राप्त करनें में, तथा जगत् के तत्वज्ञान की प्राप्ति करने में प्रयत्न करना निष्फल निष्प्रयोजन वा व्यर्थ समझ लेना। अथवा काषाय वस्त्रादि संन्यास[2]-चिह्नों को ही धारण करके सन्तुष्ट होकर पुरुषार्थ छोड़ बैठना। यह 'द्वितीय तुष्टि' है।

---

१. इन नव प्रकार की तुष्टियों में से प्रत्येक की दो-दो शक्तियां जानो। अर्थात् पदार्थ की प्राप्ति विना ही संतुष्ट रहना, वह एक प्रकार की सहनशक्ति हुई। दूसरी तुष्टि की शक्ति यह कहाती है कि पदार्थ मिलने पर भी त्याग देने वा उपेक्षा कर देने का सामर्थ्य। प्रथम शक्ति को अनिच्छा वा अनुत्कण्ठा वा 'अस्पृहा-शक्ति' कहते हैं। और द्वितीय को 'परित्याग-शक्ति'।

२. कोई-कोई लोग संन्यास धारणमात्र से ही मोक्ष प्राप्त हो जाने का विश्वास कर लेते हैं। यहां तक कि किसी कारणवश संन्यास ग्रहण न किया जा सका हो, तो मरण-समय आतुर संन्यास लेकर यह समझ लेते हैं कि हम मुक्तहो जायेंगे।

(३) प्रारब्ध पर निर्भर रहकर समझ लेना कि भाग्य में होगा तो मोक्ष मिल ही जायगा। इस मिथ्याविश्वास से पुरुषार्थ के करने में क्लेश उठाना वा परिश्रम करना वृथा जानकर तुष्ट हो जाना। यह 'तृतीय तष्टि' है।

(४) काल के भरोसे पर तुष्ट हो जाना कि जब जिस कार्य का अवसर आता है,तब वह कार्य सिद्ध हो ही जाता है।अर्थात् काल को ही कार्य का प्रबल कारण मानकर तुष्ट हो जाना। यह 'चतुर्थ तुष्टि' है।

(५) विषयों के भोग अशक्य समझ कर तुष्ट हो जाना। यह 'पांचवीं तुष्टि' है।

(६) सांसारिक भोगों के प्राप्त करने के लिये धनोपार्जन में अनेक असह्य क्लेशों के कारण से ही सन्तुष्ट हो जाना। यह 'छठी तुष्टि' है।

(७) जगत् में एक से एक बढ़कर अधिक भोग्य पदार्थों से युक्त मनुष्यों को देखकर इस प्रकार सोच-विचार कर तुष्ट हो जाना कि इन ऐश्वर्यों का अन्त नहीं, चाहे जितनी इनकी वृद्धि की जाय, तो भी सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त वा जगत् में सबसे बढ़ चढ़कर हो जाना जब कठिन है, तो इनका संग्रह करना ही व्यर्थ है। इस प्रकार वैराग्यवान् होकर तृष्ट हो जाना। यह 'सातवीं तुष्टि' है।

(८) जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में घी की आहुति देने से अग्नि उत्तरोत्तर प्रचण्ड और प्रबल होता जाता है, इसी प्रकार विषयों को भोगने से भी भोग-तृष्णा अधिक ही होती जाती है, घटती नहीं। अर्थात् विषय-वासना से तृप्ति होना असम्भव समझ कर उन से पृथक् रह कर तुष्ट हो जाना। यह 'आठवीं तुष्टि' है।

(९) विषय-भोग के पदार्थों के सग्रह-रक्षणादि में ईर्ष्या द्वेष मत्सरता हिंसादि अन्य पुरुषों को दुःख पहुंचाने रूप दोष देखकर विरक्त हो जाना। यह 'नववीं तुष्टि' है।

[घ] आठ सिद्धि श्री स्वामी शंकराचार्य जी के मतानुसार 'आठ प्रकार की सिद्धियां' ये हैं—

(१) जन्मसिद्धि (२) शब्दज्ञानसिद्धि
(३) शास्त्रज्ञानसिद्धि (४-६) त्रिविधा तापसहनशक्ति—
क. आधिदैविकतापसहनशक्ति
ख. आध्यात्मिकतापसहनशक्ति
ग. आधिभौतिकतापसहनशक्ति
(७) विज्ञानसिद्धि (८) विद्यासिद्धि

(१)इन शक्तियों में से प्रथम 'जन्मसिद्धि' तो वह है कि पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता से सहज ही में प्रकृत्यादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान, जिसको तत्वज्ञान कहते हैं, प्राप्त हो जाना।

(२) शब्दों का अभ्यास किये विना ही शब्दश्रवणमात्र से अर्थ-ज्ञान हो जाना। अर्थात् पशु-पक्षी आदि सर्वभूतों (=प्राणियों) की वाणियों को समझ लेना, यह दूसरी सिद्धि है। इसको 'सर्वभूतशब्द-ज्ञान' कहते हैं। यही शब्दज्ञान-सिद्धि का तात्पर्य है। यह भी पूर्व जन्म के संस्कार की प्रबलता से होती है।

(३) तीसरी 'शास्त्रज्ञान-सिद्धि' उसको कहते हैं कि जो वेदादि-शास्त्रों के अभ्यास द्वारा प्रबल ज्ञान वा प्रबल शक्ति पूर्व जन्म के संस्कारों की प्रबलता से प्रकट होती है।

ये तीन सिद्धियां पूर्व जन्म-सम्बन्धी संस्कारों से प्राप्त होनेवाली है। शेष पांच सिद्धियों में से (४-६) त्रिविधतापसहन-शक्तियां हैं। अर्थात् सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, शीतोष्ण, राग-द्वेष आदिक द्वन्द्वों का संतोषयुक्त शान्तस्वभाव से निर्विकल्प सहन करना। अर्थात् मन से भी उक्त सन्तापों को दुःख न मानना, किन्तु देह के धर्म वा प्रारब्ध के भोग ईश्वर की न्यायव्यवस्थानुकूल समझकर सह जाना।

तापत्रय का वर्णन आगे होगा। यहां उन तीनों की 'सहन-शक्तियां' नीचे लिखते हैं। इनमें से—

(४) एक तो 'आधिदैविक तापसहनशक्ति' है।
(५) दूसरी 'आध्यात्मिक तापसहशक्ति' है। और—
(६) तीसरी 'आधिभौतिक तापसहनशक्ति' कहाती है।

(७) सातवीं 'विज्ञानसिद्धि' यह कहाती है कि शुद्धान्तःकरण-युक्त मित्रों वा आप्त गुरुजनों के उपदेशों के श्रवण मनन निदिध्यासन से मोक्ष-मार्ग और परमात्म-ज्ञान-सम्बन्धी जो तत्वज्ञान का प्रकाश हृदय में उत्पन्न होता है, इससे मोक्ष सिद्ध होता है। इसलिये 'विज्ञान-सिद्धि' यही है।

(८) आठवीं सिद्धि यह है कि गुरु का हितकारी कोई भी पदार्थ, जो दुर्लभ भी हो तो भी उस को अपने विद्याबल से श्रद्धा और भक्तिपूर्वक प्राप्त करके गुरु को अर्पण करना। विद्या के बल से पदार्थ को प्राप्त करने से इस को 'विद्यासिद्धि' जानो। अथवा गुरु जब तृप्त और सन्तुष्ट वा प्रसन्न होता है, तो अधिक प्रेम से शिक्षा देता है। तब अविद्या का नाश और विद्या की प्राप्ति नाम सिद्धि सुगम हो जाती है।

इस प्रकार ये 'आठ सिद्धियां' जानो। अथवा पृष्ठ २६-२७ में अविद्याजन्य मोह की व्याख्या में गिनाई गई आठ 'अणिमादि' सिद्धियां जानो। इन का अभाव नाम प्राप्त न होना ही मानो सिद्धियों की अशक्तियां हैं।

उक्त ब्रह्म-चक्र के ५० अराओं की संख्या नीचे लिखे प्रमाणे दो प्रकार से यह हैं कि—

(१) अविद्या—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश= ५
(२) तुष्टियां—जिनकी सविस्तर व्याख्या पूर्व की गई है= ९
(३) सिद्धियां वा ऐश्वर्य—अणिमादि जिनकी गणना अविद्याजन्य मोह के विषय में पृष्ठ २६ में की गई है= ८
(४) पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा पांच कर्मेन्द्रियों तथा एक मन की सब मिलाके ग्यारह अशक्तियां हुई= ११
(५) नव अशक्तियां तुष्टिओं की, तथा आठ अशक्तियां सिद्धियों की= १७

सब का योग— ५०

प्रकारान्तर से ५० अरे ये हैं—

(१) अविद्या—तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र = ५

(२) इन्द्रियों से विषय-भोग की शक्तियां = १०

(३) उपरोक्त नव तुष्टियां = ९

(४) आठ सिद्धियां—(१) जन्मसिद्धि, (२) शब्दज्ञानसिद्धि, (३) शास्त्रज्ञानसिद्धि, (४) आधिदैविकतापसहनशक्ति, (५) आध्यात्मिकतापसहनशक्ति, (६) आधिभौतिकतापसहनशक्ति, (७) विज्ञानसिद्धि, (८) विद्यासिद्धि = ८

(५) नव तुष्टियों से सम्बन्ध रखनेवाली दो-दो शक्तियां, अर्थात् अनिच्छाशक्ति और परित्यागशक्ति मिल कर (२×९) १८ शक्तियां हुईं = १८

——

सर्वयोग—५०

(५) विंशतिप्रत्यराभिः—जैसे रथचक्र के अरों की पुष्टि के निमित्त उनकी सन्धियों में पच्चरें ठोकी जाती हैं, उस ही प्रकार ब्रह्मचक्र के उक्त अरों की मानों दश इन्द्रियां और दश उनके विषय ये ही 'बीस पच्चरें' हैं।

(६) अष्टकैः षड्भिः—रथचक्र की पुट्ठी के जोड़ों में जैसे कीलों के समूह प्रत्येक जोड़ पर जड़े जाते हैं, इस ही प्रकार ब्रह्मचक्र के मानों ६ जोड़ हैं। और प्रत्येक में मानो आठ-आठ कीलें ठोकी गई हैं। इस प्रकार ६ अष्टक ये हैं—

पहला (१) प्रकृत्यष्टक—इसमें ८ कीलें वा अङ्ग ये हैं—

१. पृथिवी	५. आकाश
२. जल	६. मन
३. अग्नि	७. बुद्धि
४. वायु	८. अहंकार

दूसरा (२) धात्वष्टक—इसके ८ अङ्ग ये हैं—

१. त्वचा
२. चर्म
३. मांस
४. रुधिर
५. मेदा
६. अस्थि
७. मज्जा
८. वीर्य

तीसरा (३) सिध्यष्टक वा ऐश्वर्याष्टक—इसके ८ अंग ये हैं—

१. अणिमा
२. महिमा
३. गरिमा
४. लघिमा
५. प्राप्ति
६. प्राकाम्य
७. ईशत्व
८. वशित्व

मतान्तर से—

१. परकायप्रवेश
२. जलादि में असङ्ग
३. उत्क्रान्ति
४. ज्वलन
५. दिव्य श्रवण
६. आकाशमार्ग-गमन
७. प्रकाशावरणक्षय
८. भूतजय

चौथा (४) भावाष्टक—इसके ८ अङ्ग ये हैं—

१. धर्म
२. ज्ञान
३. वैराग्य
४. ऐश्वर्य
५. अधर्म
६. अज्ञान
७. अवैराग्य
८. अनैश्वर्य

पांचवां (५) देवाष्टक=अष्ट वसु—इसके ८ अङ्ग ये हैं—

१. अग्नि
२. वायु
३. अन्तरिक्ष
४. आदित्य
५. जल
६. चन्द्रमा
७. पृथ्वी
८. नक्षत्र

छठा (६) गुणाष्टक—इसके आठ अङ्ग ये हैं—

१. क्षमा
२. दया
३. अनसूया
४. शौच
५. अनायास
६. मंगल
७. अकृपणता
८. अस्पृहा

(७) विश्वरूपैकपाशम्—जैसे रथ में चक्र को अच्छे प्रकार कसने को बन्धन डोरी होती है, इस ही प्रकार इस नाना प्रकार की सृष्टि-समुदाय-मय विश्वरूप-रथ (=ब्रह्माण्डरूपी रथ) के चक्र को बांधने की डोरी मानो एक तृष्णा ही फन्दे वा जालरूप से फंसाने-वाली फांसी है। प्राणिमात्र पशु-पक्षी कीट-पतंग स्थावर-जंगम आदि सब ही इस एक तृष्णा के बन्धन से बंधकर ब्रह्मचक्र के चक्कर में चक्कर खाया करते हैं।

(८) त्रिमार्गभेदम्—जिस मार्ग में यह ब्रह्मचक्र चला करता है, उसके तीन भेद हैं। यथा—(१) उत्पत्ति, (२) स्थिति, और (३) प्रलय। अथवा (१) धर्म, (२) अर्थ, और (३) काम।

(९) द्विनिमित्तैकमोहम्—रथचक्र के चलाने का कोई निमित्त अवश्य होता है। सो यहां ब्रह्मचक्र के चलाने में दो निमित्त हैं। अर्थात् शुभ कर्म वा अशुभ कर्म इन दोनों प्रकार के कर्मों का फल भोगनेरूप दो निमित्तों से ही ब्रह्मचक्र चलाया जाता है। वा यों कहो कि उक्त दो निमित्तों के कारण प्राणी आवागमन (=जन्म-मरण) के चक्र में घूमा करते हैं। और इन दो निमित्तों का कारण मोह अर्थात् अविद्या वा अज्ञान ही है, जिसके कारण जीवात्मा बेसुध और इष्टानिष्टविवेकहीन होकर अन्धों के समान कर्म करने में झुक पड़ता वा फिसल पड़ता है। जैसे चिकनाई लगा देने से रथचक्र जल्दी-जल्दी घूमता है, ऐसे ही मोहवश ब्रह्मचक्र भी शीघ्र चलता रहता है। मानो मोहब्रह्मचक्र के ओंधने के लिये चिकनाई है। इस प्रकार ब्रह्मवादी ऋषियों ने ध्यानयोग से निश्चय किया।

ब्रह्मचक्र के घूमने के लिये आधार भी होना चाहिये। सो "अधितिष्ठत्येकः" इस वाक्यखण्ड से 'ते ध्यानयोगानुगताः०' इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि सब का आधार वही एक परमात्मा है। अर्थात् जैसे रथचक्र के घूमने के लिये एक लोहकीलक होता है, इस हीं दृष्टान्त से वह ध्रुव अटल अचल एक परमात्मा ही ब्रह्मचक्र के लिये ध्रुव धुरा और आधार है।

पिण्डचक्र

स्वयंभू परमात्मा स्वयं चेतन सर्वाधार और सर्वत्र व्यापक है। अतएव अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि ब्रह्मचक्र का स्वतन्त्र भ्रमण कराने और स्वाधीन रखनेवाला परब्रह्म ही है। जीवात्मा चेतन होने पर भी ईश्वर के आधीन, और उस ही के आधार पर एकदेशी (=परिछिन्न) है। तथापि जगत् के अन्य पदार्थों की अपेक्षा कुछ-कुछ स्वतन्त्र भी है। अतः जैसे ब्रह्मचक्र परमात्मा के आधीन है, वैसे ही पिण्डचक्र जीवात्मा के आधीन है। अर्थात् ईश्वर के आधार वा सत्ता में कर्मानुसार घूमता हुआ जीव पिण्डचक्र को आप ही घुमाता है। और उस निज देहरूप चक्र से स्वेच्छानुसार काम लेता है। अर्थात् इष्टानिष्ट (=शुभाऽशुभ) कर्म में प्रवृत्त रहता है। तथापि नलिनीदलगत जलवत् स्वदेह से सर्वथा भिन्न और संसारस्थ अन्य पदार्थों की अपेक्षा अति सूक्ष्म, और अव्यक्त पदार्थ अनादि काल से है। प्रकृति की नांई कभी स्थूल वा कभी सूक्ष्म नहीं होता। सारांश यह है कि देहचक्र जीवात्मारूप धुरे पर भ्रमण करता है।

जैसे रथचक्र के भीतर नाह में अरे जुड़े रहते हैं, वैसे ही इसमें लिंग सङ्घात प्राण विषय सब इन्द्रियां स्थित हैं। अर्थात् सौम्य प्राण-रूप नाभि के आश्रय मन तथा इन्द्रियां मानो अरा हैं, और शरीर मानो त्रिवृत ब्रह्मचक्रवत् पिण्डचक्र की त्रिगुणात्मक नेमि है। यही गुणत्रय देह में सदा मुख्य वा गौणभाव से वर्त्तमान रहते हुए निज-निज प्रधानता के अवसरों में अवशिष्ट दो गुणों को दबाये रहते हैं।

जिज्ञासु को उचित है कि प्रथम प्रकृति को ध्येय पदार्थ मानकर स्वदेहान्तर्गत त्रिगुणजन्य कार्यों का ज्ञान प्राप्त करे-। और प्रतिक्षण सत्त्व रज तम के प्रधान वा गौण भावों का ध्यान रक्खे । क्योंकि वस्तुतः देहधारी जीव ही इनको प्रेरित करने वा चलानेवाला है, और यथावत् बोध होने पर ही उनसे यथावत् काम ले सकता है । तथा स्वयं उनकी लहरों के आधीन न रहकर स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश में स्वकल्याणकारी कर्मों को करता हुआ इष्ट मोक्ष-सुख को कालान्तर में प्राप्त कर ही लेता है । अन्यथा तमोजन्य अज्ञानान्धकारमय गहन गम्भीर समुद्र में अन्धीभूत होकर डूबता ही चला जाता है, और नरकरूप अनेक दुःखों को भोगता ही है । क्योंकि वह अल्पज्ञ भी तो है । इसी कारण भ्रम में पड़ा और भूला हुआ प्रायः बेसुध भी हो जाता है ।

पिण्डचक्र विषयक वेदोक्त-प्रमाण

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥
य० अ० ३४ । मं० ५५ ॥

अर्थ—([ये] सप्त ऋषयः) जो विषयों अर्थात् शब्दादि की प्राप्ति करानेवाले पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि ये सात ऋषि (शरीरे प्रतिहिताः) इस शरीर में प्रतीति के साथ स्थिर हुए हैं, ([ते एव] सप्त [यथा] अप्रमादम् [स्यात् तथा]) वे ही सात जैसे प्रमाद अर्थात् भूल न हो वैसे (सदम् रक्षन्ति) ठहरने के आधार शरीर की रक्षा करते हैं । ([ते] सप्त आपः स्वपतः लोकम् ईयुः) वे शरीर में व्याप्त होनेवाले सात (=उक्त सात ऋषि) सोते हुये जीवात्मा को प्राप्त होते हैं । (तत्र अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ जागृतः) उस लोकप्राप्ति समय में जिन को स्वप्न कभी नहीं होता अर्थात् सोजाने का स्वभाव न रखनेवाले, तथा जीवात्मा की रक्षा करनेवाले और दिव्य उत्तम गुणोंवाले प्राण और अपान जागते रहते हैं ॥

भावार्थ—इस शरीर में स्थिर व्यापक तथा विषयों के जानने-वाले अन्तःकरण के सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय ही निरन्तर शरीर की रक्षा करते हैं, और जीव सोता है। तब उसी का आश्रय लेकर तमोगुण के वल से भीतर को स्थिर होते हैं, किन्तु बाह्यविषय का वोध नहीं कराते। और स्वप्नावस्था में जीवात्मा की रक्षा में तत्पर तमोगुण से न दबे हुये प्राण और अपान जागते हैं। अन्यथा यदि प्राण और अपान भी सो जावें, तो मरण का ही सम्भव करना चाहिये ॥

अब संक्षेप से उन दुःखों का वर्णन किया जाता है, कि जो जीवात्मा को जन्म-मरण-धर्मवाले देहचक्र के आश्रय से भोगने ही पड़ते हैं। जिनसे छुटकारा तभी होना सम्भव है कि जब वह इन दुःखों से भयभीत होकर ऐसा महान पुरुषार्थ करे कि जो ब्रह्माण्ड-चक्र में पिण्डचक्र पर आरूढ़ होकर जन्ममरणरूप भ्रमण के प्रवाह में फिर चक्कर न खाना पड़े।

शुभाऽशुभ कर्मों की व्यवस्था के अनुसार दुःख तो असंख्य प्रकार के होते हैं, किन्तु वक्ष्यमाण 'पांच प्रकार के दुःखों' से तो देही जीव का बच जाना असम्भव सा ही है। अर्थात् न्यूनाधिक भाव में सब ही प्राणी [दुःख] भोगते हैं—

पांच प्रकार के असह्य भयंकर दुःख

(क) गर्भवास-दुःख—कफ पित्त विण्मूत्र आदि अमेध्य मलों से लिप्त बन्दीगृह सदृश शरीर में बन्धुए के समान हाथ पांव बन्धे (=मुश्कें बन्धी) हुए रहकर माता के रुधिर आदि अभक्ष्य विकारों के भक्षण से पुष्टि पाना। जहां श्वांस लेने तक को भी पवित्र वायु नहीं प्राप्त हो सकता। प्रत्युत भट्टी सदृश माता के उदर में जठराग्नि-रूप दहकती हुई कालाग्नि में सदा ऐसा सन्तप्त और व्याकुल रहना पड़ता है कि जिसका वर्णन करते भयभीत होकर हृदय कम्पायमान

होता है। यही महाघोर संकटप्रद नरकवास है। मानों 'कुम्भीपाक' नामक नरक यही है।

(ख) जन्म-दुःख—जन्म-समय योनि द्वार से इस प्रकार भिच कर निकलना होता है कि जैसे सुवर्णकार तार को यन्त्र के छोटे से छोटे संकुचित छिद्र में से किसी मोटे तार को खींचकर निकाले। इस समय के दुःख का भी अनुमान क्या हो सकता है?

(ग) जरा-दुःख—बुढ़ापे में इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं, ठीक-ठीक काम नहीं देतीं। जठराग्नि मन्द होने के कारण पाचनशक्ति घट जाने से शरीर की पुष्टि भी नहीं की जा सकती, कि जिससे इन्द्रियां बलवान् हो सकें। दांतों के बिना भक्ष्य भोज्य का यथावत् चर्वण न हो सकने के कारण शीघ्र पच सकने योग्य पोषक पदार्थ भी उदर में नहीं पहुंचाया जा सकता। बुद्धिहीन और अशक्त होने के कारण पुत्र कलत्र मित्र सब की आंखों में वृद्ध पुरुष खटकता है। मानहीन प्रतिष्ठाभङ्ग होकर अन्धे बहरे लूले लंगड़े के समान एक ओर तिरस्कृत होकर कालक्षेपण वा ज्यों-त्यों करके जीवन का क्षण-क्षण अत्यन्त कष्ट के साथ पूरा करना पड़ता है।

(घ) रोग-दुःख—रोग किंचिन्मात्र भी शरीर में असह्य होता है। जो लोग आरोग्य के कारण नीरुज (=नीरोगी) गिने जाते हैं, उनको भी कुछ न कुछ पीड़ा किसी न किसी अंश में सदा रहती है, क्योंकि रोग काया का मानों धर्म ही है। फिर रोगयुक्त पुरुषों की क्या कथा है, जिसको भोगनेवाला ही जान सकता है। दूसरा कोई क्या वर्णन कर सकेगा।

(ङ) मरण-दुःख—[प्रथम-] मरणभय का अनुभव कृमि से लेकर हस्ती और मनुष्य पर्यन्त अर्थात् क्षुद्रबुद्धि और क्षुद्रकाय जन्तु कीट-पतंग पशु-पक्षी सब ही करते हैं। अतः जानना चाहिये कि इस से भी अधिक भयावह दुःख अन्य क्या हो सकता है? असह्य दुःखों से व्यथित कुष्ठी कलंकी अतिदीन जनविहीन भी मरना नहीं चाहते।

दूसरे—प्राण-प्रयाण समय में जब प्राणों और जीवत्मा से देह के वियोग होने का समय आता है, उस अवसर की कथा शास्त्रों से भी अति कष्टप्रद जानी जाती है।

तीसरे—मनुष्य जन्मभर अपने सुख-भोगों की सामग्री इकट्ठी करते-करते पच मरता है। इस प्रकार संकट से प्राप्त उस धनादि पदार्थ को एकाएकी-झटपट बिना भोगे छोड़ते हुये जो व्याकुलता वा पश्चात्तापादि होता है, सो भी अकथनीय है। परन्तु पराधीनता से अवश होकर हाथ मलता सिर धुनता हुआ सब कुछ छोड़ मरता है।

चौथे—धर्माधर्म पाप-पुण्य शुभाशुभ आदि कर्म अपने जीवनभर स्वतन्त्रता से बिना रोक-टोक करता रहता है, किन्तु मरण-समय अपने पापों को स्मरण कर-कर के भय खाता है कि न जाने परमात्मा किस भारी घोर नरकरूप दुःख इन सब कर्मों के परिणाम में देगा? इत्यादि कारणों से मरण का दुःख भी महा दारुण है।

पांचवें—जन्मान्तरों में अनेक बार मृत्यु के दुःखों को भोगते-भोगते पूर्वसंस्कार-जन्य ज्ञान वा अनुभव की स्मृति मरण-समय उद्भावित हो जाने पर देह से वियोग करता हुआ जीवत्मा अत्यन्त भयभीत होता है। इत्यादि अनेक प्रकार के दुःख मरण में प्राप्त होते हैं।

सृष्टिरचना-क्रम

अब जिज्ञासुओं के हितार्थ वेदादि सत्यशास्त्रों के अनुसार सृष्टि-रचना-क्रम संक्षेप से वर्णन किया जाता है। पूर्व वर्णन हो चुका है कि सम्पूर्ण विराट् (=ब्रह्माण्ड) की नेमि (=योनि) त्रिगुणात्मक प्रकृति है। उस को ही भोग करता हुआ जीवात्मा फंस जाता है, और ईश्वर की न्यायव्यवस्था के अनुसार सुख-दुःख भोगता है। ईश्वर जीव और प्रकृति ये तीनों अज हैं। इनका कभी जन्म नहीं

हुआ। अतः ये तीनों ही अनादि काल से जगत् के कारण हैं, इनका कारण कोई नहीं। इस विषय में प्रमाण नीचे लिखा है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥ सांख्य अ० १। सूत्र ६१ ॥

[सत्यार्थप्रकाश अष्टमसमुल्लास, पृष्ठ ३०७ तथा ३२६]

अर्थ—सत्त्व=शुद्ध, रज=मध्य, तमः=जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तुएं मिलाकर जो एक संघात है, उसका नाम 'प्रकृति' है। उस प्रकृति से प्रथम महत्तत्त्व (=बुद्धि) उत्पन्न हुआ, बुद्धि (=महत्तत्व) से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा (=सूक्ष्म भूत) और दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, जो इन्द्रियों स स्थूल है। पञ्चतन्मात्राओं से पृथिव्यादि पञ्च स्थूल भूत ये चौबीस २४ पदार्थ क्रमशः उत्पन्न हुये, और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा सब मिल कर यह पच्चीस तत्त्वों का समुदाय सम्पूर्ण जगत् का कारण है। इन में से प्रकृति अविकारिणी, और महत्तत्त्व अहंकार तथा पञ्च सूक्ष्म भूत प्रकृति का कार्य,और इन्द्रियां मन तथा स्थूल भूतों का कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति (=उपादान कारण) और न किसी का कार्य है ॥

ओं चतुस्त्रिꣳशत्तन्तवो ये वितत्निरे यऽ इमं यज्ञꣳ स्वधया ददन्ते ।
तेषां छिन्नꣳ सम्वेतद्दधामि स्वाहा घर्मो अप्येतु देवान् ॥

यजुः अ० ८। मन्त्र ६१ ॥

अर्थ—इस श्रुति में इस प्रत्यक्ष यज्ञ(=चराचर जगत्)की उत्पत्ति के ३४ कारण तत्त्व कहे हैं। अर्थात् ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र (=जीवात्मा), एक प्रजापति (=परमात्मा), और चौतीसवीं प्रकृति। जिज्ञासु वा योगी को उन सब के गुण और लक्षण जानने उचित हैं। क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान हुए बिना यथावत् सुख नहीं प्राप्त होता, और योग भी सिद्ध नहीं होता ॥

अतएव यहां उन सब की संक्षिप्त व्याख्या की जाती है। उन में

से पूर्व कथनानुसार पुरुष नाम जगन्निर्माता प्रजापति परमात्मा तो इस देहचक्र का निर्माणकर्त्ता है, तथा पुरुष (=इन्द्र वा जीवात्मा) वक्ष्यमाण द्रव्यादि से बने हुए देहरूप चक्र को ध्यानयोग से चलाने ठहराने चिरस्थायी रखने, और अन्य अनेक कार्यों में उपयुक्त करने-वाला है।

आगे द्रव्यों के नाम और गुण कहे जाते हैं। यथा—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥ वै० अ० १। आ० १। सू० ५ [स० प्र० समु० ३, पृष्ठ ८५] ॥

अर्थ—(१) पृथिवी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिशा (८) आत्मा, और (९) मन, ये नव द्रव्य कहाते हैं ॥

क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ वै० अ० १। आ० १। सूत्र १५ [स० प्र० समु० ३, पृ० ८५] ॥

अर्थ— द्रव्य के लक्षण ये हैं—जिस में क्रिया और गुण अथवा केवल गुण ही रहें, और जो मिलने का स्वभावयुक्त कारण कार्य से पूर्व कालस्थ हो, उसी कारणरूप तत्त्व को 'द्रव्य' कहते हैं। जैसे मिट्टी और घड़े का समवायी सम्बन्ध है ॥

उक्त नव द्रव्यों में से पृथिवी, जल, तेज (=अग्नि), वायु, मन, और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुणवाले हैं। तथा आकाश काल और दिशा इन तीन द्रव्यों में केवल गुण ही है, क्रिया नहीं।

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयः सुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥ वै० अ० १। आ० १। सू० ६ [स० प्र० समु० ३, पृष्ठ ८८] ॥

गुरुत्वद्रव्यत्वस्नेहसंस्कारधर्माधर्मौ शब्दाश्चैते सप्त मिलित्वा चतुर्विंशति गुणाः संख्यायन्ते ॥ [स० प्र० समु० ३, पृ० ८९] ॥

अर्थ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये

सत्रह १७ गुण तो वैशेषिक शास्त्र के अनुसार हैं। परन्तु सात गुण और भी ये हैं। यथा—गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, और शब्द। ये सब २४ गुण सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास की भाषा (पृष्ठ ८८) में गिनाये गये हैं। वहां सविस्तर इस विषय का वर्णन किया गया है।

आगे वेदों के अनुसार संक्षेप से सृष्टि-रचना की व्याख्या करते हैं—

वेदोक्त-सृष्टिविद्या

ओं सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः॥
ऋक् मण्ड० १। सू० १६४। मन्त्र ३६॥

अर्थ—(ये सप्त अर्धगर्भाः)जो सात आधे गर्भरूप अर्थात् पञ्चीकरण को प्राप्त महत्तत्त्व अहंकार पृथिवी अप तेज वायु आकाश के सूक्ष्म अवयवरूप शरीरधारी (भुवनस्य रेतः [निर्माय]) संसार के बीज को उत्पन्न करके (विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि तिष्ठन्ति) व्यापक परमात्मा की आज्ञा से अर्थात् उसकी आज्ञारूपी वेदोक्त व्यवस्था से अपने से विरुद्ध धर्मवाले आकाश में स्थिर होते हैं (ते धीतिभिः ते मनसा [च]) वे कर्म के साथ तथा वे विचार के साथ (परिभुवः विपश्चितः) सब ओर से विद्या में कुशल विद्वज्जन (विश्वतः परिभवन्ति) सब ओर से तिरस्कृत करते हैं। अर्थात् उनके यथार्थ भाव जानने को विद्वज्जन भी कष्ट पाते हैं॥

भावार्थ—जो महत्तत्त्व अहंकार और पञ्च सूक्ष्मभूत सात पदार्थ हैं, वे पञ्चीकरण को प्राप्त हुए सब स्थूल जगत् के कारण हैं। और चेतन से विरुद्ध धर्मवाले जड़रूप अन्तरिक्ष में बसते हैं। जो यथावत् सृष्टिक्रम को जानते हैं, वे विद्वान् जन सब ओर से सत्कार को प्राप्त होते हैं। और जो इसको नहीं जानते, वे सब ओर से तिरस्कार को प्राप्त होते हैं॥

पृथिवी आदि जगत् के पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव को जानकर विद्या और बुद्धि-बल की वृद्धि करने के लिये वेदोक्त ईश्वराज्ञा

ओं त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाऽऽक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाऽधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥ यजु० अ० १५ । मन्त्र ९ ॥

अर्थ—[हे मनुष्य त्वम्] हे मनुष्य ! तू (त्रिवृत् असि त्रिवृते त्वा [अहं परिगृह्णामि]) सत्त्व रज और तमोगुण के सह वर्तमान अव्यक्त कारण का ज्ञाननेहारा है। उस तीन गुणों से युक्त कारण के ज्ञान के लिये तुझ को मैं सब प्रकार से ग्रहण करता हूं। तथा (प्रवृत् असि प्रवृते त्वा) तू जिस-जिस कार्यरूप से प्रवृत्त संसार का ज्ञाता है, उस-उस कार्यरूप संसार को जानने के लिये तुझको, (विवृत् असि विवृते त्वा) तू जिस विविध प्रकार से प्रवृत्त जगत् का उपकार कर्त्ता है, उस जगदुपकार के लिये तुझको, (सवृत् असि सवृते त्वा) तू जिस समान धर्म के साथ वर्त्तमान पदार्थों का जाननेहारा है, उस साधर्म्य पदार्थों के जानने के लिये तुझ को, (आक्रमः असि आक्रमाय त्वा) तू अच्छे प्रकार पदार्थों के रहने के स्थान जिस अन्तरिक्ष का जाननेवाला है, उस अन्तरिक्ष को जानने के लिये तुझको, (संक्रमः असि संक्रमाय त्वा) तू सम्यक् पदार्थों को जानता है, उस पदार्थ-ज्ञान के लिये तुझको, (उत्क्रमः असि उत्क्रमाय त्वा) तू ऊपर मेघ-मण्डल की गति का ज्ञाता है, उस मेघमण्डल की गति को जानने के लिये तुझको, (उत्क्रान्तिः असि उत्क्रान्त्यै त्वा [अहं परिगृह्णामि]) हे स्त्री ! तू सम-विषम पदार्थों के उल्लङ्घन के हेतु विद्या को जानने-हारी है, उस गमनविद्या के जानने के लिये तुझको मैं सब प्रकार से ग्रहण करता हूं। ([तेन स्वेन] अधिपतिना सह त्वं ऊर्जा ऊर्जम् जिन्व) उस अपने स्वामी के सह वर्त्तमान तू पराक्रम से बल को प्राप्त हो ॥

भावार्थ—पृथिवी आदि पदार्थों के गुण और स्वभाव जाने बिना कोई भी विद्वान् नहीं हो सकता। इस लिये कार्य कारण दोनों को यथावत् जानकर अन्य मनुष्यों के लिये उपदेश करना चाहिये ॥

ओं विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिद् गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा ॥
यजुः अ० १७। मं० ३२ ॥

अर्थ—([हे मनुष्याः ! अत्र जगति] विश्वकर्मा देवः [आदिमः] इत् अभवत्) हे मनुष्यो ! इस जगत् में जिसके समस्त शुभ काम हैं, वह दिव्यस्वरूप वायु प्रथम ही उत्पन्न होता है। (आत् गन्धर्वः अजनिष्ट) इसके अनन्तर जो पृथिवी को धारण करता है, वह सूर्य वा सूत्रात्मा वायु उत्पन्न होता है। और (ओषधीनाम् अपाम् पिता हि द्वितीयः) यवादि ओषधियों जलों और प्राणों का पिता=पालन करनेहारा ही दूसरा, अर्थात् धनञ्जय। तथा ([यः] गर्भं व्यदधात् स पुरुत्रा जनिता [पर्जन्यः] तृतीयः [अभवत् इति भवन्तः विदन्तु]) जो गर्भ अर्थात् प्राणों के धारण का विधान करता है, वह बहुतों का रक्षक जलों का धारण करनेवाला मेघ तीसरा उत्पन्न होता है। इस विषय को आप लोग जानो ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को यह जानना योग्य है कि इस संसार में सब कामों के सेवन करनेहारे जीव पहिले, बिजली अग्नि वायु और सूर्य पृथिवी आदि लोकों के धारण करनेहारे हैं वे दूसरे, और मेघ आदि तीसरे हैं। उन में पहिले जीव अज हैं, अर्थात् उत्पन्न नहीं होते। और दूसरे-तीसरे उत्पन्न हुये हैं, परन्तु वे भी कारण रूप से नित्य हैं॥

——:o:——

ऋतुचक्र

यह ऋतुओं का चक्र किसने रचा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

ओम् एकयाऽस्तुवत प्रजाऽधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् सप्तभिरस्तुवत सप्तऽ ऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ॥

यजु० अ० १४ । मं० २८ ॥

अर्थ—(हे मनुष्याः ! यः प्रजापतिः अधिपतिः=सर्वस्य स्वामी ईश्वरः आसीत्, सर्वाः प्रजाः च अधीयन्त, तम् एकया अस्तुवत) हे मनुष्यो ! जो प्रजा का रक्षक सब का अध्यक्ष परमेश्वर है, और जिसने सब प्रजा के लोगों को वेद द्वारा विद्यायुक्त किया है, उसकी एक वाणी से स्तुति करो। (यः ब्रह्मणस्पतिः अधिपतिः आसीत्, येन इदं सर्वविद्यामयं ब्रह्म=वेदः असृज्यत, तम् तिसृभिः अस्तुवत) जो वेद का रक्षक, सब का स्वामी परमात्मा है, जिसने यह सकलविद्यायुक्त ब्रह्म (=वेद) को रचा है, उसकी प्राण उदान व्यान इन तीन वायुओं की गति से स्तुति करो। (येन भूतानि असृज्यन्त, यः भूतानां पतिः अधिपतिः आसीत्, तं पञ्चभिः अस्तुवत) जिसने पृथिवी आदि भूतों को रचा है, जो सब भूतों का रक्षक और रक्षकों का भी रक्षक है, उसकी समान वायु चित्त बुद्धि अहंकार और मन इन पांचों से स्तुति करो। (येन सप्तऋषयः असृज्यन्त, यः धाता अधिपतिः आसीत्, तं सप्तभिः अस्तुवत) जिसने पांच मुख्य प्राण, महत्तत्त्व=समष्टि और अहंकार ये सात पदार्थ रचे हैं, जो धारण वा पोषणकर्त्ता सब का स्वामी है, उसकी नाग कूर्म कृकल देवदत्त धनञ्जय इन पांच प्राण, छठी इच्छा और सातवां प्रयत्न इन सातों से स्तुति करो ॥

तैंतीस देवता

ओं त्रयो देवाएकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः ।
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे । देवा देवैरवन्तु मा॥

यजु० अ. २० । मं. ११ ॥

अर्थ—(ये त्रयः देवाः) जो तीन प्रकार के दिव्य गुणवाले पदार्थ (बृहस्पतिपुरोहिताः) जिन में बड़ों का पालन करनेहारा सूर्य प्रथम धारण किया हुआ है, (सुराधसः) जिनसे अच्छे प्रकार कार्यों की सिद्धि होती है, वे (एकादश त्रयस्त्रिंशाः) ग्यारह और तेंतीस दिव्य गुणवाले पदार्थ,(सवितुः देवस्य सवे [वर्त्तन्ते])सब जगत् की उत्पत्ति करनेहारे प्रकाशमान ईश्वर के परमैश्वर्य युक्त किये हुए जगत् में हैं, (तैः देवैः [सहितं] मा)उन पृथिव्यादि तेंतीस पदार्थों के सहित मुझको (देवाः अवन्तु=उन्नतं सम्पादयन्तु) विद्वान् लोग रक्षित और बढ़ाया करें ॥

भावार्थ—जो पृथिवी जल तेज वायु आकाश सूर्य चन्द्र और नक्षत्र ये आठ वसु, और प्राण अपान व्यान उदान समान नाग कूर्म कृकल देवदत्त धनञ्जय तथा ग्यारहवां जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र, द्वादश आदित्य नाम बारह महीने, बिजली और यज्ञ इन तेंतीस दिव्यगुणवाले पृथिव्यादि पदार्थों के गुण कर्म और स्वभाव के उपदेश से जो सब मनुष्यों की उन्नति करते हैं, वे सर्वोपकारक होते हैं ॥

देहादि-साधन-विहीन जीव अशक्त है

ओं न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥
ऋक् मण्ड० १ । सू० १६४ । मन्त्र ३७ ॥

अर्थ—(यदा प्रथमजा मा आ अगमन्) जब उपादान कारण प्रकृति से उत्पन्न हुए पूर्व-मन्त्रोक्त महत्तत्वादि मुझ जीव को प्राप्त हुए, अर्थात् जब उन महत्तत्वादि की स्थूल शरीरावस्था हुई, (आत् इत् ऋतस्य अस्याः वाचः भागम् भागम् अश्नुवे) उस के अनन्तर ही सत्य के और इस वाणी के भाग को अर्थात् विद्या-विषय को मैं प्राप्त होता हूं । ([यावत्] इदं [प्राप्तं न] अस्मि) जब तक इस शरीर को प्राप्त नहीं होता हूं, ([तावत् उक्तं] अस्मि न वि=विशेषेण

जानामि) तब तक उस उक्त विषय को यथावत् जैसा का तैसा विशेषता से नहीं जानता हूं । किन्तु (मनसा सन्नद्धः निण्यः[1] चरामि) अन्तःकरण के विचार से अच्छे प्रकार बंधा हुआ अन्तर्हित अर्थात् उस विचार को भीतर स्थिर किये हुए विचरता रहता हूं ॥

भावार्थ—अल्पज्ञता और अल्प-शक्तिमत्ता के कारण साधनरूप इन्द्रियों के बिना जीव सिद्ध करने योग्य वस्तु को नहीं ग्रहण कर सकता । किन्तु जब श्रोत्रादि-इन्द्रियों को प्राप्त होता है, तब जानने के योग्य होता है । जब तक विद्या से सत्य पदार्थ को नहीं जानता, तब तक अभिमान करता हुआ पशु के समान विचरता है ॥

ओम् अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥
ऋ० मण्ड० १ । सू० १६४ । मं० ३८ ॥

अर्थ—([यः] स्वधया अपाङ् प्राङ् एति) जो जलादि पदार्थों के साथ वर्त्तमान उलटा-सीधा प्राप्त होता है, ([यः] गृभीतः अमर्त्यः [जीवः]) जो ग्रहण किया हुआ मरणधर्मरहित जीव, (मर्त्येन सयोनिः [अस्ति]) मरणधर्मसहित शरीरादि के साथ एक स्थानवाला हो रहा है, (ता=तौ मर्त्याऽमर्त्यौ जडचेतनौ) वे दोनों (=मर्त्य-अमर्त्य अर्थात् मृत्युधर्मसहित तथा मरणधर्मरहित) जड़-चेतन (शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता [वर्त्तेते]) सनातन सर्वत्र जानेवाले और नाना प्रकार से प्राप्त होनेवाले वर्त्तमान हैं । ([तम्] अन्यं [विद्वांस] निचिक्युः) उन में से उस एक शरीरादि के धारण करनेवाले चेतन और मरणधर्म-रहित जीव को विद्वान् जन निरन्तर जानते हैं । ([अविद्वांसश्च] अन्यं न निचिक्युः) और अविद्वान् लोग उस एक को वैसा नहीं जानते ॥

भावार्थ—इस जगत् में दो पदार्थ वर्त्तमान हैं—एक जड़,

१. निण्यः इति निर्णीतान्तर्हितनाम । निघं० ३।२५

दूसरा चेतन। उन में से जड़ अन्य पदार्थ को तथा अपने रूप को नहीं जानता, परन्तु चेतन अपने स्वरूप को तथा दूसरे को जानता है। दोनों अनुत्पन्न अनादि और विनाश-रहित वर्त्तमान हैं। जड़ को (=अर्थात् शरीरादि परमाणुओं के संयोग से स्थूलावस्था को) प्राप्त हुआ चेतन जीव संयोग वा वियोग से स्थूल और सूक्ष्म सा भान होता है, परन्तु वह एक तार (=एकरस) स्थिर जैसा है, वैसा ही ठहरता है॥

यहां सृष्टिविद्यादि विषयों का प्रकरणानुकूल संकेतमात्र कथन किया गया है। विस्तृत व्यवस्था उन सब की तत्तद्विषयक वेदानुकूल सत्यग्रन्थों से जिज्ञासु को जानना आवश्यक है। क्योंकि—

नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः॥ सांख्य अ० १। सू० ६॥

निष्फल कर्म के लिये ऋषि लोग कदापि उपदेश नहीं किया करते। अतएव उपरोक्त सम्पूर्ण विषय को अच्छे प्रकार श्रवण-चतुष्टय द्वारा समझकर उससे उपयोग लेना चाहिये।

——:o:——

ध्यानयोग की प्रधानता

ध्यानपूर्वक समझने की वार्ता है कि जैसे अग्नि और इन्धन के संयोग से अग्नि के दाहकगुणरूप निजशक्ति का प्रकाश तथा उससे धूम्र की उत्पत्ति आदि व्यवहार भी होता है, इस ही प्रकार जीवात्मा और प्रकृतिजन्य शरीर के ही संयोग से जीवात्मा की निज शक्ति द्वारा संपूर्ण शुभाशुभ चेष्टा इन्द्रियों के प्रकाश से प्रादुर्भूत होती है, अन्यथा सब चेष्टामात्र का होना असम्भव है। परन्तु—

अल्पज्ञ जीवात्मा अविद्या के कारण अन्तःकरण तथा इन्द्रियों के वशीभूत होकर अनेक विषयों के फन्दों मे फंसा हुआ अनेक संकल्प-विकल्परूप मानसिक, तथा इन्द्रियों द्वारा कायिक वाचिक अधर्मयुक्त चेष्टायें करता हुआ, वा विविध संशयों में व्याकुल होता हुआ चेष्टारूपी चक्र में भ्राम्यमाण रहता है। 'ध्यानयोग' द्वारा इस

चक्रभ्रमणरूप प्रवाह का सर्वथा निवारण करके जब उक्त जीव परमात्मा में प्रीति करता है, तब योग को प्राप्त होता है। इस कथन से सिद्ध है कि योग सिद्ध होना अर्थात् परमात्मा के ज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य साधन एक ध्यान ही है।

यह नियम है कि बिना ध्येय पदार्थ के ध्यान नहीं हो सकता। अतएव 'ध्यानयोग' में इस क्रम से ध्येय पदार्थों का ग्रहण होता है कि प्रथम पञ्च प्राण, द्वितीय दशेन्द्रियगण, तृतीय मन, चतुर्थ अन्तःकरण-चतुष्टय इत्यादि अनेक स्थूल से स्थूल पदार्थों से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों पर्यन्त क्रमशः इस प्रकार परिज्ञान प्राप्त करना चाहिये कि एक-एक पदार्थ को ध्येय स्थापित करके निरन्तर कुछ काल-पर्यन्त अभ्यास कर-करके पृथक्-पृथक् एक-एक पदार्थ को जाने। इन पदार्थों का यथावत् ज्ञान हो जाने के पश्चात् जीवात्मा को अपने निज स्वरूप का भी ज्ञान होता है। अपने स्वरूप का ज्ञान होते ही जीवात्मा परमात्मा को भी विचार लेता है। क्योंकि परमात्मा ज्ञान का भी ज्ञान है।

प्राणों का ज्ञान प्राप्त होते ही जान लिया जाता है कि सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में प्राण ही चलाते हैं, तथा सब चेष्टायें इन्द्रियों द्वारा ही होती हैं। क्योंकि 'व्यान वायु' नामक प्राण ही सब चेष्टाओं को करता है। अतः शरीर में प्राण ही सब चेष्टा करने में कारण ठहरे। सो प्राणों के सकाश से ज्ञानेन्द्रियों द्वारा चित्त की वृत्तियां बाहर निकल कर विषयों में फैलती हैं। इसलिये एक-एक वृत्ति को ध्येय जानकर 'ध्यानयोग' द्वारा पृथक्-पृथक् रोकना चाहिये, और उन को पहचानना भी चाहिये। क्योंकि पहचाने बिना वे वृत्तियां रोकी भी नहीं जा सकतीं, और योग कदापि सिद्ध नहीं हो सकता।

विषयों में बाहर फैली हुई वृत्तियों को भीतर की ओर मोड़ना चाहिये। मन को वृत्तियों में तथा इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त

करना, अथवा मन और इन्द्रियों को वृत्तियों और विषयों से रोक वा मोड़ कर भीतर की ओर ले जाना जीवात्मा के आधीन है। क्योंकि वस्तुतः जीवात्मा ही इन्द्रियादि को अपने वश में रखकर उनसे काम लेनेवाला अधिष्ठता वा राजा के समान प्रधान कारण है, और प्राण तथा इन्द्रियादि पदार्थ सब प्रजास्थानी हैं। जिस मनुष्य का जीवात्मा अविद्यान्धकार में फंसकर प्राण और इन्द्रियादि के आधीन रहे,उसको उचित है कि 'ध्यानयोग' द्वारा उस अविद्यान्धकार को प्रयत्न और पुरुषार्थ करके नष्ट करे।

जीवात्मा जब वायु (=प्राणों) को प्रेरणा करता है, तब वे प्राण इन्द्रियों की वृत्ति को बाहर निकालकर उनके विषयों में प्रवृत्त कर देते हैं। इस विषय का पूर्ण ज्ञान तब होता है,जब 'ध्यानयोग' का निरन्तर अभ्यास करते-करते जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। 'ध्यानयोग' की परिपक्व दशा समाधि है। उस अवस्था में मग्न हुई जीवात्मा को परमात्मा का साक्षात्कार होता है। और ध्यान के ही आश्रय से मनुष्य के सारे लौकिक व्यवहार ठीक-ठीक चलते हैं। ध्यान ही का डिग जाना विघ्नकारक है।

इन्द्रजाली (=बाजीगर) इस ध्यान के ही सहारे से कैसे आश्चर्यजनक कौतुक करते हैं। जितना चिर इन मायावी लीलाओं के सीखने-सिखाने में कौतुकी लोग अपने मन को वशीभूत करके एक ही विषय में सर्वथा अपना ध्यान ठहराकर उदरनिमित्त द्रष्टाओं को प्रसन्न करके अपना अर्थ सिद्ध कर लेते हैं, यदि उसका दशमांश काल भी श्रमपूर्वक योगविद्या के अभ्यास द्वारा परमेश्वर में ध्यान स्थिर करके निरन्तर निरालस पुरुषार्थ जो कोई करे, तो उसको धर्मार्थ काम और मोक्ष चारों पदार्थ अवश्यमेव प्राप्त हो जाते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

योगानुष्ठानविषयक वेदोक्त-ईश्वराज्ञा

ओं युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या ऽअध्याभरत् ॥१॥

अर्थ—इस मन्त्र में ईश्वर ने योगाभ्यास का उपदेश किया है। योग को करनेवाले मनुष्य तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये प्रथम जब अपने मन को परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। फिर वह परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं। पृथ्वी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण हैं ॥१॥ इसलिये—

ओं युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥२॥

अर्थ—सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि हम लोग मोक्षसुख के लिये यथायोग्य सामर्थ्य के बल से परमेश्वर की सृष्टि में उपासनायोग करके अपने आत्मा को शुद्ध करें। जिससे कि अपने शुद्धान्तःकरण द्वारा परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों॥२॥

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य समाहित मन और आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त होकर योग का अभ्यास करें, तो अवश्य सिद्धियों को प्राप्त हो जावें ॥

ओं युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥

अर्थ—इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी उपासकों को अत्यन्त सुख देके उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है। वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उन आत्माओं में बड़े प्रकाश को प्रकट करता है। और जो सब जगत् का पिता है, वही उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है। परन्तु जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे; उन ही

उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देकर सदा के लिये आनन्दयुक्त कर देगा ॥३॥

इस ही लिये—

ओं युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥

अर्थ—जीव को परमेश्वर की उपासना अवश्य नित्य करनी चाहिये । अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें । और जो लोग ईश्वर के उपासक, बड़े-बड़े बुद्धिमान्, उपासनायोग के ग्रहण करनेवाले हैं, वे लोग सब को जाननेवाले, सब से बड़े, और सब विद्याओं से युक्त परमेश्वर के बीच में अपने मन को ठीक-ठीक युक्त कर देते हैं । तथा अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं । जो परमेश्वर इस सब जगत् का धारण और विधान करता है, जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है । वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है । उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश और सब की रचना करनेवाले परमेश्वर की हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें । कैसी वह स्तुति है कि मही=सब से बड़ी, अर्थात् जिसके समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती ॥४॥

इसलिये—

ओं युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥
यजु० अ० ११ । मं० १-५ । [ऋ०भा०भू० पृष्ठ १७८-१७९] ॥

अर्थ—उपासना का उपदेश देनेवाले और ग्रहण करनेवाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम सनातन ब्रह्म की सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति-पूर्वक सत्यसेवा से उपासना करोगे, तब मैं तुमको आशीर्वाद दूंगा कि सत्यकीर्त्ति तुम दोनों को ऐसे प्राप्त हो जैसे कि परम विद्वान्

को धर्म-मार्ग यथावत् प्राप्त होता है। फिर वही परमेश्वर सब को उपदेश भी करता है कि हे मोक्ष मार्ग के पालन करनेहारे मनुष्यो ! तुम सब लोग ध्यान देकर सुनो कि जिन दिव्य लोकों अर्थात् मोक्ष-सुखों को पूर्वज लोग प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त होवो। इसमें सन्देह मत करो। इसीलिये मैं तुम को उपासनायोग में युक्त करता हूं ॥५॥

ब्रह्मज्ञानोपाय

उपरोक्त वेद-मन्त्रों से जिस ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश किया गया है, उसके जानने के हेतु 'केनोपनिषद्' में इस प्रकार प्रश्न स्थापित किये हैं कि—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥१॥

केन उ० खं० १। मं० १॥

अर्थ—वह कौनसा देव है कि जिसके नियत किये हुए नियमों के अनुसार प्रेरणा किया हुआ मन तो अपने विषयों की ओर दौड़ता है, तथा शरीर के अङ्ग-उपाङ्गों में फैला हुआ प्राण अपना सञ्चार-रूप व्यापार करता है। मनुष्य इस वाणी को बोलते हैं, और जो नेत्र तथा कान आदि इन्द्रियों को अपने-अपने कार्यों में युक्त करता है? ॥१॥

अगले मन्त्र में कहे उत्तर से परमात्मा का सर्व-नियन्तापन निश्चय कराया है—

सर्वनियन्ता ईश्वर है

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

केन० उप० खं० १। मं० २॥

अर्थ—जो परमात्मा व्यापक होने से कान का कान, मन का

मन, वाणी का वाणी, प्राण का प्राण और चक्षु का चक्षु है, उसी ब्रह्म की प्रेरणा वा नियत किये हुए नियमों के अनुसार मन आदि इन्द्रिय-गण अपनी-अपनी चेष्टा करने को समर्थ होते हैं। इसीलिये 'अति-मुच्य'=शरीर मन और इन्द्रियादि की चेष्टावृत्ति तथा विषय-वासना का संग छोड़कर ध्यानयोग करनेवाले योगीजन इस लोक से मरने के पश्चात् मरणधर्मरहित मोक्ष को प्राप्त होकर अमर हो जाते हैं॥ २॥

अर्थात् पूर्व-मन्त्रोक्त चक्षु आदि को परमात्मा नें अपने निज-निज नियम में नियत करके जीवात्मा को सौंपकर उस के आधीन कर दिया है। उस ब्रह्म की प्रेरणा से ही ये सब जीव का यथेष्ट काम करते हैं, जब कि जीवात्मा इन को अपनी इच्छानुकूल प्रेरित करता है। यह भी ईश्वर का नियत किया हुआ ही नियम है कि वे सब अपने-अपने काम के अतिरिक्त अन्य का काम नहीं कर सकते। यथा—आँख से देखने के अतिरिक्त सुनना सूंघना आदि अन्य इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता। तथा भौतिक स्थूल विषयों वा पदार्थों के अतिरिक्त सूक्ष्म पदार्थों का भी ग्रहण नहीं कर सकते। अर्थात् परमात्मा उक्त मन आदि द्वारा नहीं जाना जाता॥

सो विषय उक्त 'केनोपनिषद्' के प्रथम खण्डस्थ तृतीय मन्त्र से लेकर आठवें मन्त्र अर्थात् प्रथम खण्ड की समाप्ति-पर्यन्त कहा है कि जहां चक्षु वाणी मन श्रोत्र प्राण आदि नहीं पहुंच सकते, अर्थात् जो चक्षु आदि द्वारा नहीं पहिचाना जाता, किन्तु जिसकी सत्ता से चक्षु आदि निज-निज व्यापार में नियत हैं, उस ब्रह्म को अपना उपास्य (=इष्ट) देव जानना और मानना चाहिये। किन्तु चक्षु वाणी मन श्रोत्र तथा प्राण आदि को ब्रह्म मत जानो।

शरीर का रथरूप में वर्णन

अब ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये इन्द्रियादि साधनों समेत

शरीर का रथरूप से वर्णन करते हैं; जैसा कि कठोपनिषद् में रूपकालङ्कार से वर्णित है—

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥१॥
> कठ० उ०[1] व० ३ । मं० ३ ॥

अर्थ—जीवात्मा को रथी नाम रथ का स्वामी जानो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि (=घोड़ोंरूप इन्द्रियों का हांकनेवाला), और मन को लगाम की रस्सी जानो ॥१॥

> इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांऽस्तेषु गोचरान् ।
> आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ २ ॥
> कठ० उप० व० ३ । मं० ४ ॥

अर्थ—क्योंकि मन को वश में करनेवाले मनीषी (=योगीजन) लोग सम्पूर्ण इन्द्रियों को शरीररूप रथ के खींचनेवाले घोड़े बताते हैं, विषयों को उन घोड़ों के चलने का मार्ग, और शरीर इन्द्रिय और मन करके युक्त जीवात्मा को भोक्ता (=विषयों का भोगनेवाला) बतलाते हैं ॥२॥

अतः जो जीव अपने मनरूप लगाम को वश में करेगा, उसके इन्द्रियरूप घोड़े भी स्वाधीन रहेंगे। अन्यथा देहरूप रथ को विषयों के समुद्र में डुबा देंगे।

आगे योगी और अयोगी पुरुषों के लक्षण कहे जाते हैं। जिसके विवेक द्वारा मुमुक्षुजनों को उचित है कि योगी पुरुषों के आचरणों को ग्रहण करके विषयलम्पट जनों के मार्ग को त्याग दें।

---

१. कठ उपनिषद् में वल्ली की गणना दो प्रकार से होती है। एक प्रति अध्याय पृथक्-पृथक् और दूसरी सम्पूर्ण उपनिषद् की वल्लियों की इकट्ठी गणना। यहां ग्रन्थकार ने द्वितीय गणना स्वीकार करके अध्याय का निर्देश नहीं किया है।

जीव का कर्त्तव्य

मन से आत्मा के बीच में कैसे प्रयत्न करें, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

ओम् उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम् ।
उरुष्य रायऽ एषो यजस्व ॥ यजु: अ० ७ । मं० ४ ॥

पदार्थ—[हे योगजिज्ञासो ! यतस्त्वम्] हे योग चाहनेवाले जिज्ञासु ! जिस कारण तू (उपयामगृहीत:=उपात्तैर्यमैर्गृहीत इव) योग में प्रवेश करनेवाले नियमों से ग्रहण किये हुए के समान (असि) है। [तस्मात्] इस कारण से (अन्त:=आभ्यन्तरस्थान् प्राणादीन्] भीतर जो प्राणादि पवन मन और इन्द्रियां हैं, उनको (यच्छ=निगृहाण) नियम में रख । हे (मघवन्=परमपूजितधनिसदृश ! त्वम्) परम पूजित धनी के समान! तू (सोमम्=योगसिद्धमैश्वर्यम्) योगविद्या-सिद्ध ऐश्वर्य की (पाहि=रक्ष) रक्षा कर। (उरुष्य=योगाभ्यासेनाविद्यादिक्लेशानन्तं नय) और जो अविद्या आदि क्लेश हैं, उन को अत्यन्त योगविद्या के बल से नष्ट कर।([यत:] राय:=ऋद्धिसिद्धिधनानि) जिससे ऋद्धि-सिद्धि और धन (इष:=इच्छा-सिद्धी:) और इच्छा मे सिद्धियों को (आ यजस्व) सब ओर से अच्छे प्रकार प्राप्त हो ॥

भावार्थ—योग-जिज्ञासु पुरुष को चाहिये कि यम-नियम आदि योग के अङ्गों से चित्त आदि अन्त:करण की वृत्तियों को रोके। और अविद्यादि-दोषों का निवारण करके संयम से ऋद्धि-सिद्धियों धन और इच्छा-सिद्धियों को सिद्ध करे ॥

ओं युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति ।
को विश्वाहा द्विषत: पक्ष आसत उतासीनेषु सूरिषु ॥
ऋक् मण्ड० ६ । सू० ४७ । मन्त्र १९ ॥

पदार्थ—([यथा कश्चित् सारथि:] रथे हरिता युजान: भूरि

राजति) जैसे कोई सारथि सुन्दर रमणीय वाहन (=यान) के सदृश शरीर में ले चलनेवाले घोड़ों को जोड़ता हुआ बहुत प्रकाशित होता है, ([तथा] त्वष्टा इह [राजति] वैसे ही सूक्ष्म करनेवाला अर्थात् मन आदि इन्द्रियों का निग्रह करके योगाभ्यास वा ब्रह्मविद्या द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म जो आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान का प्राप्त करने-वाला जीव इस शरीर में देदीप्यमान होता है। (कः [इह] विश्वाहा द्विषतः पक्षः आसते, उत आसीनेषु सूरिषु [मूर्खाश्रयं कः करोति?]) कौन इस शरीर में सब दिन (=सर्वदा) द्वेष से युक्त का (=द्वेष रखनेवाले पुरुष का) पक्ष ग्रहण करता है ? और स्थित विद्वानों में मूर्ख का आश्रय कौन करता है ?॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! सदा ही मूर्खों का पक्ष त्यागके विद्वानों के पक्ष में वर्त्ताव करिये। और जैसे अच्छा सारथि घोड़ों को अच्छे प्रकार जोड़कर रथ में सुख से गमन आदि कार्यों को सिद्ध करता है, वैसे ही जितेन्द्रिय जीव सम्पूर्ण अपने प्रयोजनों को सिद्ध कर सकता है। और जैसे कोई दुष्ट सारथि घोड़ों से युक्त रथ में स्थिर होकर दुःखी होता है, वैसे ही अजित इन्द्रियां जिस की हों ऐसा जीव शरीर में स्थिर होकर दुःखी होता है ॥ क्योंकि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥
कठ० उ० व० ४। मं० १॥

अर्थ—स्वयम्भू परमात्मा ने श्रोत्र चक्षु आदि इन्द्रियों को शब्द रूप आदि विषयों पर गिरने के स्वभाव से युक्त बनाया है। उस ही हेतु से मनुष्य बाह्य विषय को देखता है, किन्तु अपने भीतर की ओर लौटकर अपने अन्तरात्मा को नहीं देखता। कोई विरला ध्यानशील पुरुष ही अपने नेत्र मींचकर मोक्ष की इच्छा करता हुआ अन्तःकरण में व्याप्त परमात्मा को ध्यानयोग द्वारा समाधिस्थ बुद्धि से विचरता है ॥ १॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २ ॥
कठ० उ० व० ४ । मन्त्र ४ ॥

अर्थ—स्वप्न के अन्त नाम जागरित अवस्था तथा जागने के अन्त स्वप्नावस्था इन दोनों को जो मनुष्य अनुकूलता-पूर्वक, अर्थात् यथार्थ धर्मपूर्वक देखता है, अर्थात् ध्यानयोग द्वारा जान लेता है, वही 'धीर'=ध्यानशील योगी पुरुष ईश्वर को सबसे बड़ा और सर्वव्यापक मानकर शोक से व्याकुल नहीं होता । अर्थात् मुक्त हो जाता है, और शोकादि दुःख उसको नहीं प्राप्त होते ॥२॥

भावार्थ यह है कि जागरित अवस्था तथा निद्रावस्था इन दोनों के स्वरूप का जिसको ज्ञान हो जाता है, उसको ईश्वर के विचार लेने का सामर्थ्य (=योग्यता) प्राप्त हो जाता है । फिर निरन्तर परमात्मा का ध्यान करते-करते ध्यानयोग द्वारा वह पुरुष कुछ काल में परमात्मा को भी विचार लेता है ।

निद्रा दो प्रकार की है । एक तो--अविद्यान्धकार से आच्छादित जागरित अवस्था, कि जिस में जागता हुआ भी मनुष्य अपने स्वरूप को भूला हुआसा संकल्प-विकल्पात्मक मन की लहरों में डूबा रहता है । किन्तु यथार्थ जागरित अवस्था वस्तुतः वही है, जब कि जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प नहीं उठता । दूसरे प्रकार की—तमोगुणमय निद्रा होती है, कि जिसमें मनुष्य सो जाता है । इसलिये—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ३ ॥
कठ० वल्ली० ३ । मं० ५॥

अर्थ—जो मनुष्य कि अयुक्त=असमाहित असावधान विषम विरुद्ध चलायमान वा योगविहीन मन करके सदा अज्ञानी वा विषया-

सक्त रहता है, उसकी इन्द्रियां सारथि के दुष्ट घोड़ों के समान उसके वश में नहीं रहती ॥३॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ४ ॥
कठ० वल्ली ३ । मं० ६ ॥

अर्थ—किन्तु जो अभ्यास वैराग्य द्वारा निरुद्ध किये हुए योगयुक्त वा समाहित मनवाला, तथा सत् असत् का विवेक करनेवाला ज्ञानी पुरुष होता है, उसकी इन्द्रियां सारथि के श्रेष्ठ घोड़ों के समान उस पुरुष के वश में हो जाती हैं ॥४॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ॥ ५ ॥
कठ० वल्ली ३ । मं० ७ ॥

अर्थ—और जो मनुष्य सदा अविवेकी, अव्यवस्थित चित्तयुक्त, तथा सदा अशुचि=छल-कपट ईर्ष्या-द्वेष आदि दोषरूप मलों से युक्त, अर्थात् अन्तःकरण की आभ्यन्तर शुद्धि से रहित होता है, वह उस अविनाशी ब्रह्म को तो नहीं प्राप्त होता, किन्तु जन्म-मरण के प्रवाहरूप संसार में ही भ्रम्यमाण रहता है ॥५॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ६ ॥
कठ० वल्ली ३ । मं० ८ ॥

अर्थ—परन्तु जो मनुष्य ज्ञानी, समनस्क=मन को वश में रखनेवाला, और शुद्धान्तःकरण से युक्त होता है, वह तो उस परमपद को प्राप्त ही कर लेता है कि जहां से लौटकर फिर जन्म नहीं लेता, अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥६॥ इसी कारण—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥७॥
कठ० वल्ली ३ । मं० ९ ॥

अर्थ—विज्ञान=तप करके शुद्ध हुई, सत् और असत् के विवेक से युक्त, परमार्थ के साधनों में तत्पर बुद्धि ही जिस मनुष्य का सारथि हो, और मन को लगाम की डोरियों के समान पकड़कर अपने वश में जिसने कर लिया हो, वही मनुष्य आवागमन के अधिकरण जन्म-मरण के प्रवाहरूपी संसारमार्ग के पार सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक ब्रह्म के उस परोक्ष=पद स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

इन्द्रियादि-ब्रह्मपर्यन्त वर्णन

अब भौतिक इन्द्रियों से लेकर सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म अतीन्द्रिय (=अगोचर) अगम्य अवाच्य ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय संक्षेप से अनुक्रम-पूर्वक लिखते हैं। विद्वान् गुरुजनों को उचित है कि सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थ का यथार्थ ज्ञान शिष्य को करा देवें, जिस से कि शिष्य निर्भ्रम हो जावें—

> **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।**
> **मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १ ॥**
>
> कठ० वल्ली ३। मं० १० ॥

---

१. शास्त्रों के वाक्यों का अभिप्राय शब्दमात्र के अर्थ-बोध से नहीं लिया जाता, किन्तु प्रकरणानुकूल आशय (=सारांशरूप सिद्धान्त) लेना उचित है। इसी अध्याय के पृष्ठ ४२ में कहा गया है कि "प्रकृतेर्महान्" अर्थात् भौतिक कार्यरूप पदार्थों में सब से परे वा सूक्ष्म (=महान् आत्मा) बुद्धि है, जो कि प्रकृति का प्रथम परिणाम होने के कारण महत्तत्व (=सृष्टि के सूक्ष्म तत्त्वों में सबसे सूक्ष्म) कहाता हैं। किन्तु यहां बुद्धि से भी परे सब तत्त्वों की परमा काष्ठा कारणरूप प्रकृति अभिप्रेत है। अतः "महान् आत्मा" इन दो पदों से यहां जीवात्मा वा परमात्मा कदापि नहीं समझे जा सकते, क्योंकि उन दोनों आत्माओं (=जीव और ईश) के लिये कठोपनिषदुक्त अगले ग्यारहवें मन्त्र में केवल एक शब्द "पुरुष" का प्रयोग किया गया है।

अर्थ—पृथिव्यादि सूक्ष्म तत्त्वों से बने इन्द्रियों की अपेक्षा गन्ध-तन्मात्रा आदि विषय परे हैं। विषयों की अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा बुद्धि, और बुद्धि की अपेक्षा महत्तत्त्व[१] परे है ॥१॥

अर्थात् स्थूल इन्द्रियों के गोलक, तथा 'अर्थाः'=इन्द्रियों की विषयग्राहक दिव्य शक्ति, ये दोनों ही स्थूल भूतों के कार्य हैं। यथा पृथिवी का कार्य नासिका, जल का रसना, अग्नि का नेत्र, वायु का त्वचा और आकाश का श्रोत्र। यहां कार्य-कारण-सम्बन्ध ही हेतु है कि अमुक-अमुक इन्द्रिय अपने अमुक-अमुक निज विषय को ही, अर्थात् जिस भूत से जो इन्द्रिय उत्पन्न हुआ है, वह इन्द्रिय उस भूत के गुणरूप विषय को ग्रहण करता है। यथा नासिका पृथिवी के गुण गन्ध को ही ग्रहण करती है, रस रूपादि को नहीं। कार्य की अपेक्षा कारण परे होता ही है। अतएव इन्द्रियो से विषय परे हैं, मन विषयों से परे है, तथापि इन्द्रियों की अपेक्षा कुछ स्थूल है[१]। मन की अपेक्षा बुद्धि, और बुद्धि की अपेक्षा महत्तत्त्व परे है, जो भौतिक पदार्थों में सब से अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण 'महान् आत्मा' कहाता है, क्योंकि आत्मा पद सूक्ष्मार्थवाची है।

'आत्मा' पद से यहां जीवात्मा वा परमात्मा का ग्रहण नहीं है, जैसाकि अगले मन्त्र से स्पष्ट ज्ञात होता है। और—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥
कठ० वल्ली ३ । मं० ११ ॥

अर्थ—'अव्यक्त' नाम व्यक्तिरहित प्रकृति नामक जगत् का

इसी प्रकार उक्त अध्याय के ४२ पृष्ठ गत सांख्यसूत्र में 'पुरुष' पद ही प्रयुक्त है, जिस से जीव ईश दोनों ही ग्राह्य हैं।

१. सत्यार्थ-प्रकाश पृष्ठ ३२७ (पं० १५, १६) समुल्लास ८ में भी मन को तन्मात्रादि कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा स्थूल कहा और माना है।

कारण महत्तत्व की अपेक्षा भी परे है। उस अव्यक्त प्रकृति से भी परे जीवात्मा है, और उस जीवात्मा से भी अत्यन्त परे परमात्मा है। परमात्मा से परे अन्य कोई पदार्थ नहीं है। वही स्थिति की अवधि तथा पहुंचने की अवधि है, अर्थात् उससे आगे किसी की गति नहीं है ॥ २ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ ३ ॥
कठ० वल्ली ३ । मं० १२ ॥

सब प्राणिमात्र में व्यापक होने के कारण गुप्तात्मा वह परमात्मा 'न प्रकाशते'=इन्द्रियों के साथ फंसी हुई विषयासक्त बुद्धि से नहीं प्रकाशित होता, अर्थात् नहीं जाना जाता। किन्तु सूक्ष्म विषय में प्रवेश करनेवाली (=तीव्र) तीक्ष्ण वा सूक्ष्म बुद्धि करके सूक्ष्म तत्त्वदर्शी (=आत्मदर्शी) जनों से ही जाना जाता है ॥३॥

उस परमात्मा को जानने के लिये कटिबद्ध होना चाहिये। क्योंकि कहा भी है कि—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥४॥
कठ० वल्ली ३ । मं० १४ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (उत्तिष्ठत) उस परमात्मा के जानने के लिये कटिबद्ध होकर उठो (जाग्रत) अविद्यारूपी निद्रा को छोड़कर जागो। (वरान् प्राप्य) श्रेष्ठ आप्त विद्वानों, सदुपदेशक गुरुजनों, आचार्यों, ऋषि-मुनिजनों, योगी महात्मा वा संन्यासियों को प्राप्त होकर (निबोधत) सत्यासत्य के विवेक द्वारा सर्वान्तर्यामी परमात्मा को जानो (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया) यह मार्ग सुगम नहीं है कि जो निद्रा वा आलस्य में पड़े रहने पर भी सहज से प्राप्त हो सके, किन्तु जैसे छुरे की बाढ़ कराई हुई तीक्ष्णधारा पर पगों से चलने में अति कठिनता होती है, (दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति) दीर्घदर्शी

विद्वान् लोग उस तत्त्वज्ञानरूप मार्ग को वैसा ही कठिनता से प्राप्त होने योग्य बताते हैं। अतएव निद्रा आलस्य प्रमाद और अविद्या को त्यागकर ज्ञानी गुरु का सत्संग तथा सेवन करके परमात्मज्ञान के उपाय का सेवन करना उचित है ॥४॥ क्योंकि—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥५॥
कठ० वल्ली ३। मं० १५॥

अर्थ—(अशब्दम्) जो ब्रह्म शब्द वा शब्द गुणवाले आकाश से विलक्षण है। और वाणी करके जिसका वर्णन नहीं किया जा, सकता। (अस्पर्शम्) जो स्पर्श गुणवाले वायु से विलक्षण है, और जिस का स्पर्शेन्द्रिय (=त्वचा) द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, अर्थात् जो छुआ नहीं जा सकता। (अरूपम्) जिसका कोई स्वरूप नहीं, अतएव जो नेत्रों से देखा भी नहीं जा सकता। (अव्ययम्) जो अविनाशी है (तथा) एवं (अरसम्) जो जल के रस नामक गुण से रहित है। अर्थात् रसना (=जिह्वा) करके चाखा नहीं जा सकता। (नित्यम्) जो अनादि काल से सर्वदा एक रस ही रहता है। (यत् अगन्धवत्) जो पृथिवी के गन्ध गुण से पृथक् वर्त्तमान है। अर्थात् सूंघने से नहीं जाना जाता वा उसमें किसी प्रकार का गन्ध नहीं है। (अनादि) जिसका कोई आदिकारण भी नहीं है, और जो किसी पदार्थ का आदिकारण अर्थात् उपादान कारण तो नहीं है, किन्तु आदि निमित्त कारण है। (अनन्तम्) जिसकी व्याप्ति का कोई ओर-छोर नहीं अर्थात् जो सर्वत्र व्यापक नाम असीम है; जिसकी महिमा शक्ति विद्या आदि गुणों का पार वा वार नहीं है। (महतः परम्) जो महत्तत्त्व अर्थात् जीवात्मा (यहां महत्तत्व से जीवात्मा का ग्रहण है), से भी परे है। (ध्रुवम्) जो अचल है, कभी चलायमान नहीं होता। (तत् निचाय्य) उस ब्रह्म को जान कर (मृत्युमुखात्प्रमुच्यते) मनुष्य मृत्यु के मुख से, अर्थात् जन्म मरण के प्रवाहरूप दुःख सागर से छूट जाता है ॥५॥

योगानुष्ठानविषयक उपदेश की आवश्यकता

अतएव योगाभ्यास करना सब मनुष्यों को सर्वदा और सर्वत्र ही उचित है। और विद्वानों को भी उचित है कि—

> य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
> प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥१॥
>
> कठ० वल्ली ३ । मं० १७ ॥

अर्थ—शरीर इन्द्रिय और मन (=अन्तःकरण) को शुद्ध शान्त और स्वस्थ करके इस परम गुप्त अर्थात् एकान्त में शिक्षा करने योग्य ब्रह्म-ज्ञान सम्बन्धी उपदेश, जो ब्राह्मणों अर्थात् आप्त विद्वानों की सभा अथवा उस समय में कि जब अनेक विद्वानों का भोजनादि से श्रद्धा पूर्वक सत्कार किया जावे, सुनावे वा करे। जिससे कि वह उपदेश अनन्त होने को समर्थ हो। अर्थात् उपदेश तो एकान्त गुप्त स्थान में करे, किन्तु उसका सत्य-सत्य यथार्थ व्याख्यान विद्वानों की सभा में करके उस के सीखने और अभ्यास करने की रुचि बहुत से पुरुषों में उत्पन्न करे। जिससे कि जगत् में इस विद्या का सर्वत्र प्रचार होकर वह उपदेश अनन्तता को प्राप्त हो। तथा उस समय में जिज्ञासु को उचित है कि विद्वानों का सत्कार भोजन-दक्षिणादि से यथाशक्ति करे ॥१॥

वेदों में अनेक स्थानों पर प्रकरणानुकूल अनेक उपदेश स्वयं परम कारुणिक परमात्मा ने अनुग्रहपूर्वक दयादृष्टि द्वारा मुमुक्षु जनों, अर्थात् योग के शिक्षकों और शिष्यजनों के हितार्थ स्पष्टतया किये हैं। उन में से एक यह भी ईश्वर की आज्ञा है कि इस जगत् में जिस को सृष्टि के पदार्थों का विज्ञान जैसा हो, वैसा ही शीघ्र दूसरों को बतावे। जो कदाचित् दूसरों को न बतावे, तो वह (विज्ञान) नष्ट हुआ किसी को भी प्राप्त न हो सके। यथा अगले वेदमन्त्र से स्पष्ट उपदेश किया है कि अध्यापक लोगों को उचित है कि निष्कपटता से विद्यार्थीजनों को पढ़ावें—

ओ३म् अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वा ततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥२॥
य० अ० १२। मन्त्र ४८॥

अर्थ—(यजत्राग्ने) हे संगम करनेयोग्य विद्वान् ! (यत्ते दिवि वर्चः) आपके अग्नि के समान द्योतनशील आत्मा में जो विज्ञान का प्रकाश है, (यत् पृथिव्यां ओषधीषु अप्सु [वर्चोऽस्ति]) और पृथिवी में, यवादि औषधियों में, प्राणों वा जलों में जो तेज है, (येन नृचक्षाः भानुः अर्णवः त्वेषः) जिस से मनुष्यों को दिखानेवाला सूर्य बहुत जलों को वर्षानिहारा प्रकाश है, और (येन अन्तरिक्षम् उरु आ ततन्थ) जिससे आकाश को आप बहुत विस्तार युक्त करते हो, ([तथा] सः [त्वं तदस्मासु धेहि]) सो आप वह सब तेज व विद्यार्क हम लोगों में धारण कीजिये ॥२॥

इस अध्याय के अन्त में जो ब्रह्मज्ञान का उपाय कहा है, उसकी विधि दूसरे अध्याय में आगे कहेंगे कि किस-किस प्रकार के कर्मों तथा योगविषयक क्रियाओं के अनुष्ठान द्वारा परमानन्दस्वरूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होकर अक्षय नाम अमृतरूप मोक्षानन्द जीव को प्राप्त होता है ॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमयोगिनः
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण
लक्ष्मणानन्दस्वामिना प्रणीते
ध्यानयोगप्रकाशाख्यग्रन्थे
ज्ञानयोगो नाम
प्रथमोऽध्यायः
समाप्तः।

अथ कर्मयोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः

कर्म की प्रधानता

ओं कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
यजुः० अ० ४० । मं० २१; ईश उ० मं० २;
स० प्र० समु० ७ पृ० २६८ ॥

अर्थ—मनुष्य इस संसार में धर्मयुक्त वेदोक्त निष्काम कर्मों को करता हुआ सौ वर्ष जीवन की इच्छा करे । इस प्रकार धर्मयुक्त कर्म में प्रवर्त्तमान और व्यवहारों को चलानेहारे जीवन के इच्छुक होते हुए तुझ मनुष्य में अधर्मयुक्त अवैदिक काम्यकर्म नहीं लिप्त होता, किन्तु इससे अन्यथा (=विरुद्ध=प्रतिकूल) बर्त्ताव करने में कर्मजन्य दोषापत्तिरूप-पापादि के लगने का अभाव नहीं होता । अर्थात् अधर्मयुक्त अवैदिक ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध सकाम कर्म करने से मनुष्य कर्म में लिप्त हो ही जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥

भावार्थ—मनुष्य आलस्य को छोड़के सबके देखनेहारे न्यायाधीश परमात्मा और उसकी करने योग्य आज्ञा को मानके अशुभ कर्मों को छोड़ते हुए ब्रह्मचर्य्य के सेवन से विद्या और अच्छी शिक्षा को पाके, उपस्थ इन्द्रिय के रोकने मे पराक्रम को बढ़ाके अल्पमृत्यु को हटावें । युक्त आहार-विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त होवें । जैसे-जैसे मनुष्य सुकर्मों में चेष्टा करते हैं, वैसे-वैसे ही पाप-कर्म से बुद्धिकी निवृत्ति होती है और विद्या अवस्था और सुशीलता बढ़ती है ॥

सर्वतन्त्रसिद्धान्तरूप सारांश इस वेद की श्रुति का यह है कि जो-जो धर्मयुक्त वेदोक्त ईश्वर की आज्ञापालनरूप कर्म हैं, वे-वे सब निष्काम कर्म ही हैं। क्योंकि उनसे केवल ईश्वर की वेदोक्त आज्ञा का ही पालन होता है। अतः उनमें से कोई भी चेष्टा काम्य वा सकाम कर्मसंज्ञक नहीं; किन्तु मनुष्य जो-जो अधर्मयुक्त अवैदिक कर्म ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध, जिनके करने में कि अपना आत्मा भी शंका लज्जा भयादि करता है, वे-वे कर्म आज्ञानान्धकार से आच्छादित इच्छा वा कामना से युक्त होने के कारण पापरूप सकाम कर्म कहाते हैं। क्योंकि वे अल्पज्ञ जीवात्मा की अज्ञानयुक्त कामना से रहित नहीं होते। श्रेष्ठ कर्मों में कोई कामना नहीं समझनी चाहिये। क्योंकि उन पुण्यकर्मों को मनुष्य अपना धर्म (=फर्ज) जानकर, ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन मानकर ही करता है। अतः धर्मयुक्त कर्मों निष्काम और अधर्मयुक्त पापकर्मों को ही काम्य वा सकाम कर्म जानो॥

जिस प्रकार के कर्म करने चाहियें, सो आगे कहते हैं—

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्,
तेनेशस्य विधीयतामुपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।
संगः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयताम्,
सद्विद्वानुपसंपतामनुदिनं तत्पादुके सेव्यताम्॥ १॥

अर्थ—सदा वेदों का पठन-पाठन, वेदोक्त कर्म का अनुष्ठान, उस कर्म द्वारा परमेश्वर की उपासना, काम्य (=सकाम अधर्मयुक्त वेदप्रतिकूल) कर्म का त्याग, सज्जनों का संग, परमेश्वर की दृढ़ भक्ति, और सद्विद्वानों अर्थात् आप्त विद्वान् उपदेशकों के समीप जाकर उनकी यथाशक्य सेवा शुश्रूषा प्रतिदिन करना उचित है॥१॥

उक्त विद्वानों से उपदेश ग्रहण करके, फिर—

ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरो वाक्यं समाकर्ण्यताम्।
दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम्।

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिर:पक्ष: समाश्रीयताम्,
औदासीन्यमभीप्सतां जनकृपा नैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ॥२॥

अर्थ—'ओ३म्' जो श्रुति (=वेद) का शिरोमणि-वाक्य तथा ब्रह्म का एकाक्षर नाम है, उसकी व्याख्या सुनना और उसके अर्थ का विचार करना, अथवा एकाक्षर जो शब्द ब्रह्म ओम् है उसका अर्थ विचारना, तथा वेदानुकूल वाक्य का सुनना, दुष्ट तर्कवाद से हटते (=बचते) रहना, वेदमत के अनुसार तर्क, जिससे वेदोक्त मार्ग की पुष्टि हो ऐसे तर्क का अनुसन्धान करना, उक्त सुने हुए वाक्य का अर्थ विचारना, वेदानुकूल पक्ष का आश्रय (=अवलम्बन) स्वीकार करना, दुष्ट जनों के साथ न मित्रता न शत्रुभाव रखना किन्तु उदासीनता वर्त्तना, अन्य सब जनों विशेषत: दु:खियों पर कृपा वा दयाभाव रखना, और निष्ठुरता का त्याग योगी को सदा करना उचित है ॥२॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्य और गृहस्थ में दुष्ट कर्मों का त्याग और सत्कर्मों तथा योगाभ्यास का अनुष्ठान करते हुए श्रेष्ठ अधिकारी योगी बने।

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेत: समाधीयताम्,
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्।
शान्त्यादि: परिचीयतां दृढतरं कर्माशु संन्यस्यताम्,
आत्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात् तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥३॥

अर्थ—पश्चात् वानप्रस्थाश्रम धारण करके सुखपूर्वक एकान्त स्थान में बैठकर समाधियोग के अभ्यास द्वारा पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का विचार करे। इस सम्पूर्ण चराचर जगत् को अनित्य जाने, और शान्ति आदि शुभ कल्याणकारी गुण कर्म स्वभाव को दृढ़तर धारण करे। तदनन्तर संन्यास लेकर वेदानुकूल कर्मकाण्डोक्त अग्निहोत्रादि सत्त्वगुण प्रधान कर्मों को भी शीघ्र त्यागकर शुद्धसत्त्व के आश्रय केवल आत्मज्ञान का ही व्यसन (=शौक, इश्क) रक्खे, और अपने गृह से शीघ्र ही चला जाय ॥३॥

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यताम्,
स्वाद्वन्नं न च याच्यतां विधिवशात् प्राप्तेन सन्तुष्यताम्।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथावाक्यं समुच्चार्यताम्,
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयताम् ॥४॥

अर्थ—उक्त संन्यासाश्रम में नित्यप्रति भिक्षाद्वारा प्राप्त अन्न-रूपी ओषधि का केवल इतना भोजन करे कि जिससे क्षुधारूपी रोग की निवृत्तिमात्र हो जाय। स्वादिष्ठ अन्नादि पदार्थ भिक्षा लेने न जाये, न कभी माँगे। जो कुछ दैवयोग से मिल जाय उस ही में सन्तुष्ट रहे। शीतोष्णादि द्वन्द्वों का सहन करे, वृथा (=निरर्थक वा व्यर्थ) वाक्य आवश्यकता विना कभी न कहे। इस प्रकार धर्म के बर्त्ताव से पाप के समूह का नाश करता और सांसारिक सुखों को दोषदृष्टि से निरन्तर विचारता ही रहे ॥४॥

योगाभ्यासविषयक वेदोक्त—ईश्वराज्ञा पुरुषों के लिये

वेद में परब्रह्म परमात्मा नें जीव के कल्याण के लिये योगा-भ्यास के अनुष्ठान करनें का यह उपदेश किया है कि प्रातःकाल (=ब्राह्म मुहूर्त्त) में उत्तम आसन प्राप्त करके प्राणायामादि योगा-भ्याससम्बन्धी क्रियाओं द्वारा मोक्षप्राप्ति के निमित्त पुरुषार्थ करना, तथा आप्त विद्वानों के सत्संग से इस ब्रह्मविद्या का यथावत् उपार्जन करना चाहिये। सो वेद की ऋचा नीचे लिखी है—

ओं प्रातर्यावणः सहस्कृत सोमपेयाय सन्त्य।
इहाऽद्य दैव्यं जनं बर्हिरासादया वसो ॥

ऋक् मण्डल १। सूक्त ४५। मन्त्र ९॥

अर्थ—(सहस्कृत) हे सबको सिद्ध करनेवाले! (सन्त्य) संभजनीय क्रियाओं अर्थात् योगाभ्यास में कुशल विद्वानों में सज्जन! और (वसो) श्रेष्ठ गुणों में बसनेवाले विद्वान्! तू (इह) इस ब्रह्म-विद्याव्यवहार में (अद्य सोमपेयाय) आज सोमरस के पीने के लिये अथवा शुद्ध सत्त्वमय सच्चिदानन्द परमात्मा की प्राप्ति से आनन्द

भोगों की प्राप्ति के लिये (प्रातर्यावण:) प्रात:काल में योगाभ्यासादि पुरुषार्थ को प्राप्त होनेवाले विद्वानों को, और (दैव्यं जनम्) विद्वानों में कुशल पुरुषार्थयुक्त धार्मिक मनुष्य को, तथा (बर्हि:) उत्तम आसन को (आसादय) प्राप्त करें ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उत्तमगुणयुक्त जिज्ञासु मनुष्यों को ही उत्तम वस्तु वा उत्तम उपदेश देते हैं, ऐसे मनुष्यों ही का संग सब लोग करें। क्योंकि कोई भी मनुष्य विद्या वा पुरुषार्थयुक्त मनुष्यों के संग वा उपदेश विना पवित्र-गुण वस्तुओं और सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता ॥

अब स्त्रियों के लिये योगाभ्यास करने की वेदोक्त ईश्वरीय आज्ञा आगे लिखते हैं—

योगाभ्यासविषयक वेदोक्त—ईश्वराज्ञा स्त्रियों के लिये

ओ३म् अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानमङ्गैः समधात् सरस्वती । इन्द्रस्य रूपꣳ शतमानमायुश्चन्द्रेण ज्योतिरमृतं दधानाः ॥

यजु० अ० १९ । मं० ९३ ॥

अर्थ—[हे मनुष्याः ! यूयं] भिषजा अश्विना [सिद्धसाधकौविद्वांसौ यथा] सरस्वती आत्मन् [=आत्मनि स्थिरा सती] योगाङ्गानि [अनुष्ठाय] आत्मानम् समधात्) =हे मनुष्यो ! तुम, उत्तम वैद्य के समान रोगरहित सिद्ध-साधक दो विद्वान्, जैसे योगयुक्त स्त्री अपने आत्मा में स्थिर हुई योग के अङ्गों का अनुष्ठान करके अपने आत्मा का समाधान करती है, ([तथैव] योगाङ्गैः [यत्] इन्द्रस्य रूपम् [अस्ति], तत् [संदध्यातम् । यथा योगम्] दधानाः शतमानम् आयुः [चरन्ति तथा] चन्द्रेण अमृतम् ज्योतिः [दध्यात्]) =वैसे ही योगाङ्गों से जो ऐश्वर्य का रूप है, उसका समाधान करो । जैसे योग को धारण करते हुए जन सौ वर्ष-पर्यन्त जीवन को धारण करते हैं, वैसे आनन्द से अविनाशी प्रकाशस्वरूप परमात्मा को धारण करो ॥

भावार्थ—जैसे रोगी लोग उत्तम वैद्य को प्राप्त हो·औषध और

पथ्य का सेवन करके रोगरहित होकर आनन्दित होते हैं, वैसे ही योग के जानने की इच्छा करनेवाले योगी लोग इसको प्राप्त हो, योग के अङ्गों का अनुष्ठान कर और अविद्यादि क्लेशों से दूर होके निरन्तर सुखी होते हैं ।।

इस मन्त्र से सर्वथा सिद्ध है कि स्त्रियों को भी योगाभ्यास पुरुषों के सदृश अवश्य प्रतिदिन करना चाहिये, निषेध कदापि नहीं। यदि वेद में निषेध होता, तो ईश्वर में पक्षपात दोष आ जाता। क्योंकि जीवात्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है, और न नपुंसक है, किन्तु जिस देह (=योनि) को प्राप्त होता है, उस ही प्रकार के कर्मों में प्रवृत्ति उसकी अधिक रहती है।

योग-व्याख्या

अब वर्त्तमान शताब्दी के प्रसिद्ध योगी श्रीमद् ब्रह्मर्षि परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' अन्तर्गत उपासना तथा मुक्तिविषयों तथा 'सत्यार्थप्रकाश' पूर्वार्धगत नवम समुल्लास, और योगाधिराज श्रीयुत पतञ्जलि महामुनि प्रणीत योगशास्त्र के प्रमाणों द्वारा पुष्ट उस योगाभ्यास की व्याख्या की जाती है कि जो ध्यान-योग के प्रथमाङ्ग ज्ञानयोग के पश्चात् अनेक क्रियाओं में अभ्यास करने से सिद्ध होता है। अतः यह ध्यानयोग का द्वितीय अङ्ग है, और 'कर्मयोग' कहाता है। इस अध्याय में योग की सम्पूर्ण क्रियाओं-तथा योग के आठों अङ्गों का वर्णन और विधान क्रमशः किया गया है।

सम्प्रति जगत् में योगविषयक अनेक छल-कपट वितण्डावाद व्यर्थ क्रियायें और मिथ्याविश्वास प्रचलित हो रहे हैं, जिनसे जिज्ञासुओं को अनेक सम्भ्रम उत्पन्न होते हैं, तथा अनेक शारीरिक और मानसिक रोगोत्पत्ति भी सम्भव है। और जिनसे प्रायः अनेक लोग अनेक प्रकार से धोखे में पड़कर विविध दुःख उठाते हैं। उस मिथ्यारोग के दूर करने के हेतु यह ग्रन्थ रचा गया है। जब जिज्ञासु-

जन इस ग्रन्थ के अनुसार योगाभ्यास सीखेंगे और अनुष्ठान करेंगे, तो उनको बहुत लाभ होगा और वर्त्तमान के प्रचलित योगाभ्यास से सुरक्षित रहेंगे।

प्रायः योग की शिक्षा देनेहारे प्रथम नेती, धोती, प्रभावती, जलवस्ति, पवनवस्ति आदि अनेक रोगकारक क्रियाओं को सिखाते हैं। फिर अष्टाङ्ग योग की शिक्षा करने में वृथा वर्षों घुला देते हैं कि जिससे जिज्ञासुजन बहुत काल में भी कुछ नहीं सीख पाते, और जो कुछ सीखते हैं सो सब व्यर्थ ही होता है। इन ढकोसलों से उपदेशकाभास लोग अपने शिष्यरूप जिज्ञासुओं का बहुत धन भी हर लेते हैं।

परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी सरल युक्ति रखी है कि जिससे योग के आठों अङ्गों का आरम्भ के प्रथम दिन से एक साथ ही अभ्यास किया जा सकता है। जैसे कि मनुष्यादि शरीरों में हाथ-पांव आदि अनेक अङ्ग होते हैं, और चेष्टामात्र करते समय सब ही अङ्गों की सहायता एक ही समय में मिलती है। अथवा जैसे उत्पन्न हुए बालक के सब ही अङ्ग प्रतिदिन पुष्टि और वृद्धि पाते हैं, इसी प्रकार योग के भी आठ अङ्गों का साधन साथ ही साथ आरम्भ के दिन से होता है, फिर सब उत्तरोत्तर परिपक्व होते जाते हैं। यदि सम्पूर्ण योगाङ्गों के अभ्यास वा साधन का आरम्भ एक साथ न हो सके, तो योग की क्रिया अङ्गहीन (=खण्डित) हो जायेगी। अर्थात् यदि कोई सा भी योगाङ्ग योगाभ्यास करते समय छूट जाय, तो यथावत् योग सिद्ध होना ही असम्भव है।

आगे इसी ही ग्रन्थ में यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि ये योग के आठ अङ्ग कहे हैं, और स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में कहे उपासना विषय पृष्ठ २६७ (प० ८) के अनुसार 'इन आठ अङ्गों का सिद्धान्त-रूप फल संयम है'। अर्थात् योग के अभ्यास करने का सिद्धान्त यही

है कि इन सब (=आठ) अङ्गों का संयम करे। इस कथन का सर्वतन्त्रसिद्धान्तरूप आशय यह निकला कि इन आठों अङ्गों को एक ही काल में एकत्र करने को योगाभ्यास करना जानो। पूर्वज ऋषि-मुनि और योगी जनों नें भी यही उपदेश किया है। परन्तु इस विषय का निर्णय तत्त्वदर्शी लोगों ने ही जाना है, अन्य पक्षपाती आग्रही मलिनात्मा अविद्वान् लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं? क्योंकि जब तक मनुष्य विद्वान् सत्संगी होकर पूरा विचार नहीं करते, और जब तक लोगों की रुचि और परीक्षा विद्वानों के संग में तथा ईश्वर और उसकी रचना में नहीं होती, तब तक उनका विज्ञान कभी नहीं बढ़ सकता, प्रत्युत सदा भ्रम-जाल में पड़े रहते हैं।

वक्ष्यमाण वर्णन से विचारणीय जनों की समझ में अच्छे प्रकार आ सकता है, क्योंकि अभ्यास करते समय जो—

(१) सत्य के ग्रहण असत्य के त्यागपूर्वक अन्तःकरण की आभ्यन्तर-शुद्धि (=पवित्रता) सम्पादन करना, मानो यमों और नियमों का साधन है।

(२) चिरकाल तक निश्चल होकर आसन पर बैठने का अभ्यास करना, मानो आसन का सिद्ध करना है।

(३) प्राण अपान, समान आदि वायुओं (=प्राणों) की सहायता से मन को रोकने का अभ्यास करना, मानो प्राणायाम करना है।

(४) मन को वश में करने द्वारा इन्द्रियों को बाह्यविषयों से रोकने की चेष्टा करना, मानो प्रत्याहार का अभ्यास करना है।

(५) नासिकाग्र आदि एक देश में मन की स्थिति का सम्पादन करना, मानो धारणा का अभ्यास करना है।

(६) उस धारणा के ही देश में मन तथा इन्द्रियादि की स्थिति करके सर्वथा ध्यान को वहां पर ठहराना, मानो ध्यान का अभ्यास करना है।

(७) ध्यान की एक स्थान में अचल स्थिति करके जो चित्त की

समाहित दशा होती है, उसका नाम समाधि है, कि जिस अवस्था में मन फिर नहीं हिलता। सो यह समाधि अवस्था प्रयत्न और पुरुषार्थ से परिपक्व होकर चिरकाल तक अभ्यास करने से सिद्ध होती है, किन्तु क्षणमात्र आरम्भ में भी होनी असम्भव नहीं।

अब विचारना चाहिये कि कौनसा अङ्ग नवशिक्षित योगाभ्यासी को आरम्भ में छोड़ देना उचित है, अर्थात् कोई भी नहीं। क्योंकि पूर्वोक्त अङ्गों में से केवल- एक-एक अङ्ग का ही अभ्यास करना किसी एक अङ्ग वा कई अङ्गों को छोड़कर अभ्यास करना बनता ही नहीं। अर्थात् क्या उस समय आभ्यान्तर शुद्धि न करनी चाहिये? वा आसन पर न बैठना चाहिये? वा मन और प्राणों को वश में न करना चाहिये? वा इन्द्रियों को वश में न करना चाहिये? अथवा शरीर के किसी एक स्थान में धारणा ध्यान समाधि के लिये अभ्यास वा प्रयत्न न करना चाहिये?

उपरोक्त कथन का सारांश यह है कि सामान्य पक्ष में तो योग के आठों अङ्ग आरम्भ करने के दिन से ही सीखनेवाले मनुष्य को करने चाहियें। परन्तु ज्यों-ज्यों अधिक पुरुषार्थ (=परिश्रम) श्रद्धा भक्ति और आस्तिकतादि शुभ गुण पूर्वक किया जायेगा, त्यों-त्यों सब अङ्ग साथ ही साथ परिपक्व होकर पूर्ण समाधि होने लगेगी।

योग क्या है और कैसे प्राप्त होता है?

'योग' शब्द का अर्थ मिलना वा जुड़ना है। अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के साथ जीवात्मा का मेल-मिलाप मिलना-भेंटना। अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति करना ही 'योग' कहाता है। और उस योग के उपायों का अभ्यास करना 'योगाभ्यास' कहाता है। विषयानन्द में आसक्त तथा और इन्द्रियों के वशीभूत होकर अनिष्टकर्मानुष्ठान द्वारा ईश्वर की आज्ञाओं के प्रतिकूल चलना 'वियोग' कहाता है।

वियोगी पुरुषों से ईश्वर का वियोग और योगियों से ईश्वर के साथ योग प्राप्त होता है।

वह योग समाहितचित्त पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये योग-विद्या के आचार्य महर्षि पतञ्जलि योगशास्त्र को आरम्भ करते ही द्वितीय सूत्र में यही उपदेश करते हैं कि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।। यो० पा० १ । सूत्र २ ।।

अर्थ—चित्त की वृत्तियों के रोकने का नाम योग है।

अर्थात् चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटाके शुभ गुण में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष के प्राप्त करने को 'योग' कहते हैं। और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फंसकर उस परमात्मा से दूर हो जाना।

विधि—'इसलिये जब-जब मनुष्य ईश्वर की उपासना करना चाहे, तब-तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें। तथा सब इन्द्रियों और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षणवाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छे प्रकार से लगाकर सम्यक् चिन्तन करके उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना को बारम्बार करके अपने आत्मा को भली-भांति से उसमें लगा दें।'[ऋ० भा० भू०, पृ० १८६, १८८[1]]

स्वामी दयानन्द सरस्वती जो महाराज की कही इस विधि से भी सिद्ध होता है कि योग के साधनरूप चित्त के निरोध करने में आठों अङ्गों का अनुष्ठान करना पड़ता है। अर्थात् कोई भी अङ्ग नहीं छूटता।

संसार सम्बन्धी अन्य कार्यों में भी सर्वत्र परमेश्वर को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वद्रष्टा आदि जानकर उससे भय करके दुष्टाचार दुर्व्यसन आदि अशुभ गुण कर्म स्वभावयुक्त अधर्म-मार्ग से

१. पृ० १८६ में संस्कृत में है, भाषार्थ पृष्ठ १८६ पर है।

मन को पृथक् रखना अतीव आवश्यक है। क्योंकि जिसके सांसारिक कर्म पापयुक्त हों, वह पुरुष परमार्थ अर्थात् मोक्ष के उपाय को क्या सिद्ध कर सकता है ?

यद्यपि मन के लिये संकल्प-विकल्प जिनका एकाएकी रोक सकना नवशिक्षित पुरुषों के लिये कठिन है, तो भी वाणी को तो अवश्यमेव वश में रखना चाहिये। इस विषय में वेद का भी प्रमाण यह है कि—

ओम् आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात्।
अग्ने त्वाङ्कामया गिरा ॥ य० अ० १२। मं० ११५ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् पुरुष, वा हे सोम ! (त्वां कामया गिरा ते) कामना करने के हेतु तेरी वाणी से जो तेरा (मनः चित् परमात्सधस्थात् वत्सो [गोरिव] आयमत्) मन परम उत्कृष्ट एक से समान स्थान में इस प्रकार स्थिर हो जाता है कि जैसे बछड़ा गौ को प्राप्त होता है। [स त्वं मुक्तिं कथं नाप्नुयाः] सो तू मुक्ति को क्यों न प्राप्त होवे ॥

अर्थात् जैसे बछड़ा सब ओर से अपने मन को हटाकर पालन-पोषण और रक्षा करनेवाली अपनी माता की ओर दौड़ता है, तो उसको अपनी माता गौ प्राप्त हो जाती है, इसी ही प्रकार जब मनुष्य सब ओर से अपनी वाणी और मन को रोककर अपने रक्षक परमात्मा में ही लगा देता है, तो उसको परमात्मा की प्राप्ति अवश्य हो जाती है ॥

भावार्थ—अतएव मनुष्य को चाहिये कि मन और वाणी को सदैव अपने वश में रक्खे, यह वेद में ईश्वरीय उपदेश है ॥

प्रश्न—जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटाकर स्थिर की जाती है, तब कहां स्थिर होती है ?

उत्तर—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ यो० पा० १। सू० ३ ॥

अर्थ—जब जीव निरुद्धावस्था में स्थिर होता है, तब सब के

द्रष्टा परमेश्वर के स्वरूप में स्थिति को प्राप्त करता है। यही योग प्राप्त करने का उपाय है ॥

अर्थात् सब व्यवहारों से जब मन को रोका जाता है, तब उपासक योगी के चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियां सर्वज्ञ परमेश्वर के स्वरूप में इस प्रकार स्थिर हो जाती हैं कि जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांधकर जब रोक देते हैं, तब वह जल जिधर नीचा होता है, उस ओर चलकर वहीं स्थिर हो जाता है ॥

चित्त वा मन की वृत्तियों के रोकने का मुख्य प्रयोजन चित्त को ईश्वरमें स्थिर करना ही है। दूसरा प्रयोजन अगले सूत्र में कहा है—

[ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ १८८।]

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ यो० पा० १। सू० ४॥

अर्थ—निरुद्धावस्था के अतिरिक्त अन्य दशाओं में चित्त वृत्ति के रूप को धारण कर लेता है॥

अर्थात् उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोक रहित आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है, और संसारी मनुष्य की सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है।

सारांश यह है कि योगीजन तथा संसारीजन दोनों ही व्यवहार में प्रवृत्त होते ही हैं। परन्तु उपासक योगी तो सत्त्वगुणमय ज्ञानरूप प्रकाश के सकाश से सब काम विचारपूर्वक करते हैं, अतः उनका ज्ञान बढ़ता जाता है, और संसारी मनुष्य सदा व्यवहारों में रजोगुण और तमोगुण के अन्धकार में फंसे रहते हैं, अतएव उनके चित्त की वृत्ति सदा अन्धकार में फंसती जाती है॥

[ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ १८९]

प्रश्न—चित्त की वृत्तियां कितनी हैं?

उत्तर—**वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः॥**

यो० पा० १। सू० ५॥

अर्थ—सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। उनके दो भेद हैं—एक तो क्लिष्ट अर्थात् क्लेशसहित, और दूसरी अक्लिष्ट अर्थात् क्लेशरहित ॥

उनमें से जिन मनुष्यों की वृत्ति विषयासक्त और परमेश्वर की उपासना से बिमुख होती है, उन की वृत्ति अविद्यादि-क्लेशसहित। और जो श्रेष्ठ उपासक हैं, उनकी क्लेशरहित शान्त होती है ॥

[ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ १८९]

प्रश्न—ये वृत्तियां कौन-कौन सी हैं?

उत्तर—प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥

यो० पा० १। सू० ६ ॥

अर्थ—ये पांच वृत्तियां ये हैं। पहली—प्रमाणवृत्ति, दूसरी—विपर्ययवृत्ति, तीसरी—विकल्पवृत्ति, चौथी—निद्रावृत्ति, और पांचवीं—स्मृतिवृत्ति ॥

इन सब वृत्तियों के विभाग और लक्षण आगे कहते हैं—

[१] प्रमाणवृत्ति

तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥१॥ यो०पो० १। सू० ७ ॥

अर्थ—प्रमाणवृत्ति तीन प्रकार की है। अर्थात् (१) प्रत्यक्षवृत्ति, (२) अनुमानवृत्ति, (३) आगमवृत्ति ॥

अक्षमक्षं प्रतीति प्रत्यक्षम् = इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

अनु पश्चान्मीयतेऽनेनेत्यनुमानम् = इस प्रत्यक्ष के अनन्तर जिस वृत्ति के द्वारा ज्ञान होता है, उसको 'अनुमान' कहते हैं।

आ समन्ताद गम्यते बुध्यतेऽनेनेत्यागमः शब्दः = भले प्रकार समझा जाय जिसके द्वारा उसे 'आगम' कहते हैं। अर्थात् शब्द प्रमाण वेद ही है, इसी कारण वेद को 'आगम' कहते हैं। तदनुकूल आप्तोपदिष्ट सत्यग्रन्थ भी शब्दप्रमाण हो सकते हैं ॥

न्यायशास्त्र के अनुसार प्रमाण आठ प्रकार का है, जिसको

श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने भी निज सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है [देखो—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० ६०]। वहां इस प्रकार लेख चला है—

प्रश्न—दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते—आप दर्शन =प्रमाण कितने प्रकार का मानते हो?

उत्तर—अष्टविधं चेति—आठ प्रकार का।

प्रश्न—किं च तत्—वे आठ प्रकार के प्रमाण कौन-कौनसे हैं?

उत्तर—अत्राहुर्गोतमाचार्या न्यायशास्त्रे—इस विषय में गोतमाचार्य ने न्यायशास्त्र में ऐसा प्रतिपादन किया है कि—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावसाधनभेदादष्टधा प्रमाणम्॥ न्याय अ० ३। आह्निक १। सूत्र ४ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ५९, ६०]॥

अर्थ—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द, (५) ऐतिह्य, (६) अर्थापत्ति, (७) सम्भव और (८) अभाव इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन=प्रमाण मानते हैं॥

१. प्रत्यक्ष—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥ न्याय अ० १। आ० १। सू० ४ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ५९, ६०]॥

अक्षमक्षं प्रति प्रत्यक्षं; यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात् सत्यमव्यभिचारि ज्ञानमुत्पद्यते तत् प्रत्यक्षम्।

अर्थ—'प्रत्यक्ष' उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्य अर्थात् निर्भ्रम और निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न हो।

अर्थात् जब श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा और घ्राण का शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, तब इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के

संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। परन्तु व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध और शब्दमात्र से जो ज्ञान होता है, सो शब्दप्रमाण का विषय होने के कारण प्रत्यक्ष की गणना में नहीं आता। अत. शब्द से जिस पदार्थ का कथन किया जाये, उस पदार्थ का अव्यपदेश्य और यथार्थबोध 'प्रत्यक्ष' कहाता है। वह ज्ञान भी 'अव्यभिचारी'=न बदलनेवाला अविनाशी और 'व्यवसायात्मक' =निश्चयात्मक हो ।। [सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृष्ठ ८१]

२. **अनुमान—अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च ।।** न्याय अ० १। आ० १। सू० ५ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ५९, ६०] ।।

प्रत्यक्षस्य पश्चात् मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्; यत्र लिङ्गानेन लिङ्गिनो ज्ञानं ज्ञायते तदनुमानम् ।

अर्थ—जो किसी पदार्थ के चिह्न को देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान होता है, वह '**अनुमान**' कहाता है। ऐसा ज्ञान अनुमान द्वारा तभी होता है, जब उस पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रथम हो चुका हो। अर्थात् जो "प्रत्यक्षपूर्व" नाम जिन पदार्थों का अविनाभाव सम्बन्ध किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हो चुका हो, उसके सहचारी का एकदेश में प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट सहचारी का ज्ञान होना '**अनुमान**' कहाता है। **वह अनुमान तीन प्रकार का होता है।** यथा—

(क) **पूर्ववत्**—जहां कारण को देखकर कार्य का ज्ञान होता है, वह 'पूर्ववत् अनुमान' कहाता है। यथा बादलों को देखकर भावी वर्षा का अनुमान करना।

(ख) **शेषवत्**—जहां कार्य को देखकर कारण का ज्ञान हो, वह 'शेषवत् अनुमान' कहाता है। जैसे पुत्र को देखकर पिता का अनुमान किया जाता है।

(ग) **सामान्यतोदृष्ट**—जो कोई किसी का कार्य-कारण न हो, परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक-दूसरे के साथ हो। जैसे कोई

भी बिना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता। वैसे ही अनुमान से जान लेना कि दूसरा कोई भी पुरुष स्थानान्तर में तब तक नहीं पहुंच सकता, जब तक कि वह चल कर वहां न जाय॥

[सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ८२]

३. उपमान—प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्॥ न्याय अ० १। आ० १। सूत्र ६ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० ५९, ६०]॥

उपमानं सादृश्यज्ञानम्; उपमीयते येन तदुपमानम्॥

अर्थ—जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो, उसको 'उपमान' कहते हैं। अर्थात् तुल्यधर्म से जो ज्ञान होता है, उसको उपमान प्रमाण जानो।

अर्थात् सादृश्य=एक से पदार्थों का ज्ञान उपमान से होता है। जिससे किसी अन्य व्यक्ति वा पदार्थ की उपमा दी जाय, उसे 'उपमान' कहते हैं। उदाहरण यथा—गाय के समान गवय=नील गाय होती है। देवदत्त के सदृश विष्णुमित्र है। अर्थात् जिस किसी का तुल्यधर्म देखके उसके समान धर्मवाले दूसरे पदार्थ का ज्ञान जिससे हो, उसको 'उपमान' कहते हैं॥ [सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ८३]

४. शब्द—आप्तोपदेशः शब्दः॥

न्याय अ० १। आ० १। सूत्र ७॥

शब्द्यते प्रत्याय्यते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इत्युदाहरणम्॥

अर्थ—जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा परोपकारप्रिय सत्यवादी पुरुषार्थी जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो, और जिससे सुख पाया हो, उस ही सत्य विषय के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, अर्थात् पृथिवी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके जो कोई उपदेष्टा हो, उसके वचन को 'शब्दप्रमाण' जानो। अर्थात् जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय करनेवाला, आप्त का किया हुआ

उपदेश=वाक्य हो, उसको 'शब्दप्रमाण' कहते हैं। उदाहरण यथा—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणयुक्त आप्त विद्वानों के बनाये शास्त्र, तथा पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को 'शब्द-प्रमाण' वा आगम-प्रमाण जानो ॥ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ५९, ६०; सत्यार्थ-प्रकाश समु० ३, पृष्ठ ८३]।

५. ऐतिह्य--ऐतिह्यं [इति ह आस] शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टं ग्राह्यम् ॥

अर्थ—इति ह आस—वह निश्चय इस प्रकार का था, वा उसने इस प्रकार किया। अर्थात् किसी के जीवन-चरित्र का नाम 'ऐतिह्य' है। सो सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास =ऐतिह्य जानो। यथा—ऐतरेय शतपथ आदि सत्य ब्राह्मण ग्रन्थों में जो देवासुर-संग्राम की कथा लिखी है, वही ग्रहण करने योग्य है। अन्य नहीं। ऐसे ही अन्य सत्य इतिहास ऐतिह्य प्रमाण कहाते हैं ॥

६. अर्थापत्ति—अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः ॥

अर्थ—जो एक बात के कथन से उसके विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं। यथा इस कथन से कि "बादल के होने से वर्षा होती है", वा "कारण के होने से कार्य होता है", यहां विरुद्धपक्षी अर्थाशय विना कहे ही समझ लिया जाता है कि बादल के विना वृष्टि और कारण के विना कार्य का होना असम्भव है। इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है, उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं ॥

७. सम्भव—सम्भवति येन यस्मिन् वा स सम्भवः ॥

अर्थ—जिस करके वा जिसमें जो बात हो सकती हो उसको 'सम्भव' प्रमाण जानो। यथा माता-पिता से सन्तानोत्पत्ति सम्भव है ॥

अर्थापत्ति और इस सम्भव प्रमाण से ही असम्भव बातों का भी खण्डन हो जाता है। यथा—मृतक का जिला देना, पहाड़ उठा

लेना, समुद्र में पत्थर तिरा देना, चन्द्रमा के टुकड़े कर देना, परमेश्वर का अवतार, शृङ्गधारी मनुष्य, वन्ध्या पुत्र का विवाह, ये सब बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने के कारण असम्भव और मिथ्या ही समझी जा सकती हैं। क्योंकि ऐसी बातों का सम्भव कभी नहीं हो सकता। अतः जो बातें सृष्टिक्रम के अनुकूल हों, वे ही सम्भव हैं॥

[सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ८४; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ६०, ६१]

८. अभाव—न भवति यस्मिन् सोऽभावः॥

अर्थ—जो बात कहीं किसी में किसी प्रकार से भी न पाई जाय, उसका सर्वथा 'अभाव' ही माना जाता है॥

इनमें से जो 'शब्द' में 'ऐतिह्य', और 'अनुमान' में 'अर्थापत्ति' 'सम्भव' और 'अभाव कीं गणना करें, तो केवल चार प्रमाण ही रह जात्ते हैं।

यहां तक 'प्रमाण' नामक प्रथम चित्त की वृत्ति का संक्षेप से वर्णन हुआ॥१॥

आगे शेष चार वृत्तियों को कहते हैं—

[२] विपर्ययवृत्ति

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ यो० पा० १। सूत्र ८

[ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १८७, १८९]॥

अर्थ—दूसरी वृत्ति 'विपर्यय' कहाती है, जिससे कि ऐसा मिथ्याज्ञान हो जो पदार्थ के सत्यरूप को छिपा दे। अर्थात् ऐसा झूठा ज्ञान कि जिसके द्वारा पदार्थ अपने पारमार्थिक रूप से भिन्न रूप में भासित हो। अर्थात् जैसे को तैसा न जानना, अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना। यथा सीप में चांदी का भ्रम होना; जीव में ब्रह्म का ज्ञान वा भान। यह विपर्ययज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रमाण से खण्डित हो जाता है। विपर्यय को ही 'अविद्या' भी कहते हैं, जिसका वर्णन आगे होगा॥२॥

[३] विकल्पवृत्ति

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ३ ॥ यो० पा० १। सूत्र ९ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १८७, १८९] ॥

अर्थ—तीसरी वृत्ति 'विकल्प' है कि जिसका शब्द तो हो, परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके। अर्थात् शब्द-मात्र से जिसका भान वा ज्ञान हो, परन्तु ज्ञेय पदार्थ कुछ भी न हो। यथा बन्ध्या का पुत्र, सींगवाले मनुष्य, आकाश-पुष्प। इस 'विकल्प' वृत्ति से भी 'विपर्यय' वृत्ति के समान 'संशयात्मक भ्रमात्मक वा मिथ्याज्ञान ही उत्पन्न होता है। भेद इतना ही है कि विपर्ययवृत्ति-जन्य ज्ञान में तो कोई ज्ञेय पदार्थ अवश्यमेव होता है, परन्तु विकल्प-वृत्ति में ज्ञेय पदार्थ कोई भी नहीं होता। केवल शब्दज्ञानमात्र इसमें सार है। आशय यह है कि शब्दज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होनेवाली वृत्ति, जिसमें शब्दज्ञान से मोहित हो जाने पर वास्तविक पदार्थ की सत्ता की कुछ अपेक्षा न रहे, वह 'विकल्प' वृत्ति है ॥३॥

[४] निद्रावृत्ति

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ ४ ॥ यो० पा० १। सूत्र १० [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १८७, १९०] ॥

अर्थ—अभाव नाम ज्ञान के अभाव का जो आलम्बन करे, और जो अज्ञान तथा अविद्या के अन्धकार में फंसी हुई वृत्ति होती है, उसको 'निद्रा' कहते हैं। कि जिसमें सांसारिक पदार्थों के अभाव का ज्ञान रहे, अर्थात् अभाव ज्ञान के आश्रय पर ही जो स्थिर हो ॥

इस वृत्ति में तमोगुण ही प्रधान रहता है। इस ही कारण से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान जाता रहता है, और केवल अभाव का ही ज्ञान रहता है। यह वृत्ति जीव के वास्तविक स्वरूप में नहीं है, प्रत्युत अन्य वृत्तियों के समान जीव इसको भी जीत सकता है ॥

निद्रावृत्ति तीन प्रकार की होती है—(१) एक तमोगुण प्रधान—जिसमें रात्रि भर मनुष्य अतीव गाढ़ निद्रा में सोया हुआ

रहने पर भी जगाने पर अति कठिनता से जागता है, तथापि सोने की इच्छा बनी रहती है, और अवसर मिलने से फिर भी सो जाता है।

(२) दूसरी **रजोगुणप्रधान**—जिसमें कि मनुष्य रात्रिभर सोया भी रहे, तथापि रात्रि के अन्त में जब जागता है, तब कहता है कि मुझे रात्रि को निद्रा अच्छे प्रकार नहीं आई। और दिन में आलस्य बना रहता है।

(३) तीसरी **सत्त्वगुणप्रधान** निद्रा कहाती है, जिसको योगीजन लेते हैं, और अधिक से अधिक चार घण्टे सो लेने के उपरान्त जब जागते हैं, तो स्मरण होता है कि हम बड़े आनन्दपूर्वक सोये।

उक्त त्रिविध 'निद्रावृत्ति' 'स्मृतिवृत्ति' से जानी जाती है। अर्थात् स्मृतिवृत्ति का भाव निद्रा में बना रहता है। यदि निद्रा में स्मृति न रहे, तो जागने पर उसके अनुभव का वर्णन कैसे सम्भव हो?

निद्रात्रय का जिस किसी को यथावत् ज्ञान हो जाता है, वही पुरुष निद्रा को जीत भी सकता है। निद्रा को समाधि में त्यागना चाहिये, क्योंकि यह योगाभ्यास में विघ्नकारक है। इस वृत्ति का पूर्णज्ञान ध्यानयोग द्वारा ही होता है, और उस ध्यानयोग से ही इसका निवारण भी हो सकता है।

निद्रा भी वृत्तियों में परिगणनीय इसलिये है कि मनुष्य को सुखपूर्वक वा दुःखपूर्वक सोने आदि की स्मृति विना अनुभव के नहीं होती।

निद्रा के दो भेद और भी हैं। एक तो—**'आवरणवृत्ति'**, और दूसरी—**'लयतावृत्ति'**।

(१) **'आवरणवृत्ति'** उसको कहते हैं कि जो बादल की तरह ज्ञान को ढक लेती है। यह निद्रा का पूर्वरूप है।

(२) **'लयतावृत्ति'** वह कहाती है, जिसमें निद्रावश मनुष्य झोंके खाने लगता है।

उक्त सर्वप्रकार की निद्रा को ध्यानयोग से हटाना उचित है ॥ ४ ॥

[५] स्मृतिवृत्ति

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥५॥ यो॰ पा॰ १ । सूत्र ११ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १८७, १९०] ॥

अर्थ—अनुभूत पदार्थों के पुनर्विचार को 'स्मृति' कहते हैं। अर्थात् जिन विषयों का चित्त वा इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया गया हो, उनका जो वारम्बार ध्यान आता रहता है, वही स्मृतिवृत्ति' है ॥

सारांश यह है कि जिस वस्तु वा व्यवहार को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उस ही का संस्कार ज्ञान में बना रहता है। फिर उस विषय को असम्प्रमोष=भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति' कहते हैं।

स्मृति दो प्रकार की हैं। एक तो—'भावितस्मर्तव्या', और दूसरी—'अभावितस्मर्त्तव्या'।

(१) स्वप्नावस्था में जो जाग्रत अवस्था के अनुभूत पदार्थों की स्मृति होती है, वह 'भावितस्मर्तव्या स्मृति' कहाती है।

(२) और जाग्रत अवस्था में जो स्वप्नावस्था के पदार्थों की स्मृति होती है, उसको 'अभावितस्मर्तव्या' स्मृति कहते हैं ॥५॥

———०———

वृत्ति-याम=वृत्तिनिरोध

योगी को उचित है कि इन सब वृत्तियों का निरोध करे। क्योंकि इनके हटाने के पश्चात् ही सम्प्रज्ञात वा असम्प्रज्ञात योग हो सकता है। इन पांचों वृत्तियों के निरोध करने अर्थात् इनको बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का प्रथम उपाय अगले दो सूत्रों में कहा है—

१. प्रथम वृत्तियाम

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ यो॰ पा॰ १ । सूत्र १२ ॥

२. द्वितीय वृत्तियाम

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ यो० पा० १ । सू० २३ [ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका, पृष्ठ १८७, १८८, १९०] ॥

अर्थ---(१) ईश्वर के निरन्तर चिन्तनमय योग की क्रियाओं के अभ्यास तथा वैराग्य से उक्त वृत्तियां रोकी जाती हैं। **'यह प्रथम वृत्तियाम है'**।

(२) अथवा ईश्वर की भक्ति से समाधियोग प्राप्त होता है। **'यह द्वितीय वृत्तियाम है'** ॥

अर्थात् 'अभ्यास' तो जैसा आगे लिखा जायगा, उस विधि से करे। और सब बुरे कामों दोषों तथा सांसारिक विषय-वासनाओं से अलग रहना 'वैराग्य' कहाता है। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांचों वृत्तियों को रोककर उनको उपासनायोग में प्रवृत्त रखना उचित है।

तथा दूसरा यह भी साधन है कि ईश्वर में पूर्णभक्ति होने से मन का समाधान होकर मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है। इस भक्तियोग को 'ईश्वर-प्रणिधान' कहते हैं। इस प्रकार चित्त की वृत्तियों के निरोध करने को 'वृत्तियाम' कहते हैं।

ईश्वर का लक्षण—अगले तीन सूत्रों में उस **'ईश्वर का लक्षण'** कहा जाता है कि जिसकी भक्ति का विधान पूर्वसूत्र में किया है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ यो०पा०१ सूत्र २४ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९०; १९२] ॥

अर्थ—अविद्यादि पांच क्लेशों, और अच्छे तथा बुरे कामों की समस्त वासनाओं से ज़ो सदा अलग और बन्धन-रहित है, उस ही पूर्ण पुरुष को 'ईश्वर' कहते हैं। जो परमात्मा जीवात्मा से विलक्षण =भिन्न है। क्योंकि जीव अविद्याजन्य कर्मों को करता, और उन कर्मों के फलों को परतन्त्रता से भोगता है ॥

इस सूत्र में कहे पांच क्लेश ये हैं—(१) अविद्या, (२) अस्मिता,

(३) राग, (४) द्वेष, और (५) अभिनिवेश। इन सब की व्याख्या आगे की जायेगी।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ यो० पा० २। सूत्र २४ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १६१, १६२]॥

अर्थ—जिसमें नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है, वही 'ईश्वर' है, जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, और जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं है॥

जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है। इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें।

ईश्वर का महत्त्व और नाम—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ यो० पा० १। सूत्र २६ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १६१, १६२]॥

अर्थ—वह पूर्वोक्त गुणविशिष्ट परमेश्वर पूर्वज महर्षियों का भी गुरु है, क्योंकि उसमें कालकृत सीमा नहीं है। अर्थात् प्राचीन अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष, जो कि सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, उनसे लेकर हम लोगों पर्यन्त और हमसे आगे जो होनेवाले हैं, उन सब का गुरु परमेश्वर ही है। अर्थात् वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम 'गुरु' है। सो ईश्वर नित्य ही है। क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है॥

आगे ईश्वर की भक्ति अर्थात् स्तुति प्रार्थना उपासना की विधि दो सूत्रों में कही है—

तस्य वाचकः प्रणवः॥ यो० पा० १। सूत्र २७ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १६१, १६२]॥

अर्थ—उस परमेश्वर का वाचक 'प्रणव' अर्थात् ओंकार है। अर्थात् जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के

समान है। और यह नाम परमेश्वर को छोड़के दूसरों का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें से ओंकार सबसे उत्तम नाम है ॥

३. तृतीय वृत्तियाम

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ यो० पा० १। सूत्र २८ [ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका, पृष्ठ १९१, १९२] ॥

अर्थ इस ही नाम का जप अर्थात् स्मरण, और इस ही का अर्थविचार सदा करना चाहिये। जिससे कि उपासक का मन एकाग्रता प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हों। जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाये। जैसा कि कहा भी है—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति ॥

योग व्यासभाष्य पा० १। सू० २८ ॥

अर्थ—स्वाध्याय (='ओं' मन्त्र का जप) से योग को और योग से जप को सिद्ध करे। तथा जप और योग इन दोनों के बल से परमात्मा का प्रकाश योगी की आत्मा में होता है। यह मन को एकाग्र करने का तीसरा उपाय है ॥

आगे योगशास्त्रानुसार प्रणव-जाप का फल कहा जाता है।

प्रणवजाप का फल—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ यो० पा० १। सूत्र २९ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९२–१९४] ॥

अर्थ—तब परमेश्वर का ज्ञान और विघ्नों का अभाव भी हो जाता है। अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और अन्तराय अर्थात् पूर्वोक्त अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है ॥

सारांश यह है कि प्रणव के जप और प्रणव के अर्थ को विचारनें

से, तथा प्रणववाच्य परमेश्वर के चिन्तन से योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है। क्योंकि जो मनुष्य परमात्मा के उत्कृष्ट नाम प्रणव का भक्ति से जप करता है, उसको परमात्मा पुत्र के तुल्य प्रेम करके उसके मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। अतएव समाधि की सिद्धि प्राप्त करने के लिये प्रणव का जप और उसके वाच्य परमेश्वर का चिन्तन अर्थात् उस परमात्मा का बारम्बार स्मरण और ध्यान उपासक योगी को अवश्य करना चाहिये। तब उस योगी को उस अन्तर्यामी परमात्मा का सम्पूर्ण ज्ञान, जैसा कि ईश्वर सर्वव्यापक आनन्दमय अद्वितीय आदि है, वैसा ही यथार्थता से हो जाता है।

नव योगमल—अगले सूत्र में उन विघ्नों का कथन है कि जो समाधि-साधन में विघ्नकारक हैं, अर्थात् चित्त को एकाग्र नहीं होने देते—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।। यो० पा० १। सूत्र ३० [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९३, १९४] ।।

अर्थ—वे विघ्न नव प्रकार के हैं, जो क्रमशः नीचे लिखे हैं। ये सब एकाग्रता के विरोधी हैं, और रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होते, और चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं।।

१. व्याधि—शरीरस्थ धातुओं तथा रस की विषमता (=बिगड़ना वा न्यूनता वा अधिकता) से ज्वरादि अनेक रोगों तथा पीड़ाओं के होने से जो शरीर में विकलता होती है, उसको 'व्याधि' कहते हैं। यह शारीरिक विघ्न है। इससे चित्त व्याकुल होकर "ध्यानयोग" नाम समाधिसाधन में तत्पर नहीं रह सकता। क्योंकि उस समय अस्वास्थ्य होता है।

२. स्त्यान—सत्य कामों में अप्रीति, दुष्ट कर्म का चिन्तन करना, अथवा कर्मरहित होने की इच्छा करना, अपना 'स्त्यान'

कहाता है। इस विघ्न से चित्त चेष्टारहित वा कुचेष्टारत हो जाता है।

३. संशय—जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे, उसका यथावत् ज्ञान न होना 'संशय' कहाता है। जो दोनों कोटि का खण्डन करनेवाला उभयकोटिस्पृक् ज्ञान हो। कभी कहे कि यह ठीक है, कभी कहे दूसरा ठीक है। यह इस प्रकार नहीं है, वह इस प्रकार से नहीं है, अर्थात् जिससे दो विषयों में भ्रम होता है कि यह करना उचित है वा वह करना उचित है। योग मुझे सिद्ध होगा वा नहीं। ऐसे दो प्रकार के भ्रमजन्य ज्ञानों को धारण करना 'संशय' कहाता है।

४. प्रमाद—समाधि-साधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका यथावत् विचार न होना 'प्रमाद' कहाता है। इस विघ्न में मनुष्य सावधान नहीं रहता, और उदासीन हो जाता है।

५. आलस्य—शरीर और मन में आराम करने की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना। अर्थात् शरीर वा चित्त के भारीपन से चेष्टा-रहित नाम अप्रयत्नवान् हो जाना 'आलस्य' कहाता है।

६. अविरति—विषय-सेवा में तृष्णा का होना। अर्थात् 'अविरति' उस वृत्ति को कहते है कि जिसमें चित्त विषय के संसर्ग से आत्मा को मोहित वा प्रलोभित कर देता है।

७. भ्रान्तिदर्शन—उलटे ज्ञान का होना। जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ बुद्धि करना, तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव, तथा आत्मा में अनात्मा और अनात्मा में आत्मा का भाव करके पूजा करना। अथवा जैसे सीप में चांदी का ज्ञान होना 'भ्रान्तिदर्शन' कहाता है, इसको अविद्या भी कहते हैं।

८. अलब्धभूमिकत्व—समाधि की प्राप्ति न होना। अर्थात् किसी कारण से समाधियोग की भूमि-प्राप्ति न कर सकना 'अलब्ध-भूमिकत्व' कहाता है।

९. अनवस्थितत्व—समाधि की प्राप्ति हो जाने पर भी उसमें चित्त का स्थिर न रहना 'अनवस्थितत्व' कहाता है।

ये सब विघ्न चित्त की समाधि होने में विक्षेपकारक है, अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं। इनको 'योगमल' (=योग के मल), 'योगप्रतिपक्षी' (=योग के शत्रु), और 'योगान्तराय' (=योग के विघ्न) भी कहते हैं।

योगमलजन्य विघ्नचतुष्टय—अगले सूत्र में उक्त नव योगमलों के फलरूप दोषों का वर्णन है। अर्थात् किस-किस प्रकार के विघ्न इन मलों से मनुष्य को प्राप्त होते हैं—

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ यो०पा० १। सूत्र ३१ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९३, १९५]॥

अर्थ—वे विघ्न ये हैं कि—(१) **दुःख**—ये तीन प्रकार के हैं। एक—**आध्यात्मिक**; दूसरा—**आधिभौतिक**; तीसरा—**आधिदैविक**। यह समाधि-साधन की '**प्रथम विक्षेप-भूमि**' है—

[क] मानसिक वा शारीरिक रोगों के कारण जो क्लेश होते हैं, वे '**आध्यात्मिक दुःख**' कहाते हैं। सो अविद्या राग द्वेष मूर्खता आदि कारणों से आत्मा और मन को प्राप्त होते हैं।

[ख] दूसरे प्राणियों अर्थात् सर्प व्याघ्र वृश्चिक चौर शत्रु आदि से जो दुःख होते हैं, वे '**आधिभौतिक दुःख**' कहाते हैं। और प्रायः रजोगुण और तमोगुण से इनकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् जब कोई मनुष्य रज वा तम की प्रधानता में अन्य प्राणियों को सताता है, तो वे सताये गये प्राणी पीड़ित होकर अनेक प्रकार से दुःख पहुंचाने का यत्न करते हैं।

[ग] '**आधिदैविक दुःख**' वे कहाते हैं, जो मन और इन्द्रियों की चंचलता वा अशान्ति, तथा मन की दुष्टता तथा अशुद्धता आदि विकारों से, अथवा अतिवृष्टि अनवसरवृष्टि अनावृष्टि अतिशीत अतिउष्णता महामारी आदि दैवाधीन कारणों से प्राप्त होते हैं।

(२) **दौर्मनस्य**—मन का दुष्ट होना, अर्थात् इच्छाभंग आदि बाह्य वा आभ्यन्तर कारणों से मन का चंचल होकर किसी प्रकार

क्षोभित=अप्रसन्न होना 'दौर्मनस्य' कहाता है। यह समाधि की 'दूसरी विक्षेप-भूमि' है।

(३) अंगमेजयत्व—शरीर के अवयवों का कम्पन होना 'अंग-मेजयत्व' कहाता है। यह समाधियोग की 'तीसरी विक्षेप-भूमि' है। इसका लक्षण यह है कि जब शरीर के सब अङ्ग कांपने लगते हैं, तब आसन स्थिर नहीं होता। आसन के अस्थिर होने से मन नहीं ठहरता। और मन की चंचलता के कारण ध्यानयोग यथार्थ नहीं होता। और ध्यान ठीक न लगने से समाधि प्राप्त नहीं होती।

(४) श्वास-प्रश्वास—श्वास-प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेश उत्पन्न होकर चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। बाहर के प्राण-वायु को भीतर ले जाना 'श्वास' कहाता है। और भीतर के अपान वायु को बाहर निकालकर फेंकना 'प्रश्वास' कहाता है। श्वास-प्रश्वास 'चौथी विक्षेप-भूमि' है।

इस सूत्रान्तर्गत 'विक्षेपसहभुवः' वाक्य का यह अर्थ है कि ये दोष विक्षेप के साथ उत्पन्न होते हैं। अर्थात् यह क्लेश विक्षिप्त और अशान्त चित्तवाले मनुष्य को प्राप्त होते हैं कि जिसका मन वश में न रहे। समाहित=सावधान और शान्त-चित्तवाले को नहीं होते॥

ये सब समाधियोग के शत्रु हैं। इस कारण इनको रोकना वा निवृत्त करना आवश्यक है। इनके निवारण करने की विधि अगले सूत्र में कही जाती है—

४. चतुर्थ वृत्तियाम

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥ यो० पा० १। सूत्र ३२
[ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका; पृष्ठ १९३, १९५]॥

अर्थ—पूर्वसूत्रोक्त उपद्रवमय विघ्नों का निवारण करने का मुख्य उपाय यही है कि एकतत्त्व का अभ्यास करे। अर्थात् जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम रखना, और सर्वदा उस ही

की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना चाहिये। क्योंकि वही एक इन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है, अन्य कोई उपाय नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि अच्छे प्रकार प्रेम और भक्ति-भाव से परमेश्वर के उपासनायोग=ध्यानयोग में नित्य पुरुषार्थ करें, जिससे वे सब विघ्न दूर हो जायें। यह चित्त के निरोध का चौथा उपाय है ॥

५. पञ्चम वृत्तियाम

जिस भावना से उपासना करनेवाले को व्यवहारों में अपना चित्त सुसंस्कारी और प्रसन्न करके एकाग्र करना उचित है, वह उपाय अगले सूत्र में कहा है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनात-श्चित्तप्रसादनम् ॥ यो० पा० १। सूत्र ३३ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९५, १९६] ॥

अर्थ—प्रीति दया प्रसन्नता और त्याग की सुखी दु:खी पुण्यात्मा और पापियों में भावना=धारणा से चित्त प्रसन्न होता है ॥

अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं, उन सब के साथ मैत्रीभाव=सौहार्द बन्धुभाव सहानुभूति आदि का बर्ताव रखना, दु:खियों पर दया नाम कृपादृष्टि रखना, पुण्यात्माओं के साथ हर्ष, और पापियों के साथ उपेक्षा=उदासीनता अर्थात् न तो उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना, वा यथासम्भव उनके संग से दूर रहना।

सारांश यह है कि सुखयुक्त ऐश्वर्यशाली जनों से प्रीति करना, किन्तु ईर्ष्या न करना। दु:खियों के दु:ख देखकर उनका हास्य न करे, वरन् दु:ख दूर करने का उपाय सोचे। पुण्यात्मा साधु जनों को देखकर प्रसन्न होवे, द्वेष करके उनके छिद्र न खोजे, अथवा दम्भादि दुष्टता के भाव से उनके साथ विरोध न करे। और पापियों से

उदासीनभाव को बर्ते। अर्थात् उनके कर्मों का अनुमोदन भी न करे, और न शत्रुभाव माने।

इस प्रकार के वर्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है। यह चित्त के सावधान होने का पांचवां उपाय है।

यह पांच प्रकार का 'वृत्तियाम' कहा, जिससे चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है॥

प्राणायाम का सामान्य वर्णन

चित्त का निरोध=एकाग्र करना ही मुख्य योग है, जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है। सो चित्त के एकाग्र करनें के पांच उपाय पूर्व कहे हैं। छठा उपाय अगले सूत्र में कहा जाता है, जो योग की सम्पूर्ण क्रियाओं में प्रधान है। इस ही को 'प्राणायाम' कहते हैं—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ यो० पा० १ । सू० ३४ ॥

अर्थ—प्राणनामक वायु को प्रच्छर्दन=वमनवत् बलपूर्वक बाहर निकालनें, तथा पुनः अपान नामक वायु को भीतर ले जाने से चित्त की एकाग्रता होती है॥

अर्थात् जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न जल बाहर निकल जाता है, वैसे ही भीतर के प्राणवायु को अधिक यत्न से (=बलपूर्वक) बाहर फेंककर सुखपूर्वक यथाशक्ति (=जितना बन सके उतना अर्थात् उतनी देर तक) बाहर ही रोक देवे। जब बाहर निकलना चाहे, तब मूलनाड़ी को ऊपर खींच रक्खे, तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो, तब धीरे-धीरे वायु को भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करता जाय, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो।

इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास करनें से प्राण उपासक के वश

में हो जाता है, और प्राण स्थिर हो जाता है। प्राण के स्थिर होने से मन, तथा मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपनी आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारम्बार मग्न करना चाहिये। और मन में 'ओ३म्' इस शब्द का जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की स्थिरता और पवित्रता होती है।

प्राणायाम के चार भेद हैं। उनकी यथावत् संविस्तर सम्पूर्ण विधि चतुर्विध प्राणायाम के प्रसंग में आगे कही है। किन्तु जिज्ञासु को बोध कराने के लिये उनका संक्षेप से यहां भी कथन किया जाता है।

वे चार प्रकार के प्राणायाम ये हैं—

(१) एक तो—'बाह्यविषय', अर्थात् प्राण को बाहर ही अधिक रोकना।

(२) दूसरा—'आभ्यन्तरविषय', अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय, उतना रोककर प्राणायाम किया जाता है।

(३) तीसरा—'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम', अर्थात् एक ही बार जहां का तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना।

(४) चौथा—'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी प्राणायाम', अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उस से विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले। और जब बाहर से भीतर आने लगे, तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। ऐसे एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करे, तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियां भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है, कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य के शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल पराक्रम और

जितेन्द्रियता होती है। और सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में वह मनुष्य समझकर उपस्थित कर लेता है। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे। [सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ६२; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९५, १९६]

सम्प्रति प्राणायामों के अनुष्ठान-सम्बन्धी क्रियाओं के विषय में लोगों को अनेक भ्रम हैं। और ऊटपटांग अस्तव्यस्त रोगकारक क्रियायें प्रचलित हैं। अतएव इस विषय के स्पष्टीकरणार्थं ग्रन्थकार को पुनरुक्ति अभीष्ट है। इस ही आशय से प्रकरणानुकूल यहां भी कुछ कथन किया गया, तथा आगे भी मुख्य विषय में सविस्तर व्याख्या की जायगी। क्योंकि इस ग्रन्थ के निर्माण की आवश्यकता का मूल कारण प्राणायामों की कपोल-कल्पना ही है, जिसको दूर करना ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य है।

अथाष्टाङ्गयोग-वर्णनम्

आगे उपासनायोग=ध्यानयोग के आठ अङ्गों का वर्णन है, जिन के अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि अगले सूत्र में कहा है—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ यो०पा० २। सू० २८ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९५, १९७]॥

अर्थ—योग के जो आठ अङ्ग हैं, उनके साधन करने से मलिनता का नाश, 'ज्ञानदीप्ति'=ज्ञान का प्रकाश, और 'विवेकख्याति' की वृद्धि होती है॥

योग के उक्त आठों अङ्गों के नाम अगले सूत्र में गिनाये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥ यो०पा० २। सू० २९ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० १९५, १९७]॥

अर्थ—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, और (८) समाधि ये आठ ध्यानयोग के अङ्ग हैं ॥

इन में से प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये ५ तो योग के साक्षात् साधक हैं। अतएव ये प्राणायामादि 'अन्तरङ्ग साधन' कहाते हैं। और यम नियम तथा आसन ये तीन परम्परा-सम्बन्ध से योग में सहायता देते हैं। यथा—यम और नियम से चित्त में निर्मलता तथा योग में रुचि बढ़ती है, और आसन के जीतने के पश्चात् प्राणायाम स्थिर होता हैं। अतः यमादि ३ योग के परम्परा से उपकारक हैं, किन्तु साक्षात् समाधि के साधक नहीं हैं। इस कारण यमादि योग के 'बहिरङ्ग साधन' कहाते हैं। इन आठों अङ्गों का सिद्धान्तरूप फल 'संयम' है।

अब इन सब अङ्गों के लक्षण क्रमशः कहे जाते हैं—

(१) पांच प्रकार के यम

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ यो० पा० २। सू० ३० [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९६, १९७] ॥

अर्थ—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, और (५) अपरिग्रह ये पांच 'यम' कहाते हैं ॥

ये यम 'उपासनायोग के प्रथम अङ्ग' हैं। नीचे पांचों के लक्षण लिखे हैं—

१. अहिंसा—सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैरभाव छोड़कर प्रेम-प्रीति से वर्तना। अर्थात् किसी काल में किसी प्रकार से किसी प्राणी के साथ शत्रुता का काम न करना, और किसी का अनिष्टचिन्तन भी कभी न करना 'अहिंसा' कहाती है।

'अहिंसा' शेष चार यमों का मूल है। क्योंकि अहिंसा के सिद्ध करने के लिये ही सत्यादि सिद्ध किये जाते हैं। हिंसा सब अनर्थों का हेतु है। अन्य जीवों के शरीर का प्राणघातरूप हत्या करने वा अनेक

प्रकार के दुःख देने के प्रयोजन से जो चेष्टा वा क्रिया की जाती है, वह 'हिंसा' कहाती है। हिंसा के अभाव को 'अहिंसा' कहते हैं। अहिंसा में सब प्रकार की हिंसा निवृत्त हो जाती है। इस ही कारण प्रथम अहिंसा का प्रतिपादन इस सूत्र में किया गया है।

ब्रह्मप्राप्ति की आकाङ्क्षा रखनेवाला योगी जैसे-जैसे बहुत से व्रतादि नियमों को धारण करता जाता है, वैसे ही प्रमाद से किये हुये हिंसा के कारणरूप पापों से निवृत्त होकर निर्मल रूपवाली अहिंसा को धारण करता है।

२. सत्य—जैसा अपने ज्ञान में हो, वैसे ही सत्य बोले करे और मानें। जिससे कि मन और वाणी यथार्थ नियम से रहें। अर्थात् जैसा देखा अनुमान किया वा सुना हो, अपने मन और वाणी से वैसा ही प्रकाशित करना। और जिस किसी को उपदेश करना हो, तो निष्कपट निर्भ्रान्त ऐसे शब्दों में करना, जिससे उसको अपने हित और अहित का यथार्थ बोध हो जाय। वह वाक्य निरर्थक न हो। सब प्राणियों के उपकार के लिये कहा गया हो, न कि उनके विनाश के लिये। और जो वाक्य कहना हो, उसकी परीक्षा सावधान मन से करके यथार्थ कहना 'सत्य' कहाता है।

३. अस्तेय—पदार्थवाले की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना। इस ही को 'चोरीत्याग' भी कहते हैं। अर्थात् सत्यशास्त्र-विरुद्ध निषिद्ध वा अन्याय की रीति से किसी पदार्थ को ग्रहण न करना, प्रत्युत उसकी इच्छा भी न करना 'अस्तेय' कहाता है।

४. ब्रह्मचर्य्य—गुप्तेन्द्रिय=उपस्थेन्द्रिय का संयम नाम निरोध करके वीर्य की रक्षा करना। विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहना। पच्चीसवें वर्ष से लेकर अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह करना। वेश्यादि परस्त्री तथा परपुरुष आदि का त्यागना। अर्थात् स्त्रीव्रत वा पतिव्रतधर्म का यथावत् पालन करना।

सदा ऋतुगामी होना, और विद्या को ठीक पढ़कर सदा पढ़ते रहना। 'ब्रह्मचर्य' कहाता है।

५. अपरिग्रह—विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना। अर्थात् भोग-साधना की सामग्रीरूप भोग्यपदार्थों तथा विषयों का संग्रह करने, फिर उन की रक्षा करने, पश्चात् उनके नाश में सर्वत्र हिंसारूप दोष देखकर जो विषयों वा अभिमानादि दोषों का त्यागना अर्थात् विषयों का जो दोषदृष्टि से त्यागना है, उसे 'अपरिग्रह' कहते हैं।

यमों का ठीक-ठीक अनुष्ठान करनें से उपासनायोग=ध्यान-योग का बीज बोया जाता है। आगे नियमों का वर्णन करते हैं।

'ध्यानयोग का दूसरा अङ्ग नियम' है। वह भी वक्ष्यमाण सूत्रानुसार पांच प्रकार है—

(२) पांच प्रकार के नियम

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ यो० पा० २। सूत्र ३२ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १६७, १६८] ॥

अर्थ—(१) शौच, (२) सन्तोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय, और (५) ईश्वर-प्रणिधान ये पांच 'नियम' कहाते हैं॥

१. शौच—'शौच' पवित्रता को कहते हैं। सो दो प्रकार का है। एक—बाह्य शौच, दूसरा—आभ्यन्तर शौच।

(क) बाह्य शौच—बाहर की पवित्रता मट्टी जलादि से शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खान-पान आदि को शुद्ध रखने से होता है।

(ख) आभ्यन्तर शौच—भीतर की शुद्धि धर्माचरण सत्य-भाषण विद्याभ्यास विद्वानों का संग, तथा मैत्री करुणा मुदिता आदि से अन्तःकरण के मलों को दूर करने आदि शुभ गुण कर्म स्वभाव के आचरण से होता है।

२. सन्तोष—सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना, और दुःख में शोकातुर न होना 'सन्तोष' कहाता है। किन्तु

आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। अर्थात् निज पुरुषार्थ और परिश्रम करने से जो कुछ थोड़ा वा बहुत पदार्थ अपनी उदरपूर्त्ति वा कुटुम्ब-पालनादि-निमित्त प्राप्त हो, उस ही में सतुष्ट रहना। निर्वाह-योग्य पदार्थों के प्राप्त हो जाने पर अधिक तृष्णा न करना, और अप्राप्ति में शोक भी न करना।

३. तप—जैसे सोने को अग्नि में तपाकर निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण=शुभ गुण कर्म स्वभाव का धारण पालन से निर्मल कर देना 'तप' कहाता है। तथा सुख-दुःख, भूख-प्यास, सरदी-गरमी, मानापमान आदि द्वन्द्वों का सहन करना, तथा कृच्छ्रचान्द्रायण सान्तपन आदि व्रतों का करना, तथा स्थिर=निश्चल आसन से एक नियत स्थान में ध्यानाऽवस्थित मौनाकार वृत्ति से नित्यप्रति नियमपूर्वक नियत समय तक, दोनों संध्या-वेलाओं में योगाभ्यास करना 'तप' कहाता है।

४. स्वाध्याय—मोक्षविद्या-विधायक वेदादिसत्यशास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, ओङ्कार के अर्थ विचार से ईश्वर का निश्चय करना-कराना, और प्रणव का जप करना 'स्वाध्याय' कहाता है।

५. ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर में सब कर्मों का अर्पण कर देना, जिसको 'भक्तियोग' भी कहते हैं। अर्थात् सब सामर्थ्य सब गुण प्राण आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना 'ईश्वर-प्रणिधान' कहाता है।

द्वितीय 'वृत्तियाम' में ईश्वर-प्रणिधान का कथन हो चुका है (पूर्व पृष्ठ ८९ में)। आगे 'इसकी विधि और फल' कहते हैं—

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा, स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः, स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी॥

योगशास्त्र व्यासदेवकृत भाष्य पा० २, सूत्र ३२ का श्लोक॥

इसका यह अर्थ है कि—खट्वादि शय्या वा आसन पर लेटा वा बैठा हुआ, तथा मार्ग चलता हुआ, स्वस्थ=एकाग्रचित्त होकर,

अर्थात् ईश्वर के चिन्तन वा प्रणव के जाप में ध्यानावस्थित होकर, कुतर्क विवादादि जाल से निवृत्त होकर, संसार के बीज[1] का नाश ज्ञान-दृष्टि द्वारा देखता वा जानता हुआ पुरुष अमृत-भोग का भागी =नित्यमुक्त हो जाता है ॥

अर्थात् सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा ईश्वर के चिन्तन और उसकी आज्ञापालन में तत्पर रहकर अपना सर्वस्व ईश्वर को समर्पित कर देने को 'ईश्वर-प्रणिधान' कहते हैं। ऐसा तपोऽनुष्ठानकर्त्ता ही मोक्ष-सुख को प्राप्त कर सकता है ।

यमों के फल

अब पांचों यमों के यथावत् अनुष्ठान के फल लिखे जाते हैं—

(१) **अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ १ ॥** यो०पा० २ । सू० ३५ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९७, १९९]॥

अर्थ—जब अहिंसा-धर्म निश्चय हो जाता है, अर्थात् जब योगी क्रोधादि के शत्रु अहिंसा की भावना करके उसमें संयम करता है, तब उसके मन से वैरभाव छूट जाता है ॥

(२) **सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २ ॥** यो०पा० २। सू० ३६ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० १९८, १९९] ॥

---

१. संसार का बीज है 'अविद्या' । अर्थात् अविद्या-जन्य पाप-कर्मों की ओर झुके हुए जीव अज्ञानान्धकार से आच्छादित और कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक-शून्य होकर बारम्बार अपने कर्मों के फलों को भोगते हुए अनेक योनि= शरीर धारण करते और छोड़ते रहते हैं । इसी प्रकार जन्म-मरण जरा-व्याधि सुख-दुःख पाप-पुण्य नरक-स्वर्ग रात्रि-दिन सृष्टि-प्रलय आदि संसार-चक्र का प्रवाह चलता रहता है । इस संसार के बीजरूप अविद्या का ज्ञान-चक्षु से अनुसन्धान करके जो क्षय=नाश कर देता है, वही 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते'=अविद्या के स्वरूप का ज्ञाता मृत्यु का उल्लंघन करके विद्या-विज्ञान द्वारा अमृत=मोक्ष को भोगता है ।

अर्थ—सत्याचरण का ठीक-ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता बोलता और करता है, तब वह जो-जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे-वे सब सफल हो जाते हैं ॥

(३) अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३ ॥ यो० पा० २। सू० ३७ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९८, १९९] ॥

अर्थ—जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी को छोड़ देने की दृढ़ प्रतिज्ञापूर्वक अभ्यास करके सर्वथा चोरी करना त्याग देता है, तब उसको सब उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं। 'चोरी' उसको कहते हैं कि मालिक की आज्ञा के बिना उसकी चीज को अधर्म और कपट से वा छिपाकर ले लेना ॥

(४) ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ४ ॥ यो० पा० २। सू० ३८ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९८, १९९] ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य-सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादिशास्त्रों को पढ़ता-पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे, और परस्त्रीगमनादि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है। एक—शरीर का, और दूसरा—बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है ॥

(५) अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ५ ॥ यो० पा० २। सू० ३९ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९८, १९९] ॥

अर्थ—अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, और मुझको क्या करना चाहिये, अर्थात् क्या-क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा, इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है ॥

ये ही पाँच 'यम' कहाते हैं। इनका ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये। परन्तु यमों का 'नियम' सहकारी कारण है, जो कि 'उपासना योग का दूसरा अङ्ग' कहाता है, और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पांच प्रकार का पूर्व कहा जा चुका है। उनका फल क्रमशः आगे कहते हैं—

नियमों के फल

(१) शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ १ ॥ यो० पा० २। सूत्र ४० [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९८, २००] ॥

अर्थ—पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उस के सब अवयव बाहर-भीतर से मलिन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सब के शरीर मल आदि से भरे हुये हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है ॥

इसका फल यह भी है कि—

किं च सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥२॥ यो०पा० २। सू० ४१ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० १९८, २००] ॥

अर्थ—शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय, तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है ॥

(२) सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ३ ॥ यो०पा० २। सू० ४२ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९८, २००] ॥

अर्थ—सन्तोष=तृष्णाक्षय=तुष्टि से जो सुख मिलता है, वह सबसे उत्तम है। और उसी को 'मोक्षसुख' कहते हैं ॥

(३) कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४ ॥ यो० पा० २। सू० ४३ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९८, २००] ॥

अर्थ—तप से अशुद्धिक्षय होने पर शरीर और इन्द्रियां दृढ़ होकर सदा रोगरहित रहते हैं ॥

(४) स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ५ ॥ यो० पा० २। सू० ४४ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९८, २००] ॥

अर्थ—स्वाध्याय से इष्टदेवता जो परमात्मा है, उसके साथ संप्रयोग =साझा होता है। फिर ईश्वर के अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥

(५) समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ६ ॥ यो० पा० २। सू० ४५ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १९८, २००] ॥

अर्थ—ईश्वर-प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है। जैसा कि द्वितीय वृत्तियाम में पूर्व [पृष्ठ ८९ में] कहा गया है ॥

आगे उपरोक्त यम-नियमों के सिद्ध करने की सरल युक्ति कहते हैं—

यम-नियमों के साधन की सरल विधि यह है कि सदैव सत्त्व रज तम इन तीनों गुणों का अहर्निश अर्थात् निरन्तर रात्रिदिन के क्षण-क्षण में ध्यान रक्खे। जब कभी रजोगुणी वा तमोगुणी कर्मों के करने का संकल्प मन में उठे, तभी उनको जानले तथा वहीं का वहीं रोक भी दे। इस प्रकार अपने मन को ऐसे संकल्प-विकल्पों से हटाकर सत्त्व गुण में स्थित कर दे। ऐसा अभ्यास करने से समाधिपर्यन्त सिद्ध हो जाते हैं। ध्यानयोग का यही प्रथम और मुख्य साधन है।

आगे 'गुणत्रय की व्याख्या' मनुस्मृति [अ० १२। श्लोक २५-३३, ३५-३८] के प्रमाण से की जाती है [देखो—सत्यार्थ-प्रकाश, समुल्लास ९, पृ० ३७३-३७६]—

[क] गुणत्रय के लक्षण

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥१॥

अर्थ—सत्त्व रज तम इन तीन गुणों में से जो गुण जिसके देह में जब अधिकता से वर्त्तता है, वह गुण तब उस जीव को अपने सदृश कर लेता है ॥

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥२॥

अर्थ—जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, जब अज्ञान रहे तब तम, और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिये। ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं ॥

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥३॥

अर्थ—उनका विवेक इस प्रकार करना चाहिये कि जब आत्मा में प्रसन्नता, मन प्रसन्न, प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्त्ते, तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं ॥

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजोऽप्रतिपं[1] विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥४॥

अर्थ—जब आत्मा और मन दुःखसंयुक्त, प्रसन्नतारहित, विषय में इधर-उधर गमन-आगमन में लगे, तब समझना कि रजोगुण प्रधान और सत्त्वगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं ॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ५ ॥

१. पूर्व संस्करण में 'तद्रजोऽप्रतिघं' अपपाठ है ।

अर्थ—जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फंसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, जब विषयों में आसक्त, और तर्क-वितर्क-रहित जानने के योग्य न हो, तब निश्चय समझना चाहिये कि इस समय मुझ में तमोगुण प्रधान और सत्त्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्रचो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्षाम्यशेषतः ॥ ६ ॥

अर्थ—अब इन तीनों गुणों के उत्तम मध्यम और निकृष्ट फलोदय को पूर्णभाव से कहते हैं ॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है, यही सत्त्वगुण का लक्षण है ॥

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जब रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, तब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझ में वर्त्त रहा है ॥

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जब तमोगुण का उदय और सत्त्व रज का अन्तर्भाव होता है, तब अत्यन्त लोभ, अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता है। अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना, नास्तिक्य=अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न-

भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव, और किन्हीं व्यसनों में फ़ंसना तथा भूल जाना होवे, तब तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानना योग्य है ॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥१०॥

अर्थ—जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके वा करता हुआ और करने की इच्छा से लज्जा शंका और भय को प्राप्त होवे, तब जानो कि मुझ में तमोगुण प्रवृद्ध है ॥

येनास्मिन् कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस कर्म से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता है, दरिद्रता होने में भी चारण भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता, तब समझना कि मुझ में रजोगुण प्रबल है ॥

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्वगुणलक्षणम् ॥१२॥

अर्थ—जब मनुष्य का आत्मा सब से जानने को अर्थात् विद्यादि गुणों को ग्रहण करना चाहे, गुण-ग्रहण करता जाय, अच्छे कर्मों में लज्जा न करे, और जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे, अर्थात् धर्माचरण में ही रुचि रहे, तब समझना कि मुझ में सत्त्वगुण प्रबल है ॥

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥१३॥

अर्थ—तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ-संग्रह की इच्छा, और सत्त्वगुण का लक्षण धर्म-सेवा करना हैं । परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ॥

इस पिछले श्लोक में संक्षेप से सारांश कहा गया है [देखो—मनुस्मृति, अध्याय १२ । श्लोक ३८] ।

[ख] गुणत्रय की सन्धियां

ये इन तीनों गुणों के स्थूल=मोटे लक्षण हैं। प्रथम इन लक्षणों को ध्यानयोग द्वारा पहिचानना चाहिये। जिस प्रकार दिन और रात्रि में सन्धि लगती है, इस ही प्रकार इन गुणों में भी सन्धियां लगा करती हैं। जैसा कि उपर्युक्त श्लोकों से विदित होता है कि ये तीनों गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर सदा रहते हैं। किन्तु एक गुण तो प्रधान रहता है, शेष दो गौणभाव से वर्त्तमान रहनेवाले गुणों का अन्तर्भाव होता है। प्रधान गुण कार्य करता है, अर्थात् जीव उस ही गुण के कार्यों में प्रवृत्त होता है, जिसका वर्त्तमान उसके देह में प्रधानता से होता है। और शेष दो-दो गुण दबे रहते हैं। इस प्रकार कभी सत्त्व कभी रज और कभी तम शरीर में प्रधान होता रहता है। एक गुण की प्रधानता के पश्चात् जब दूसरे को प्रधानता होती हैं, इस उलट फेर को ही इन गुणों की सन्धियां जानो। यह विषय सूक्ष्म है, अतः इन का पहिचान लेना भी सूक्ष्म नाम कठिन है। ध्यानयोग से इन सन्धियों के विवेक को भी सिद्ध करना चाहिये।

जो गुण प्रधान होनेवाला होता है, जब प्रथम उसका प्रबल वेग होता है, जो उस से पूर्व प्रधान गुण के साथ सन्धि नाम संयोग करके उसको दबा लेता है। तभी इस प्रधान हुए वेगवान् गुण-सम्बन्धी संकल्प विकल्प मन और आत्मा के संयोग से उठते हैं। मुमुक्षु को उचित है कि उक्त सन्धि के लगते ही उसको पहिचाने। और यदि तमोगुण वा रजोगुण इस सन्धि के समय प्रधान होता जान पड़े, तो उस सन्धि को वहीं का वहीं रोक कर लगने न दे। और सत्त्व को प्रधान करके उसके आश्रय से सात्त्विकी कर्म में प्रवृत्त हो जाय, जिससे कि रज तम के संकल्प उठने भी न पावें। यदि सन्धि-ज्ञान न होने के कारण अशुभ संकल्प उठ भी खड़ा हो, तो उस संकल्प को ही शीघ्र जहां का तहां रोक ले, जिससे कि वह संकल्प रुककर वाणी से तो प्रकाशित न हो। ऐसा अभ्यास करने से मुमुक्षु

का कल्याण होता है। इसका विधान वासनायाम में आगे भी किया जायगा।

इस प्रकार सन्धियों का परिज्ञान हो जाने पर यम-नियम का साधन पूर्णतया सिद्ध हो जाता है। जब तक इन गुणों की 'सन्धियां' नाम अन्तर्भाव और प्रधानता का यथावत् ज्ञान नहीं होता, तब तक यम-नियम का साधन पूर्णतया सिद्ध नहीं होता। गुणत्रय और उनकी सन्धियों का पहिचान लेना ही 'योग की प्रथम सीढ़ी' है। और यही उन यम-नियमों के अनुष्ठान की सिद्धि है, कि जिसको सिद्ध कर लेने से उपासना-योग का बीज बोया जाता है। इस प्रथम सीढ़ी का ज्ञान हुए बिना योग को कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता है।

[ग]. चित्त की पांच अवस्था

क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः ॥

व्यासदेवकृत योगभाष्य पा० १। सू० १॥

अर्थ—(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, और (५) निरुद्ध ये पांच चित्त की भूमियां अर्थात् अवस्था हैं॥

इनमें से प्रथम की तीन योग-बाधक हैं, और शेष दो योग-साधक हैं। इनका ज्ञान भी 'ध्यान-योग' द्वारा ही करना उचित है। क्योंकि इनका बोध हुए बिना भी यमादि-समाधिपर्यन्त योगाङ्गों का भली-भांति सिद्ध होना कठिन है। आगे इन चित्त की अवस्थाओं के लक्षण कहते हैं—

१. **क्षिप्त**—जिस अवस्था में चित्त की वृत्तियां अनेक सांसारिक विषयों में गमन करती हैं, उसको 'क्षिप्तावस्था' कहते हैं। इस अवस्था में चित्त की वृत्ति किसी एक विषय पर स्थिर नहीं रहती। अर्थात् एक विषय को छोड़ दूसरे तीसरे चौथे आदि अनेक विषयों को ग्रहण करती और छोड़ती रहती है।

२. **मूढ़**—जिसमें चित्त मूर्खवत् हो जाय। अर्थात् जब मनुष्य

कृत्याकृत्य को भूलकर अचेत रहे। ऐसी असावधान अवस्था को 'मूढ़ावस्था' जानो।

३. विक्षिप्त—जिसमें चित्त व्याकुल वा व्यग्र हो जाता है, उसको 'विक्षिप्तावस्था' कहते हैं।

४. एकाग्र—जब चित्त विषयान्तरों से अपनी वृत्तियों को हटाकर किसी एक विषय में सर्वथा लगादे। जैसे उपासक योगी केवल परमात्मा के ध्यान और चिन्तन से अतिरिक्त अन्य सब विषयों से अपने मन को हटाकर प्रणव के जाप में ही लगा देता है। ऐसी ध्यानावस्थित अवस्था को 'एकाग्रावस्था' कहते हैं।

५. निरुद्ध—'निरुद्धावस्था' उसको कहते हैं कि जिसमें चित्त की संपूर्ण वृत्तियां चेष्टारहित होकर मनुष्य को अपनी आत्मा नाम जीवात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है। किन्हीं आचार्यों का ऐसा मत भी है कि निरुद्धावस्था में आत्मज्ञान तथा परमात्मज्ञान दोनों ही प्राप्त होते हैं। क्योंकि जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान होते ही तत्क्षण परमात्मा का भी यथार्थ ज्ञान हो जाता है। क्योंकि परमात्मा ज्ञान का भी ज्ञान है।

इनमें से प्रथम ४ वृत्तियों में सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण का संसर्ग रहता है, परन्तु पांचवीं निरुद्धावस्था में गुणों के केवल संस्कार-मात्र रहते हैं। इनमें क्षिप्त मूढ़ और विक्षिप्तावस्थाओं में योग नहीं होता। क्योंकि चित्त की वृत्तियां उन अवस्थाओं में सांसारिक विषयों में लगी रहती हैं। एकाग्रावस्था में जो योग होता है, उसको 'सम्प्रज्ञात-योग वा सम्प्रज्ञात-समाधि' कहते हैं। और जो निरुद्धावस्था में योग होता है, उसको 'असम्प्रज्ञात-योग वा असम्प्रज्ञात-समाधि' कहते हैं।

[घ] चित्त के तीन स्वभाव

चित्त का तीन प्रकार का स्वभाव है। एक—प्रख्या, दूसरा—प्रवृत्ति, और तीसरा—स्थिति।

(क) **प्रख्या**—दृष्ट वा श्रुत विषयों का विचार।

(ख) **प्रवृत्ति**— फिर उक्त विषयों के साथ सम्बन्ध करना।

(ग) **स्थिति**—पश्चात् उन ही विषयों में स्थिति करना, संलग्न हो जाना वा फंस जाना।

'प्रख्या' अर्थात् विषयविचार सत्त्व रज तम गुण के संसर्ग से तीन प्रकार का है। यथा—

१. जब चित्त अधिक सत्त्वगुण से युक्त होता है, तब केवल ईश्वर का चिन्तन करता है।

२. जब वही एक चित्त अधिक तमोगुण से युक्त होता है, तब अधर्म अज्ञान और विषयासक्ति का चिन्तन करता है।

३. और जब रजोगण में चित्त अधिक हो जाता है, तब धर्म और वैराग्य का चिन्तन करता है।

जो ज्ञानशक्ति परिणाम से रहित और शुद्ध होती है, वह सत्त्वगुणप्रधान होती है। अर्थात् उस में तमोगुण और रजोगुण का अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु जब चित्त इस वृत्ति से भी उपरत=विरक्त हो जाता है, तब इस को भी त्यागकर केवल शुद्ध सत्त्वगुण के संस्कार के आश्रय से रहता है। उसी संस्कारशिष्ट दशा को **'निर्विकल्प-समाधि'** वा **'असम्प्रज्ञात-समाधि'** कहते हैं। **'असम्प्रज्ञात-समाधि'** का अर्थ यह है कि जिसमें ध्येय (=ध्यान करने योग्य ईश्वर) के अतिरिक्त किसी विषय का भान न हो।

आगे योग के तृतीय अंग **'आसन'** का कथन है—

(३) आसन की विधि

तत्र स्थिरसुखमासनम् ॥ यो० पा० २। सूत्र ४६ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ २००, २०२] ॥

अर्थ—जिस में सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो, उसको **'आसन'** कहते हैं। अथवा जैसी रुचि हो, वैसा आसन करे॥

अर्थात् जिस आसन से अधिक देर तक सुखपूर्वक सुस्थिर निश्चल बैठ सके, उस ही आसन का अभ्यास करे। सिद्धासन सब आसनों में सरल और श्रेष्ठ है। 'आसन' ध्यानयोग का तीसरा अङ्ग है।

आगे भगवद्गीता के अनुसार 'आसन की विधि' कहते हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १ ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ २ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ ३ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ४॥

भ० गी० अ० ६। श्लोक १०-१३ ॥

अर्थ—एकान्त गुप्तस्थान में अकेला बैठा हुआ, चित्त और आत्मा को वश में करनेवाला, परमात्मा के चिन्तन से अतिरिक्त अन्य विषयवासनाओं से रहित, तथा अन्य पदार्थों में ममता-रहित योगी निरन्तर एकरस अपने आत्मा को समाहित करके परमात्मा के ध्यान में युक्त करे ॥ १ ॥

अर्थ—ऐसे स्थान में कि जहां की भूमि जल वायु शुद्ध हो, और जो न तो बहुत ऊंचा और न बहुत नीचा हो, वहां नीचे कुश का आसन, उसके ऊपर मृगछाला बिछाकर उस पर एकाग्र मन से चित्त और इन्द्रियों की वृत्तियों का निरोध करके, निश्चल दृढ़ आसनपूर्वक स्वयं बैठकर अपने आत्मा की शुद्धि के लिये ध्यानयोग द्वारा परमात्मा के चिन्तन में तत्पर होवे ॥ २-३ ॥[1]

---

१. आसन के सुस्थिर होने से जब शीतोष्ण अधिक बाधा नहीं करते, अङ्गों का कम्पन नहीं होता, तभी चित्त की वृत्तियों का निरोध, मन इन्द्रिय

अर्थ—और अपने धड़ शिर और गर्दन को अचल और सीधा धारण किये हुए, अपनी नासिका के अग्रभाग में ध्यान ठहराकर स्थिर होकर बैठे। और इधर-उधर किसी दिशा में दृष्टि न करे ॥४॥

दृढ़ आसन का फल—ततो द्वन्द्वानभिघातः[1] ॥ यो० पा० २। सूत्र ४७ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ २००, २०२] ॥

अर्थ—जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता। और न सरदी-गर्मी अधिक बाधा करती है ॥

(४) प्राणायाम क्या है ?

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥
यो० पा० २। सूत्र ४८ [ऋ०भा०भू०पृ० २०२-२०४]॥

अर्थ—आसन स्थिर होने के पश्चात् श्वास और प्रश्वास दोनों की गति के अवरोध को 'प्राणायाम' कहते हैं ॥

अर्थात् जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको 'श्वास', और जो भीतर से बाहर को जाता है, उसका 'प्रश्वास' कहते हैं। उन दोनों को जाने-आने के विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े, किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को 'प्राणायाम' कहते हैं।

अब योगविद्या का प्रधान विषय जो 'प्राणायाम' है, जिसमें आगे की धारणा ध्यान समाधि और संयम नामक सम्पूर्ण मुख्य

और आत्मा की स्थिति परमेश्वर में होकर 'समाधियोग' प्राप्त होता है। आसन गुदगुदा होने से नूतन योगी अधिक देर तक बैठने का अभ्यास कर सकता है। अतएव शरद्काल में ऊपर से ऊर्णासन का कम्बल तथा अन्य ऋतुओं में कुछ वस्त्र बिछाकर सुख से बैठे।

१. इसको महाराज भोज तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने पृथक् सूत्र माना है। परन्तु व्यासदेव जी ने नहीं माना, और अगले सूत्र के भाष्य में मिला दिया है।

क्रियायें सिद्ध हो जाने पर साक्षात् परमात्मा के साथ योग प्राप्त होता है, तथा जीव मुक्ति में निःश्रेयस अमृत-सुख और आनन्द भोगता है, उसकी सम्पूर्ण विधि कहेंगे। प्राणायामादिक क्रियायें इसी कारण योग के अन्तरङ्ग साधन हैं, और प्राणायाम अन्तरङ्ग साधनों की प्रथम श्रेणी वा मूल है।

प्राणायाम करने से पूर्व अगले वेदमन्त्र द्वारा ईश्वर से प्रार्थना करनी उचित है—

प्राणायाम-विषयक प्रार्थना

ओं प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च मेऽ आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ यजु० अ० १८। मन्त्र २ ॥

पदार्थ—(मे प्राणः च) मेरा हृदयस्थ जीवनमूल, और कण्ठ देश में रहनेवाला पवन=प्राणवायु तथा उदानवायु, (मे अपानः च) मेरा नाभि से नीचे को जाने, और नाभि में ठहरनेवाला पवन =अपानवायु, (मे व्यानः च) मेरे शरीर की सन्धियों में व्याप्त, और जो शरीर के रुधिर आदि को बढ़ाता है, वह पवन=व्यानवायु और धनञ्जयवायु, (मे असुः च) मेरा नाग आदि प्राण का भेद, और अन्य पवन, (मे चित्तं च) मेरी स्मृति अर्थात् सुधिरहनी और बुद्धि, (मे आधीतं च) मेरा अच्छे प्रकार किया हुआ निश्चित ज्ञान, और रक्षा किया हुआ विषय, (मे वाक् च) मेरी वाणी और सुनना, (मे मनः च) मेरी संकल्प-विकल्परूप अन्तःकरण की वृत्ति और अहङ्कारवृत्ति, (मे चक्षुः च) मेरा चक्षु जिससे कि मैं देखता हूं वह नेत्र, और प्रत्यक्ष प्रमाण, (मे श्रोत्रं च) मेरा कान जिससे कि मैं सुनता हूं, और प्रत्येक विषय पर वेद का प्रमाण, (मे दक्षः च) मेरी चतुराई, और तत्काल भान होना, (मे बलं च) तथा मेरा बल और पराक्रम ये सब (यज्ञेन कल्पन्ताम्) धर्म के अनुष्ठान से समर्थ हों॥

भावार्थ—मनुष्य लोग साधनों के सहित अपने प्राण आदि पदार्थों को धर्म के आचरण में संयुक्त करें ॥

अथ चतुर्विधप्राणायामं व्याख्यास्याम:

आगे चार प्रकार के प्राणायाम का विधान अधिक विस्तारपूर्वक स्पष्ट करके कहते हैं। क्योंकि यही मुख्य क्रिया है, जिसकी परिपक्व-दशा=परिणाम ही आगे आनेवाली सब क्रियायें हैं—

प्राणायाम चार प्रकार का होता है। उसका सविस्तर विधान अगले दो सूत्रों में किया है। प्रथम सूत्र ४९ में तीन प्राणायामों की, और दूसरे सूत्र ५० में चौथे प्राणायाम की विधि कही है। योगाभ्यास की सब क्रिया ध्यान से ही की जाती हैं, इस बात का सदा ध्यान रखना उचित है—

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म:॥ बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ: ॥ यो० पा० २ । सूत्र ४९-५० [ऋ० भा० भू०, पृ० २०१, २०२] ॥

अर्थ—यह प्राणायाम चार प्रकार का होता है—(१) बाह्य-विषय वा प्रथम प्राणायाम; (२) आभ्यन्तर-विषय वा द्वितीय प्राणायाम; (३) स्तम्भवृत्ति वा तृतीय प्राणायाम; और (४) बाह्याभ्यन्तर-विषयाक्षेपी वा चतुर्थ प्राणायाम,जो बाहर-भीतर रोकने से होता है। इनका अनुष्ठान इसलिये है कि चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे। ये चारों प्राणायाम किसी एक देश में संख्या द्वारा काल का नियम करने के कारण दीर्घ और सूक्ष्म दो-दो प्रकार के हैं। तथा देश काल और संख्या इन तीनों उपलक्षणों करके 'त्रिविध' भी कहे जाते हैं। यथा—(१) देशोपलक्षित प्राणायाम,(२) कालोपलक्षित प्राणायाम, और (३) संख्योपलक्षित प्राणायाम ॥

अर्थात् प्राणवायु को नासिका-देश से बाहर निकालकर प्रथम प्राणायाम; अपानवायु को बाहर से भीतर लाकर नाभिदेश में भर-

कर दूसरा प्राणायाम; अपानवायु को नाभि और हृदय के मध्यवर्ती अवकाश में स्तम्भन करके तीसरा प्राणायाम, और प्राण अपान को नासिका में ठहराकर चौथा प्राणायाम किया जाता है। सो आरम्भ में थोड़ी देर तक ही किया जा सकता है । अतः 'सूक्ष्म प्राणायाम' कहाता है। अभ्यास बढ़ाने से अधिक देर तक जब किया जाये, तब 'दीर्घ प्राणायाम' कहाता है। चारों प्राणायामों में इन प्राणों से ही काम लिया जाता है।

प्रत्येक प्राणायाम 'देशोपलक्षित' इसलिये कहा जाता है कि वह अपने-अपने नियत देश में ही किया जाता है । तथा प्रत्येक को 'कालोपलक्षित' इस कारण कहते हैं कि इन का अभ्यास एक नियत काल तक किया जाता है। और 'संख्योपलक्षित' प्राणायाम इसलिये कहते हैं कि प्राणायाम करते समय 'ओ३म्' के जप की संख्या की जाती है। और इस संख्या द्वारा ही काल का प्रमाण भी किया जाता है ।

स्मरण रहे कि द्वितीय तृतीय और चतुर्थ प्राणायाम तथा उनकी धारणा के लिये केवल एक-एक पूर्वोक्त स्थान ही नियत है। किन्तु प्रथम प्राणायाम की धारणा अनेक स्थानों में की जाती है, यथा—हृदय कण्ठकूप जिह्वामूल जिह्वा-मध्य जिह्वाग्र नासिकाग्र त्रिकुटी =भ्रूमध्य ब्रह्माण्ड दोनों चक्षु दोनों श्रोत्र औररीढ़ (=पीठ के हाड़ का मध्य)। और दोनों होठों से लगे दांतों के बीच में, जहां जिह्वा लगाने से तकार बोला जाता है, वहां जिह्वा लगाकर प्राणवायु हृदय में ठहरता है। अतः हृदय के ऊपर के देशों में ही प्रथम प्राणायाम की धारणायें हो सकती हैं। अर्थात् नाभि आदि हृदय से नीचे के स्थानों में नहीं हो सकतीं।

ध्यान रक्खो कि प्रथम ब्रह्माण्ड में, द्वितीय भ्रूमध्य में, और तृतीय नासिकाग्र में, इन तीन मुख्य स्थानों में क्रमशः धारण किये विना प्रथम प्राणायाम सिद्ध नहीं हो सकता। अन्य देशों में जो प्रथम प्राणायाम की धारणा की जाती है, वह केवल ध्यान ठहराने को

अर्थात् चित्त की एकाग्रता सम्पादन करने के हेतु से की जाती है। परन्तु उस से प्राणायाम सिद्ध नहीं होता। प्रथम प्राणायाम तभी सिद्ध होता है, जब कि पूर्वोक्त क्रम से प्रथम और द्वितीय स्थानों की धारणा पक्की हो जाने पर नासिका के अग्रभागवाली तीसरी धारणा परिपक्व होने के पश्चात् प्राणवायु का निकलना विदित होने लगता है। अनेक स्थानों में धारणा करने से प्राण योगी के वश में हो जाते हैं। अर्थात् योगी जहां चाहता है, वहां प्राण को ले जाकर ठहरा सकता है। प्राण वश में होने से मन भी एकाग्र होता है।

चतुर्विध प्राणायाम की संक्षिप्त सामान्य विधि

(१) 'बाह्यविषय' नामक 'प्रथम प्राणायाम' की विधि यह है कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले, तब उसको बाहर ही रोक दे।

(२) 'आभ्यन्तर-विषय' नामक 'द्वितीय प्राणायाम' की विधि यह है कि जब बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे।

(३) 'स्तम्भवृत्ति' नामक 'तृतीय प्राणायाम' करने में न प्राण को बाहर निकाले, और न बाहर से भीतर ले जाय। किन्तु जितनी देर-सुख से हो सके, उसको जहां का तहां ज्यों का त्यों एकदम रोक दे।

(४) 'बाह्याभ्यन्तर-विषयाक्षेपी' नामक 'चतुर्थ प्राणायाम' की विधि यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ-कुछ रोकता रहे। और जब बाहर से भीतर जावे, तब उसको भीतर ही थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे।

आगे क्रमपूर्वक प्रत्येक प्राणायाम की विशेषविधि का विस्तार से स्पष्ट वर्णन करते हैं—

प्रथम प्राणायाम की विस्तृत विशेष विधि की व्याख्या

आरम्भ में प्रथम प्राणायाम की साधनरूप पूर्वोक्त तीन देश

की धारणा पक्की करनी पड़ती है। अर्थात् प्रथम ब्रह्माण्ड में, फिर त्रिकुटी=भ्रूमध्यदेश में, पश्चात् नासिका के अग्र भाग में। जब यह तीसरी धारणा परिपक्व हो जाती है, तब नासिकाग्र में ध्यान ठहराने के साथ ही प्राणवायु स्वतः बलपूर्वक बाहर निकलने लगता है। तभी जानो कि प्रथम प्राणायाम सिद्ध हो गया।

उक्त तीनों देशों में एक ही रीति से धारणा की जाती है, सो विधि नीचे लिखी है। वह दो प्रकार की है—(१) आरम्भ को युक्ति को धारणा की विधि जानो। और (२) अन्तिम युक्ति को प्राणायाम की विधि जानो।

१. प्रथम प्राणायाम की आदिम विधि—जिसको 'प्रथम प्राणायाम की धारणा की विधि' भी कहते हैं। आसन की पूर्वोक्त विधि के अनुसार प्रथम स्थिरता से बैठकर जिह्वा के अग्रभाग को उलटकर तालु में लगा दे। फिर हृदय में ठहरनेवाले प्राणवायु का ध्यान द्वारा ऊपर की ओर आकर्षण करके ब्रह्माण्ड में स्थापित करे, और मूल-नाड़ी को ऊपर खींच रक्खे। फिर उस ही देश=ब्रह्माण्ड में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों तथा पञ्च ज्ञानेन्द्रियों की दिव्य शक्तियों को भी लगा दे। और मन ही मन में प्रणव=ओ३म् महामन्त्र का जप भी वहीं=ब्रह्माण्ड में शीघ्र-शीघ्र एकरस करने लगे। और अपने आत्मा को सर्वथा इस मन्त्र के अर्थ-सहित जप में तत्पर कर दे।

इस प्रकार प्रातः सायं दोनों सन्धि-वेलाओं में नियमपूर्वक एक-एक घण्टेभर निरन्तर अभ्यास करते-करते जब प्राणवायु की उष्णता हो तो त्वचा से, और 'ओं' शब्द श्रवणेन्द्रिय से उसी=ब्रह्माण्ड देश में ज्ञात होने लगे, तब न्यून से न्यून तीन मास पर्यन्त अभ्यास करके ब्रह्माण्ड देशवाली प्रथम धारणा पक्की कर ले। फिर उक्त रीति से भ्रूमध्य में दूसरी धारणा, और नासिकाग्र में तीसरी धारणा भी परिपक्व कर ले। जब नासिकाग्र में भी शब्द स्पर्श द्वारा प्राणवाय अच्छे प्रकार विदित होने लगेगा, तब प्राणवायु नासिका से

बाहर निकलने लगता है। परन्तु बाहर ठहरता कम है, और जी घबराने लगता है। तब बाहर अधिक ठहराने के लिये नीचे लिखी रीति से अभ्यास करे।

२. प्रथम प्राणायाम की अन्तिम विधि—**'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'** इस पूर्वोक्त योगसूत्र (१।३४) के प्रमाण से जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न जल बाहर निकल जाता है, उस ही प्रकार प्राणवायु को बल से बाहर फेंककर बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे, और मूलनाड़ी को ऊपर खींचे रहे। जब प्राण के बाहर निकलने से घबराहट होने पर सहन न हो सके, तब उसे धीरे-धीरे भीतर लेकर त्रिकुटी और ब्रह्माण्ड में क्रम से थोड़ी-थोड़ी देर ठहराता हुआ हृदय-देश में ले जाय। फिर बाहर निकाले और भीतर ले जाये। अर्थात् जितना सामर्थ्य और इच्छा हो, उतनी देर तक बारम्बार इस ही प्रकार अभ्यास करे। इस विधि से अभ्यास करते-करते प्राण बाहर अधिक ठहरने लग जाता है। निरन्तर नित्यप्रति नियमपूर्वक अतन्द्रता से पुरुषार्थपूर्वक अभ्यास करने से प्राण योगी के वश में हो जाते हैं।

प्रथम प्राणायाम की आदिम विधि सर्वत्र प्रधान है। अर्थात् सम्पूर्ण योगाभ्यास की क्रियाओं में (=प्राणायामादि समाध्यन्त) यह विधि एक ही रीति से की जाती है। क्योंकि जिन-जिन देशों में धारणा की जाती है, उन-उन देशों में ही ध्यान और समाधि भी होती है। परन्तु इतना भेद है कि जो-जो देश जिस-जिस प्राण का है, वहां-वहां उस-उस प्राण से ही काम लिया जा सकता है। दूसरे इस बात का भी ध्यान रहे कि जिह्वा को उलटकर तालु में लगाना, जिससे कि प्राण सीधा ऊपर ही को जाय, तथा मूलनाड़ी को ऊपर खींच रखना। ये दो क्रियायें केवल प्रथम प्राणायाम से ही सम्बन्ध रखती हैं, अन्य प्राणायामों में इनका कुछ काम नहीं। अतएव दुबारा स्पष्ट करके फिर वही विधि इस निमित्त लिखी जाती है कि जिससे कोई सन्देह न रहे।

प्रथम प्राणायाम की सम्पूर्ण विस्तृत विधि (पुनरुक्त)—

(१) प्रथम आसन दृढ़ करे। फिर—

(२) जिह्वा को उलटकर तालु में लगावे। और जिस देश में धारणा करनी हो, वहां अगली सब क्रिया करे।

(३) किसी एक देश में ध्यान को ठहरावे।

(४) उसी देश में ध्यानद्वारा प्राणवायु को लेजाकर ठहरा दे।[1]

(५) मूलनाड़ी को ऊपर की ओर आकर्षित करे।[1]

(६) उसी देश में चित्त की वृत्तियों और सब ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियों को ध्यानयोग द्वारा ठहराकर परमेश्वर की उपासना के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में न जाने दे।

(७) प्रणव का मानसिक=उपांशु जप शीघ्र-शीघ्र एक-रस करे।

(८) प्रणव के जप में संख्या करके काल का अनुमान करे। और अभ्यास द्वारा काल की वृद्धि उत्तरोत्तर प्रतिदिन करे।

(९) प्राणवायु को बाहर निकालने के अर्थ हृदय-देश से उठाकर प्रथम मूर्द्धा=ब्रह्माण्ड में, फिर त्रिकुटी में, फिर नासाग्र में स्थापित करके एक-एक धारणा का अभ्यास करे।[1]

(१०) फिर प्राणवायु को भीतर ले जाते समय उस ही क्रम से, अर्थात् नासाग्र से भृकुटी में, भृकुटी से ब्रह्माण्ड में, और ब्रह्माण्ड से हृदय में, एक-एक स्थान में थोड़ी-थोड़ी देर ठहरा-ठहरा कर हृदय में स्थापित कर दे।[2]

(११) और अपने आत्मा को परमात्मा में लगा दे।

---

१. जिस देश में धारणा करे, वहां उस देश-सम्बन्धी वायु से ही काम लेना चाहिये।

२. यह तथा पूर्वोक्त संख्या ४, ५, ९ की क्रियायें केवल उन धारणाओं में ही उपयोगी हैं कि जो प्रथम प्राणायाम को सिद्ध करने के हेतु की जाती हैं।

इस विधि में ग्यारह अङ्ग हैं। उन सब का प्रयोजन नीचे लेखा जाता है—

प्रथम प्राणायाम के ग्यारहों अङ्गों का क्रमश: प्रयोजन

१. आसन का प्रयोजन—आसनविषयक टिप्पण १ (पृष्ठ ११५-११६) में देखो।

२. जिह्वा को तालु में लगाने के दो प्रयोजन—(क) प्रथम प्रयोजन यह है कि—सात छिद्रों में होकर बाहिर निकलने के स्वभाव-वाले हृदय-देशस्थ प्राणवायु का कण्ठदेशस्थ मार्ग जिह्वा द्वारा रोक देने से प्राणवायु सीधा ऊपर को ब्रह्माण्ड में ही सरलता से जाता है। और नासिका के अतिरिक्त अन्य इन्द्रिय (=छिद्र) द्वारा बाहर नहीं निकलने पाता। क्योंकि इन्द्रियों की शक्तियां मन के साथ ही साथ ऊपर को चली जाती हैं।

(ख) दूसरा यह भी प्रयोजन है कि—यदि जिह्वा इस प्रकार टिकाई न जाय, तो हिलती रहे। वा 'ओं' शब्द का उच्चारण ही करने लगे, तो जिह्वा की चेष्टा होती रहने से मन का निरोध=ध्यान धारणा वा समाधि कुछ भी सिद्ध न हो सके।

उक्त दो प्रयोजनों से जिह्वा के अग्रभाग को उलटकर तालु में लगा देना अति उचित है, कि जिससे धारणा करने के स्थान में ध्यान ठहर जाय।

ध्यान एक प्रकार की विद्युत्=बिजली है, जिसके आकर्षण से मन, और मन के साथ उसकी प्रजारूप सब इन्द्रियों की शक्तियां स्वत: वहीं चली जाती हैं कि जहां ध्यान ठहराया जाता है। अत: हठयोग-सम्बन्धी षण्मुखी मुद्रा करके छिद्रों को रोकने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती। सूर्य का जो सम्बन्ध किरणों से है, वही मन का इन्द्रियों के साथ है। अत: जैसे किरणें सूर्य के साथ ही साथ रहती हैं, इसी प्रकार जहां मन जाता है, वहां इन्द्रियां उसके साथ ही चली जाती हैं।

इस प्रथम प्राणायाम में वाणी श्रोत्र और त्वचा इन तीन इन्द्रियों की शक्तियां अपने-अपने विषयों का बोध=ज्ञान कराती हैं। और वाणी की शक्ति प्रधानता से मन के साथ संयुक्त होती है।

ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् समर्पण=भक्तियोग की पूर्ण विधि—अपने मन इन्द्रिय और आत्मा के संयोग से परमेश्वर की उपासना ध्यानयोग द्वारा करने में कठोपनिषद् का प्रमाण नीचे लिखा जाता है। दूसरे वृत्तियाम की विधि यही है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥
कठ० व० ३। मं० १३ [सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १८३]॥

अर्थ—बुद्धिमान् संन्यासी वा योगी वाणी और मन को अधर्म से रोके। उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे। उस ज्ञान और स्वात्मा को परमात्मा में लगावे। और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप परमात्मा के आधार में स्थिर करे॥

अब इस ही विषय को अथर्ववेद के प्रमाण से कहते हैं। यही द्वितीय वृत्तियाम की विस्तृत विशेष विधि है, और प्राणायाम में अति उपयोगी है—

ओम् अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥
अथर्व का०.१९। सूक्त ८। मं० २ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १८०—१८२]॥

अर्थ—हे परमैश्वर्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर! आपकी कृपा से हम लोगों को ध्यानयोगयुक्त उपासनायोग प्राप्त हो, तथा उससे हम को सुख भी मिले। इसी प्रकार आपकी कृपा से १० इन्द्रिय, १० प्राण तथा मन बुद्धि चित्त अहंकार विद्या स्वभाव शरीर और बल[1]

१. अनेक व्यक्ति यह कहते हैं कि अथर्ववेद के जिस प्रकरण में यह मन्त्र आया है, वहां अट्ठाईस नक्षत्रों का निर्देश है। अतः इस मन्त्र में भी 'अष्टाविंशानि' से २८ नक्षत्रों का ही ग्रहण करना योग्य है। प्राण आदि २८

इन अट्ठाईस मङ्गलकारक तत्त्वों से बना हमारा शरीर, अर्थात् हमारा सर्वस्व भद्र=कल्याणमय कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होकर उपासनायोग का सदा सेवन करे। तथा हम भी उस योग के द्वारा रक्षा को और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं। इसलिये हम लोग रात्रिदिन आपको नमस्कार करते हैं॥ इति समर्पणम्॥

इस मन्त्र से प्रार्थना करके योगाभ्यास में सदा प्रवृत्त होना चाहिये। क्योंकि ईश्वर की सहायता विना योग सिद्ध नहीं होता। अर्थात् उक्त अट्ठाईसों शर्मों के सहयोग से ही उपासनायोग सिद्ध होता है।

(१) वाणी जब उलट कर स्थिर कर दी जाती है, तब उसकी शक्ति मन में स्वतः लय हो जाती है।

(२) व्यान वायु के साथ मन का संयोग न होने देने से मन की शक्ति बुद्धि में लय हो जाती है, सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होने पर।

(३) जब प्रकृति का आधार छोड़कर जीव अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है, तब बुद्धि की शक्ति जीव में लय हो जाती हैं, असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होने पर।

(४) जब जीवात्मा को निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है, तब वह स्वयं परमात्मा के आधार में हो जाता है। उस ही को 'निर्विकल्प=निर्वीज समाधि' भी कहते हैं।

इस मन्त्र से जो अपना सर्वस्व परमेश्वर को समर्पण करके उपासनायोग के सिद्ध हो जाने के अर्थ प्रार्थना की गई, उसका अभिप्राय यही है कि जब हम लोग वस्तुतः प्रेम भक्ति श्रद्धा और विश्वासपूर्वक अपना सर्वस्व अर्थात् अपने शरीर के अट्ठाईसों तत्त्व ईश्वर की उपासना में ही समर्पित कर दें, तब ही हमारा कल्याण होगा।

तत्वों का यहां प्रसङ्ग नहीं है। इस विषय में विशेष विचार ग्रन्थ के अन्त में प्रथम परिशिष्ट में देखें। सम्पादक

सारांश यह है कि इन्द्रियादि तत्त्वों को अपनी-अपनी कर्म-चेष्टाओं तथा विषयों से पृथक् करके जब जीवात्मा अपने उक्त अट्ठाईस तत्त्वयुक्त सर्वस्व के साथ 'ध्यानयोग' द्वारा उपासनायोग में प्रवृत्त होता है, तो मानों हमारे शरीर के समस्त अङ्ग परमात्मा के ही चिन्तन में तत्पर हो गये। मन को एकाग्रता तथा निरुद्धावस्था में ऐसा ही होता है। यथा—

दृढ़ निश्चलासन से सुस्थिर होकर तथा जिह्वा तालु में लगाकर सब इन्द्रियों की चेष्टाओं का निरोध हो जाता है। मानों वे सब इन्द्रियां जीवात्मा की आज्ञा से उसके हितकारी उपासनायोग की सिद्धि, मन की एकाग्रता और निर्विघ्नता सम्पादन करने के हेतु अपने निज धन्धे छोड़-छोड़ अपने राजा की सेवा में एकचित्त से निमग्न हो जाती हैं। इस प्रकार पांचों कर्मेन्द्रियां धारणा के देश में मन के साथ रहती हैं।

पांच ज्ञानेन्द्रियां भी मन के आधीन हैं। वे सब मन की एकाग्रता और निरुद्धावस्थाओं में अपनी-अपनी बाह्य चेष्टायें छोड़ देती हैं। परन्तु उनकी दिव्य शक्तियां भीतर ही भीतर उस स्थान में कि जहां ध्यान द्वारा मन की स्थिति होती है, अपनी-अपनी सहायता करती हैं। यथा—

(क) वाणी को ध्यान में लगा लेने से उसकी बाह्य चेष्टा रुक जाती है। परन्तु धारणा के देश में मन के सहयोग से उसके दिव्य शक्ति 'ओम्' मन्त्र का जप करने लगती है। अतः यह वाणी की शक्ति की विद्यमानता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। उस समय जिज्ञासु को उचित है कि वहां ध्यान और मन को एकत्र रक्खे। यदि जिह्वा में ध्यान और उसके साथ मन आ जायेगा, तो वाणी हिलने वा 'ओं' का उच्चारण भी करने लगे, तो आश्चर्य नहीं।

(ख) ध्यानरूपी विद्युत् से सब ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान होता है। सो चक्षुवाला ज्ञान भी ध्यान के साथ धारणा के स्थान में चला जाता

है। वहां ध्यान से जो ज्ञान होता है, वह चक्षु का ही कार्यरूप ज्ञान है।

(ग) त्वचा से प्रत्यक्ष उष्णता का स्पर्श होता है।

(घ) 'ओं' पद के जाप का श्रवणरूप शब्दज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है।

(ङ) जिह्वा की ज्ञानशक्ति का काम रस का आस्वादन करना है। सो मन की एकाग्रता वा निरुद्धावस्था में जब जीवात्मा अपने इष्टदेव सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के चिन्तन में तदाकारवृत्ति से ध्यानावस्थित होकर तत्पर और तन्मय होता है, तब उसको एक प्रकार के अकथनीय आनन्द का अनुभव वा आस्वादन होता ही है।

(च) अतः चार ज्ञानेन्द्रियों का तो प्रत्यक्ष ज्ञान धारणा के स्थान में होता है। घ्राणेन्द्रिय का वहां कुछ काम नहीं। परन्तु स्वभाव से सब इन्द्रियां मन के साथ, और मन ध्यान के साथ रहता है। इसलिये घ्राणेन्द्रिय भी वहीं रहती है।

चमकदर्शन=रोशनी का निषेध

चक्षु इन्द्रिय के ज्ञान का कथन ऊपर किया गया है। सो यह कदापि न समझना चाहिये कि किसी प्रकार का उजेला=रोशनी तारे पटबीजने=जुगनू आदि का दर्शन वा चमक दिखाई देती होगी। यह बात ब्रह्मविद्या से अनभिज्ञ लोगों की अविद्याजन्य प्रमाद-युक्त मिथ्याभ्रमात्मक-विश्वासजनक कपोलकल्पित कल्पनामात्र है। ब्रह्मविद्या वेदोक्त सत्यविद्या है। अतः ब्रह्मविद्याविधायक वेदादि-शास्त्रों में जहां-जहां ज्ञान के प्रकाश का वर्णन है, वहां-वहां नेत्र से दीखनेवाली चमक वा रोशनी न समझनी चाहिये। क्योंकि ज्ञान रोशनी नहीं है, प्रत्युत जीवात्मा का वह स्वाभाविक गुण है, जिससे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर पहचाना जाता है। अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति का मुख्य साधन ज्ञान है।

ऊपर दश इन्द्रियों के काम कहे। आगे दश प्राणों के नाम गिनाये जाते हैं। वे दश प्राण ये हैं—

(१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) उदान, (५) व्यान, (६) नाग, (७) कूर्म, (८) कृकल, (९) देवदत्त, और (१०) धनञ्जय। ग्यारहवां प्राण 'सूत्रात्मा' नामक एक और भी है, जिसका इस विषय में उक्त वेदोक्त मन्त्र से कथन नहीं किया गया।

इन में से 'प्राणवायु' सब से प्रधान है। अन्य सब प्राण इस के आधीन हैं। अर्थात् जब तक देह में प्राणवायु रहता है, तब तक अन्य प्राण भी अपने-अपने देश में अपने-अपने नियत कर्मों को करते रहते हैं। ये सब प्राण उपासनायोग में नियुक्त जीवात्मा के शरीर की रक्षा करते हैं। पूर्व कथनानुसार प्राण अपान और समान इनसे चार प्राणायाम भी किये जाते हैं। परन्तु अन्य प्राणों का प्राणायामों में कुछ काम नहीं लिया जाता। प्राणायाम करने के समय सब प्राणों की गति सूक्ष्म हो जाती है।

अब तक वेदमन्त्रोक्त १० इन्द्रिय और १० प्राण इन बीस कल्याणकारक तत्त्वों का कथन हुआ। शरीर के शेष ८ आठ शस्त्रों का कथन आगे करते हैं। वे ये हैं—

(१) मन, (२) बुद्धि, (३) चित्त, (४) अहंकार, (५) विद्या, (६) स्वभाव, (७) शरीर, और (८) बल।

इन शस्त्रों के निम्नलिखित कार्य हैं—

(१) 'मन' से परमात्मा के परम उत्कृष्ट नाम 'ओ३म्' का अर्थसहित मनन=जप किया जाता है।

(२) 'बुद्धि' स्थल और सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कराती हुई, तथा उत्तरोत्तर विशाल और निर्मल होती हुई, परमात्मा के ज्ञान को भी प्राप्त कराती है।

(३) 'चित्त' से परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन=स्मरण किया जाता है।

(४) 'अहंकार' से जीवात्मा को सविकल्प-समाधि-पर्यन्त अपने ध्यातापन का बोध रहता है।

(५) 'विद्या' से जीव का अविद्यान्धकार दूर होकर परमात्मा के सङ्ग में अमृतरूप मोक्षानन्द प्राप्त होता है।

(६) 'स्वभाव' भी योग का साधन हैं। अर्थात् जब मनुष्य अपने दुष्ट-स्वभाव को त्याग करके उत्तम कर लेता है, तब उसके दुष्ट कर्म उत्तरोत्तर क्षय होते जाते हैं। तभी योग को सिद्ध कर सकता है।

(७-८) 'शरीर' और 'बल' से अत्यन्त पुरुषार्थं जब मनुष्य करता है, तब ही उसका फलरूप मुक्ति प्राप्त करता है। अतएव शारीरिक उन्नति द्वारा शरीर को नीरोग पराक्रमयुक्त और आलस्य-रहित रखना चाहिये।

इस प्रकार देहस्थ् २८ अट्ठाईसों तत्त्व उपासनायोग में जीवात्मा की सहायता करते हैं।

३. एकदेश में ध्यान ठहराने का प्रयोजन—चित्त की एकाग्रता करना है। चित्त की एकाग्रता का विधान अलङ्काररूप में मुण्डक उपनिषत् में इस प्रकार किया है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यम् शरवत्तन्मयो भवेत्॥१॥

मुण्डक द्वितीय भाग। खण्ड २। मं० ४॥

अर्थ—'प्रणव' नाम परमेश्वर-वाचक 'ओ३म्' शब्द ही उस परमात्मारूपी लक्ष्य को बींधने के लिये मानो धनुष है। जीवात्मा ही मानो बाण है, और वही ब्रह्म=परमात्मा मानो निशाना है। ब्रह्मरूपी लक्ष्य को अप्रमादी होकर अर्थात् चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों को उन के विषयों से सर्वथा रोककर केवल परमात्मा के ही ध्यान[1]

१. ध्यान ध्येय बिना नहीं ठहरता। अतः ध्येय पदार्थ अवश्य कुछ होना चाहिये। ध्येय पदार्थों में शब्द सबसे स्थूल है। अर्थात् प्राण

में ठहराकर, और जीवात्मा स्वयं लक्ष्य में लगे हुए बाण के समान और तदाकार वृत्तिवाला होकर बींधे। भूलकर भी अपने चित्त और ध्यान को डिगने न दे ॥

अर्थात् जैसे तीर निशाने में वार-पार प्रविष्ट हो जाता है, इस ही प्रकार ओंकाररूपी धनुष को तानकर जीवात्मा स्वयमेव उक्त धनुष में बाणरूप होकर परमेश्वररूपी निशाने में प्रवेश करके तन्मय होकर उस परमात्मा के ध्यान में मग्न हो जावे। जैसा कि अगले मन्त्र में कहा है—

यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ् मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं तद् वेद्धव्यं सौम्य विद्धि ॥ मुण्डक २। खण्ड २। मन्त्र २ ॥

अर्थ—हे सौम्य=प्रिय शिष्य शौनक! तुम निश्चय करके जानो कि जो ब्रह्म ज्योतिःस्वरूप है, जो परमाणुओं से भी अति सूक्ष्म है, जिसमें पृथिवी सूर्य चन्द्रादि सब लोक-लोकान्तर तथा उनमें बसनेवाले मनुष्यादि प्राणी स्थित हैं, यह वही अविनाशी ब्रह्म है। वही ब्रह्म प्राणिमात्र का जीवनहेतु है। वही ब्रह्म वाणी और मन का निमित्तकारण है। वही ब्रह्म सदा एकरसरूप से विद्यमान रहता

मन इन्द्रियादि सूक्ष्म ध्येय पदार्थों की अपेक्षा ज्ञान के आगे शब्द स्थूल नाम आकारवाला जाना जाता है। इस विषय में दृष्टान्त है कि जैसे पुत्र अपने पिता को जब पुकारता है, तब पिता पहचान लेता है कि यह मेरे पुत्र का वाणी है। यदि शब्द का आकार न होता अर्थात् शब्द स्थूल न होता, तो इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा ग्रहण न किया जाता। अतएव प्रथम शब्द का ध्येय पदार्थ स्थापित करे। तब ध्यान तो शब्द को ध्येय करता है, और कान उस शब्द को सुनता है। अर्थात् 'ओ३म्' के मानसिक जप का शब्द उस ध्यान करने के स्थान में सुनाई पड़ता है। 'ओ३म्' पद के साथ तथा जीव और ईश के साथ पितृपुत्र के सम्बन्ध का भाव यहां सर्वथा घटता है।

है, और अमर है। उस ही को ध्यानयोग से बेधना चाहिये। अर्थात् उस ही की ओर बारम्बार अपना मन लगाना चाहिये ॥

ध्याता ध्यान ध्येय आदि त्रिपुटियां—

ध्यान-योग वह साधन है, जिसके द्वारा जीव अपने स्वरूप को जानकर परमात्मा के स्वरूप को भी विचार लेता है, और मुक्त हो जाता है। अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होने के लिये जीव को उचित है कि प्रकृतिजन्य स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को क्रमशः ध्येय करके जाने। सो ध्यान-योग की धारणा और ध्यान से इन सब पदार्थों का ज्ञान होता है।

उक्त धारणा और ध्यान में तो ध्याता ध्यान और ध्येय इन तीन पदार्थों की विद्यमानता रहती है। परन्तु समाधि में जब जीवात्मा अपने को भी भूल जाता है, और परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द में मग्न हो जाता है, तब ध्याता ध्यान और ध्येय इन तीनों का भेदभाव कुछ नहीं रहता। इस समाधि अवस्था को ही 'विद्या' वा विज्ञान, तथा सापेक्षता से धारणा और ध्यान को 'अविद्या' वा कर्मोपासना जानो। क्योंकि ये धारणा और ध्यान बाह्य और आन्तरिक क्रियाविशेष के नाम हैं, विज्ञानविशेष के नहीं। परन्तु ये परमात्मा के तत्स्वरूप यथार्थस्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने के साधन हैं। इनमें से—

(क) ध्यान करनेवाला जीवात्मा 'ध्याता' कहाता है।

(ख) जिस प्रयत्न वा चेष्टा द्वारा मन आदि साधनों से ध्येय पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसको 'ध्यान' क्रिया कहते हैं।

(ग) जिसका ध्यान किया जाता है, उसको 'ध्येय' कहते हैं।

इसी प्रकार ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, तथा प्रमाता प्रमाण प्रमेय इन त्रिपुटियों को भी उपरोक्त प्रमाणे जानो।

४. प्राणादि वायु के आकर्षण का प्रयोजन, तथा उसको ऊपर

चढ़ाने और नीचे उतारने की कथा—ध्यान एक प्रकार की विद्युत्=बिजली है। जैसे चुम्बक पत्थर लोहे को खींच लेता है, इस ही प्रकार ध्यान प्राणों को खींचकर ऊपर को चढ़ा और नीचे को उतार ले जाता है। अर्थात् जहां ध्यान ठहराया जायेगा, उस ही स्थान पर प्राण अवश्य जाता है। प्राणों को चढ़ाने वा उतारने के लिये अन्य कोई चेष्टा युक्ति क्रिया वा प्रयत्न कुछ भी नहीं करना पड़ता। जैसे प्रथम कह चुके हैं कि ध्यान के साथ मन और मन के साथ सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्तियां स्वतः उस देश में चली जाती हैं, जहां कि ध्यान ठहराया जाता है, वैसे ही प्राण भी स्वतः वहीं चले जाते हैं। जब मनुष्य की इच्छानुकूल अज्ञान और प्रमाद से ध्यान हट जाता है, तब मन और इन्द्रियादि के सदृश प्राण भी हट जाते हैं। अर्थात् ऊपर को चढ़ जाते हैं, वा नीचे को उतर जाते हैं।

प्राणों के चढ़ाने तथा उतारने के विषय में लोग ऐसे धोखे में पड़े हुए हैं कि उनके भ्रम को एकाएकी हटा देना कठिन है। सबको आजकल ऐसा विश्वास है कि प्राण चढ़ा लेने के उपरान्त उनका उतारना कठिन है। अर्थात् यदि उतारने की क्रिया ज्ञात न हो, तो मनुष्य मर भी जाता है। यह मूर्खों की सी कथा=कहानी सर्वथा झूठी है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिये। इसलिये स्पष्टता से यहां इस विषय का कथन कर देना अत्यावश्यक जान पड़ा कि जिससे भोले मनुष्य कभी ठगे न जा सकें। ऐसे-ऐसे संशयों का यथावत् निवारण तभी हो सकता है, जब कि कोई किसी आप्त योगाभ्यासी विद्वान से उपदेश लेकर कुछ दिन स्वयं अभ्यास करके परीक्षा और अनुभव करले। ब्रह्मविद्याविधायक वेदादिसच्छास्त्रानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों, स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत ग्रन्थों तथा इस 'ध्यान-योग-प्रकाश' नामक ग्रन्थानुकूल शिक्षा पानेवालों को इस विषय की यथार्थता का पूर्ण निश्चय और निर्णय हो सकता है। प्राण आदि वायु के आकर्षण करने का प्रयोजन मन की एकाग्रता करना ही है।

५. मूलनाड़ी को ऊपर की ओर आकर्षण करने का अभिप्राय—मूलेन्द्रिय=मूल की नाड़ी रबड़ की नाली के समान एक पोली नाड़ी प्राणों के संचार=आने-जाने का मार्ग है। जब ध्यान ऊपर स्थित हो जाता है, तब यह मूल की नाड़ी प्राणवायु से, जो ध्यान के साथ ही ऊपर को चला जाता है, भर जाने के कारण स्वतः सीधी ऊपर को इस प्रकार खिंच जाती है, जैसे कि रबड़ की नाली फूंक=वायु से भरी जाने पर सतर=सीधी खड़ी हो जाती है। मूलेन्द्रिय को 'सुषुम्णा नाड़ी' भी कहते हैं। जो पैरों से लेकर मस्तक में होती हुई त्रिकुटी=भ्रू मध्य में इडा और पिङ्गला के साथ मिल जाती है। जहां यह तीनों नाड़ियां मिलती हैं, इस 'त्रिकुटी' नामक स्थान को 'त्रिवेणी' भी कहते हैं।

'मूलेन्द्रिय को खींचे रखना' इस कथन का आशय यही है कि ध्यान को 'प्रथम प्राणायाम की धारणा के स्थान में दृढ़तापूर्वक टिकाये रखना, जिससे कि यह नाड़ी भी तनी हुई रहे। और प्राण-वायु अधिक देर तक उस समय बाहर ठहर सके, जब कि नासिकाग्र में धारणा करके प्रथम प्राणायाम किया जाता है। अर्थात् मूलेन्द्रिय के खिंचे रहने से ही प्राण नाक के बाहर अधिक ठहर सकता है। यही अभिप्राय इस क्रिया का है।

६. चित्त और इन्द्रियादि को ध्यान के स्थान में स्थिर रखने का अभिप्राय—चित्त और मन इन दोनों में इतना सूक्ष्म और अल्प भेद है कि जिसको अभेदसा मानकर दोनों को एक ही प्रायः मानते हैं। और एक के स्थान में दूसरे पद का ग्रहण भी इसी आशय से होता ही है। यह भेद ध्यानयोग का अभ्यास करते-करते जब चित्त और मन

१. प्रथम प्राणायाम की धारणा के मुख्य तीन ही स्थान हैं—ब्रह्माण्ड त्रिकुटी और नासिकाग्र। इन तीन स्थानों को ही यहां समझना चाहिये। उन में भी प्रधान नासिकाग्र जानो। वहां ध्यान ठहराने से प्राण बाहर निकलता है, और मूलेन्द्रिय तनी रहती है।

के स्वरूप का निर्मल बुद्धि द्वारा बोध होता है, तब ही यथावत् जाना जाता है। अतः यहां भी चित्त और मन इन दोनों पदों से एक ही अभिप्राय जानना चाहिये।

अब न्यायशास्त्रानुसार मन का स्वरूप कहते हैं—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्॥ न्याय अ० १। आ० १। सूत्र १६ [सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृष्ठ ८८]॥

अर्थ—जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण=ज्ञान नहीं होता, उसको 'मन' कहते हैं॥

अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों का रूपदर्शन आदि अपने-अपने विषयों के साथ सम्बन्ध रहते हुये भी एक काल में अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। इससे अनुमान होता है कि प्रत्येक इन्द्रिय का सम्बन्धी अव्यापक कोई दूसरा सहकारी कारण अवश्य है कि जिसके संयोग से ही ज्ञान होता है, और संयोग न रहने से ज्ञान नहीं होता है। ज्ञानग्रहण के उस अव्यापक सहकारी कारण को 'मन' कहते हैं। इन्द्रिय जिनके कारण नहीं, ऐसे स्मृति आदिकों का भी कोई कारण अवश्य मानना चाहिये। इस प्रमाण से भी 'मन' सिद्ध होता है।

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः॥ न्याय ३।२।५७॥

अर्थ—इस न्यायशास्त्र के सूत्र का भी यही आशय है कि मन को एक काल में अनेक ज्ञान नहीं होते। अतएव यह भी सिद्ध होता है कि मन एक ही है। इसीलिये मन को अव्यापक कहा है॥

चित्त चञ्चल है, क्योंकि वह विषयान्तर में शीघ्र-शीघ्र गमन करता है। अर्थात् मन अनेक संकल्प-विकल्प उठाता और छोड़ता हुआ चिरकाल तक एक विषय में स्थिर नहीं रहता, जब तक कि उपाय न किया जाये। उसका उपाय यही है कि मन=चित्त की जो प्रमाणादि अनेक वृत्तियां हैं, उनको पूर्व कहे हुए उपायों के अनुसार ध्यान द्वारा शरीर के किसी एक देश में स्थिर करके ध्यान और मन को डिगने न दे। ध्यान के डिगते ही मन अपनी वृत्तियों में और

इन्द्रियां विषयों में फंसनें लगती हैं, और ध्येय पदार्थं को छोड़ देती हैं। अतएव मन के रोकने के लिये ध्यान को दृढ़ करनें की अत्यन्त आवश्यकता है। अर्थात् 'ध्यानयोग' ही समाधियोग नामक उपासनायोग का, तथा ब्रह्म और मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य उपाय है। चित्त तथा इन्द्रियादि को ध्यान ठहराने के स्थान में स्थिर करने का अभिप्राय वा प्रयोजन यही है कि 'समाधियोग' सिद्ध हो जावे।

७. प्रणव का मानसिक=उपांशु जाप शीघ्र-शीघ्र एकरस करने का अभिप्राय—इस विषय में तीन अङ्ग हैं। (क) मानसिक जाप, (ख) शीघ्र जाप, (ग) एकरस जाप।

(क) मानसिक जाप का अभिप्राय वाणी का संयम करना मात्र है। जिसका प्रयोजन जिह्वा को तालु में लगाने के विषय में कह दिया गया है। वाणी के संयम से चित्त=मन एकाग्र होता है।

(ख) चित्त चञ्चल है। जब उसके चाञ्चल्य से 'ओ३म्' पद के शीघ्र-शीघ्र जाप में सहयोग लिया जाय, तो सम्भव है कि ध्येय पदार्थ के अतिरिक्त अन्य विषय में प्रवृत्त न हो सके। यही शीघ्र-शीघ्र जाप' का प्रयोजन है, कि चित्त जपरूप एक काम में ही लगा रहे।

मन के स्थिर करने के लिये काल का नियम करना आवश्यक है। जैसे क्षण-निमेषादि कल्पान्त अनेक काल की अवधि वा संज्ञा हैं, इस ही प्रकार एक बार 'ओ३म्' कहने में जो समय लगता है, उसको इस विषय में एक काल की सूक्ष्म अवधि मानकर 'ओं' मन्त्र के उच्चारण की संख्या प्राणायाम करते समय की जाती है। सो जितनी गिनती तक 'ओं' कहते-कहते मन किसी अन्य संकल्प वा विषय में न जाय, तब तक जानो कि जाप एकरस हुआ।

एकरस जाप करने का अभ्यास इस प्रकार बढ़ाना चाहिये कि जब जप करते-करते मन अन्य विषयों को ग्रहण करने लगे, तो

उसका ध्यान रखकर फिर १ से गणना करने का आरम्भ करदे। यथा—ओं १, ओं २, ओं ३, ओं ४, ओं ५, ..., ओं १००। इस प्रकार पहली बार यदि ५ तक गणना करने के उपरान्त मन चलायमान हो गया हो, तो दूसरी बार जब नये सिरे से गिनने लगे, तो प्रतिज्ञा कर ले कि इस बार न्यून से न्यून ६ गिनने पर्यन्त तो मन को डिगने न दूंगा। और ध्यान रखकर इस प्रतिज्ञा के अनुसार जप करने लगे। इस रीति से एकरस जप करने का अभ्यास बढ़ता जाता है।

प्रमाणादि ५ वृत्तियां, तथा क्षिप्त मूढ़ और विक्षिप्त इन ३ मन की अवस्थाओं में मन एकरस नहीं रहता। इसलिये 'ध्यानयोग' से उक्त अवस्थाओं और वृत्तियों का निवारण करना उचित है।

आवरण लयता तथा निद्रा वृत्तियों के स्वरूप के जानने की आवश्यकता—मन के एकरस न रहने के दो विघ्नरूप कारण 'आवरण' और 'लयता' वृत्तियां भी हैं। ये दोनों निद्रावृत्ति के पूर्वरूप वा भेद हैं। ध्यानयोग से इन तीनों के स्वरूप का ज्ञान, और उपासना-समय में इनका निवारण उपासक को करना उचित है। क्योंकि विना पहिचाने निद्रादि वृत्तियां जीती नहीं जा सकतीं। आसन दृढ़ नहीं होता, और निद्रावश मनुष्य थोड़ी देर भी अच्छे प्रकार एकाग्र चित्त से नहीं बैठ सकता। और उपासना करते समय निद्रादि आती भी शीघ्र ही हैं, और अचानक आकर मनुष्य को अचेत कर देती हैं। क्योंकि निद्रा के उक्त पूर्वरूपों की गति अति सूक्ष्म है। निद्रा के ज्ञान होने से मनुष्य को अपने सोने तथा जागने का भी ज्ञान हो जाता है। अर्थात् वह जान लेता है कि अब निद्रा आ गई, और अब चली गई। जैसा कि अर्जुन ने निद्रा को जीत लिया था, इस ही प्रकार सब कोई अभ्यास करने से निद्रा को जीत सकते हैं।

चित्त की पांच वृत्तियों में से निद्रा भी एक वृत्ति है। जैसे अन्य वृत्तियों का ज्ञान हो जाता है, इस ही प्रकार निद्रा वृत्ति का ज्ञान हो जाने में किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं करना चाहिये।

निद्रा नाम सोते समय में जीवात्मा और मन की स्थिति—मनुष्य जब सोता है, तब जीवात्मा लिङ्गदेह में प्रवेश कर जाता है, और मन सब इन्द्रियों-सहित कूर्मा नाड़ी में प्रवेश करके शान्त हो जाता है, जैसे कि कछुआ अपने सारे अङ्गों को भीतर सिकोड़ लेता है, और बाहर चञ्चलता से चलनेवाला नाग अपने बिल में जाकर शान्त हो बैठता है।

निद्रा के पहिचानने की विधि—

जब दिन और रात्रि के काम-धन्धों से निश्चिन्त होकर मनुष्य सोने लगे, तब त्रिकुटी में ध्यान लगाकर निद्रा के आने का ध्यान रक्खे, और उसके स्वरूप को जानने का प्रयत्न करे। सोते समय जहां ध्यान लगाकर मनुष्य सोता है, जागते समय उस ही स्थान पर ध्यान लगा हुआ जागता है।

इत्यादि प्रकार से विघ्नकारक चित्त की वृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करके उनको हटाते रहने से प्रणव का मानसिक एकरस जाप होना सम्भव है, अन्यथा असम्भव है।

८. प्रणव के जाप में संख्या करके काल का अनुमान—'ओं का जप करने की यह विधि है' कि ध्यानरूपी बिजली द्वारा मन तथा उसकी सम्पूर्ण वृत्तियों, और ज्ञानेन्द्रियों की दिव्यशक्तियों आदि सब को एकदेश में ठहराकर संयम करे। और उस ही स्थान में मौनव्रतपूर्वक मन ही मन में तदाकार वृत्ति से परमेश्वर में अपने आत्मा को लगाकर 'ओं' का जाप करे, तब सांगोपांग जाप पूर्ण होता है। जहां-जहां धारणा की जाती है, वहां-वहां सर्वत्र इस ही विधि से जाप किया जाता है, अन्यथा जप खण्डित समझा जाता है।

प्रणव के जप में संख्या करने का कुछ अंश तो प्रथम कह चुके, हैं, शेष यहां कहते हैं। जितने काल में एक बार 'ओ३म्' कहा जाता है, एक सैकण्ड उतनी ही देर में व्यतीत होता है। इस अनुमान से ६० बार एकरस 'ओ३म्' का मानसिक उच्चारण करने में एक मिनट

लगता है। एक घण्टे में ६० मिनट और ३६०० संकण्ड होते हैं। अतः एक घण्टेभर के प्रमाण से उपासना करनेवाले मनुष्य को उचित है कि एक आवृत्ति में ६० तक 'ओं' जपे। ऐसी-ऐसी ६० आवृत्तियां करने में पूरा घण्टा हो जाता है। 'ओ३म्' की गणना मन ही मन में करनी चाहिये, हाथ की अंगुलियों पर नहीं। संख्या करने का प्रयोजन प्रथम पृष्ठ १३६ में कह दिया गया है।

प्रथम प्राणायाम की नासिकाग्रवाली तृतीय धारणा के परिपक्व हो जाने पर जब प्राणवायु बाहर निकलने लगता है, तब घबराहट होकर प्राण झट भीतर चला जाता है। उसको नासिका के बाहर अधिक ठहराने का अभ्यास उत्तरोत्तर क्रमशः यहां तक बढ़ाना चाहिये कि जितनी देर में ५०० बार ओ३म् कह सके, उतनी देर प्राण बाहर ठहरा रहे। फिर 'ओ३म्' के स्थान में व्याहृति-मन्त्रों से अभ्यास करे। अर्थात् आदि में इतनी देर प्राण बाहर ठहरावे कि जितनी देर में 'ओ३म्' सहित सप्त व्याहृति मन्त्रों को न्यून से न्यून तीन बार पढ़ सके। फिर २१ बार इन मन्त्रों को एक बार पढ़ सकने तक का अभ्यास बढ़ावे, और इसको एक-एक प्राणायाम समझे। पश्चात् ऐसे-ऐसे तीन प्राणायाम एक बार में कर सकने का अभ्यास करे। अन्त में २१ प्राणायाम कर सकने की योग्यता प्राप्त करले। जितनी देर प्राण बाहर ठहर सके, उसको एक 'प्राणायाम' कहते हैं।

'ओ३म्' का जाप १ मात्रा से वा २ मात्रा से अथवा सम्पूर्ण ३ मात्रा से—ओं का जाप करनेवाले पुरुष को यदि उसके अर्थ का विचार वा ज्ञान न हो, तो जानो कि वह एक मात्रा से 'ओ३म्' को जपता है। यदि अर्थ-विचार-सहित जपे, तो जानो कि वह दो मात्राओं से 'ओ३म्' का जप करता है। और जो उस आनन्दस्वरूप परमात्मा के सम्मुख और उस ही के आधार और आनन्द के प्रकाश में निमग्न होकर जपे, तो जानो कि वह 'ओ३म्' का जाप उसकी तीनों मात्राओं से करता है।

९. ब्रह्माण्डादि तीन स्थान की धारणाओं का प्रयोजन—प्रथम प्राणायाम सिद्ध करने के लिये नासिका के बाहर प्राणवायु को लाकर खड़ा करना होता है, जहां आरम्भ में एक साथ कदापि नहीं आ सकता। अत: तीन स्थान की धारणारूप तीन श्रेणी का क्रम रक्खा है। सो प्रथम तो प्राण को सीधा ब्रह्माण्ड में लाना ही कठिन है, फिर भृकुटी में, फिर नाक के बाहर तो अति कठिनता से निकलता और ठहरता है।

१०. प्राणवायु को भीतर ले जाते समय क्रम से तीन स्थानों में थोड़ी देर ठहराते हुए हृदय में लेजाकर स्थापित कर देने का अभिप्राय—यह है कि प्राण उपासक के वश में होकर इच्छानुकूल जहां चाहे वहां ठहरा सके।

११. अपने आत्मा को परमात्मा में लगा देने का प्रयोजन—इससे पापों का नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

नासिकाग्र में धारणा करते-करते जब प्रथम प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर प्राणवायु बाहर निकलता अच्छे प्रकार विदित होने लगे, तब प्राण को बाहर अधिक ठहरने के लिये 'ओ३म्' की संख्या बढ़ा-चढ़ा कर जब अच्छे प्रकार एकरस ५०० बार 'ओ३म्' कहने तक प्राण बाहर ठहरने लगे, तब वक्ष्यमाण सप्त व्याहृति-मन्त्रों को उच्चारण करके प्राणायाम करना चाहिये। वे मन्त्र नीचे अर्थ सहित लिखे जाते हैं। इन सब से ईश्वर ही के गुणों का कीर्तन और प्रार्थना होती है—

मन्त्र	अर्थ व्याहृति-मन्त्र का	अर्थ ओं मन्त्र का
(१) ओं भूः—	हे प्राणाधार परमेश्वर !	आप मेरी रक्षा कीजिये।
(२) ओं भुवः—	हे दुःखविनाशक परमेश्वर!	आप मेरी रक्षा कीजिये।
(३) ओं स्वः—	हे मोक्षानन्दप्रद परमेश्वर!	आप मेरी रक्षा कीजिये।
(४) ओं महः—	हे सबके बड़े गुरु परमेश्वर!	आप मेरी रक्षा कीजिये।
(५) ओं जनः—	हे जगत्पिता परमेश्वर !	आप मेरी रक्षा कीजिये।

(६) ओं तपः—हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।
(७) ओं सत्यम् - हे अविनाशी परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।

योगद्वारा ऊर्ध्वरेता होने में वेदाज्ञा

ओम् एवा हि त्वामृतुथा यातयन्तं मघा विप्रेभ्यो ददतं शृणोमि ।
किं ते ब्रह्माणो गृहते सखायो ये त्वाया निदधुः काममिन्द्र ॥ १ ॥
ऋक् म० ५ । सू० ३२ । मन्त्र १२ ॥

पदार्थः[1]—हे (इन्द्र) परमैश्वर्य्ययुक्त ! विद्या और ऐश्वर्य्य से युक्त पति की कामना करती हुई मैं (हि) निश्चय से (विप्रेभ्यः) बुद्धिमान् जनों के लिये (मघा) धनों को (ददतम्) देते हुये, और (ऋतुथा) ऋतु-ऋतु के मध्य में (यातयन्तम्) सन्तान के लिये प्रयत्न करते हुए (त्वाम्) आपको (एवा) ही (शृणोमि) सुनती हूं । और (ते) आपके (ये) जो (ब्रह्माणः) चारों वेदों के जानने-वाले (सखायः) मित्र हैं, वे (त्वाया) आप में (किम्) क्या (गृहते) ग्रहण करते, और किस (कामम्) मनोरथ को (निदधुः) धारण करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—स्त्री ऋतु-ऋतु के मध्य में जाने की कामनावाला है वीर्य जिसका, ऐसे 'ऊर्ध्वरेता' अर्थात् वीर्य को वृथा न छोड़नेवाले, ब्रह्मचर्य को धारण किये हुए, उत्तम स्वभाववाले, और विद्यायुक्त उत्तम यशवाले जन को पतिपने के लिये स्वीकार करे । उसके साथ यथावत् वर्ताव करके पूर्ण मनोरथवाली और सौभाग्य से युक्त होवे ॥ १ ॥

मनोहवन बिजली द्वारा होता है । योगी लोग इसे अब भी बिजली द्वारा सिखाते हैं । मनोहवन का मन्त्र यह है—

---

१. इस पुस्तक में सर्वत्र वेद-मन्त्रों का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत भाष्यों के आधार पर दिया गया है ।

**ओं पुरो वो मन्द्रं दिव्यं सुवृक्तिं प्रयति यज्ञे अग्निमध्वरे दधिध्वम् ।
पुर उक्थेभिः स हि नो विभावा स्वध्वरा करति जातवेदाः ॥ २ ॥**
ऋ०म० ६ । सू० १० । मं० १ ॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! आप लोग, (वः) आप लोगों के (प्रयति) प्रयत्न से साध्य (अध्वरे) अहिंसनीय (यज्ञे) सङ्गतिस्वरूप यज्ञ में (उक्थेभिः) कहने के योग्यों से (पुरः) प्रथम (मन्द्रम्) आनन्द देनेवाले वा प्रशंसनोय, (दिव्यम्) शुद्ध, (सुवृक्तिम्) उत्तम प्रकार चलते हैं जिससे उस, (अग्निम्) विद्युतादिस्वरूप अग्नि को (दधिध्वम्) धारण करो। और जो (हि) निश्चय करके (विभावा) विशेष करके प्रकाशक, (जातवेदाः) प्रकट हुओं को जाननेवाला, (नः) हम लोगों को (पुरः) प्रथम (स्वध्वर) उत्तम प्रकार अहिंसा आदि धर्मों से युक्त (करति) करे, (सः) वही हम लोगों से सत्कार करने योग्य है ॥ २ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे यज्ञ करनेवाले यज्ञ में अग्नि को. प्रथम उत्तम प्रकार स्थापित करके, उस अग्नि में आहुति देकर संसार का उपकार करते हैं, वैसे ही आत्मा के आगे परमात्मा को संस्थापित करके. वहां मन आदि का हवन करके, और प्रत्यक्ष करके उसके उपदेश से जगत का उपकार करो ॥२॥

**ओं इममू षु वो अतिथिमुषर्बुधं विश्वासां विशां पतिमृञ्जसे गिरा ।
वेतीद्दिवो जनुषा कच्चिदा शुचिर्ज्योक् चिदत्ति गर्भो यदच्युतम् ॥३॥**
ऋ० ६ । सू० १५ । मन्त्र १ ॥

अर्थ हे विद्वन् ! जिस कारण से आप (इमम्) इस (विश्वासाम्) सम्पूर्ण (विशाम्) मनुष्य आदि प्रजाओं के (पतिम्) पालक, (अतिथिम्) अतिथि के समान वर्त्तमान, (उषर्बुधम्) प्रातःकाल में जागनेवाले को (ऋञ्जसे) सिद्ध करते हैं; (गर्भः) अन्तस्थ के समान जो (उ) तर्कना-सहित (दिवः) पदार्थ-बोध की (जनुषा) उत्पत्ति से (सुवेति) अच्छे प्रकार व्याप्त होता (इत्) ही है, तथा (कत्) कभी

(चित्) भी (यत्) जो (शुचिः) पवित्र (अच्युतम्) नाश से रहित वस्तु को (ज्योक्) निरन्तर (अत्ति) भोगता है, और (वः) आप लोगों की (गिरा) वाणी से (चित्) निश्चित (आ) आज्ञा करता है, वह विद्वान् होता है ॥३॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे अतिथि सत्कार करने योग्य है, वैसे ही पदार्थ-विद्या का जाननेवाला सत्कार करने योग्य है । जो सबके अन्तस्थ नित्य बिजली की ज्योति को जानते हैं, वे अभीप्सित सुख को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

२. अथ द्वितीय प्राणायामः—अब 'आभ्यन्तरविषय' नामक दूसरे प्राणायाम की विशेष विधि विस्तारपूर्वक कहते हैं—

विधि—नाभि के नीचे ध्यान लगाकर अपानवायु को उदर में भरे। जब नाभि से लेकर कण्ठ तक भर जाय, तब जल्दी से ध्यान कण्ठ में लाकर अपानवायु को बन्द कर दे। जब जी घबराने लगे, तब धीरे-धीरे ध्यान के साथ छोड़ दे। पुनः इसी प्रकार अपानवायु को भरे, और जितनी देर सहन कर सके, उतनी देर बन्द कर रक्खे। जब जी का घबराना न सहा जाय, तब ध्यान द्वारा धीरे-धीरे छोड़ दे। इस विधि से बारंबार अपानवायु को भरे, और थोड़ी देर रोककर छोड़ दे। और प्रथम प्राणायाम मे कही विधि से 'ओं' मन्त्र का जप करे। और उसकी संख्या द्वारा अपानवायु को उत्तरोत्तर अधिक देर तक बन्द कर रखने का अभ्यास प्रतिदिन बढ़ाता जाय।

दूसरे प्राणायाम के तीन उपलक्षणों के कारण तीन नाम और भी हैं। यथा—(क) कुम्भक प्राणायाम। (ख) पूरक प्राणायाम। (ग) रेचक प्राणायाम।

(क) इस प्राणायाम को 'कुम्भक' इसलिये कहते हैं कि 'कुम्भ' नाम घड़े का है। और मनुष्य के देह में नाभि से लेकर कण्ठदेश पर्यन्त, जहां योगीजन अपानवायु को भरते हैं, वह अवकाश एक प्रकार के घड़े की आकृति के सदृश है। तथा उदर नाम पेट को अलंकार की रीति से लोक-भाषा में 'घड़ा' कहते भी हैं।

(ख) इस ही प्राणायाम को 'पूरक' इस कारण से कहते हैं कि जैसे घड़े में जल भरा जाता है, वैसे ही इसके अनुष्ठान में नाभि से कण्ठपर्यंत का अवकाश अपानवायु से पूरित किया जाता है।

(ग) 'रेचन' नाम छोड़ने वा निकाल देने का है। सो अपान-वायु को उदर में भरकर थोड़ी देर वहां थांमकर छोड़ वा निकाल दी जाती है। इस कारण इस एक ही प्राणायाम का तीसरा नाम 'रेचक' भी रक्खा गया है।

इस विषय को अच्छे प्रकार न जाननेवाले लोग ऐसी भूल में पड़े हैं कि इस एक ही प्राणायाम के तीन भिन्न-भिन्न नाम होने के कारण से उन्हें तीन भिन्न-भिन्न प्राणायाम बताते हैं।

प्रथम तथा द्वितीय प्राणायामविषयक कठोपनिषत् का प्रमाण—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥

कठ० वल्ली ५ मन्त्र ३॥

अर्थ—जो मनुष्य योगाभ्यास के अनुष्ठान में प्रथम प्राणा-याम करते समय (प्राणम् ऊर्ध्वं उन्नयति) हृदय देशस्थ प्राण-वायु को ऊपर अर्थात् ब्रह्माण्ड में आकर्षण करता है (=चढ़ा ले जाता है), और दूसरा प्राणायाम करते समय (अपानं प्रत्यक् अस्यति) गुदा द्वारा चलनेवाले अपानवायु को उदर में (=घड़े की सी आकृतिवाले पेट में) अर्थात् उस अवकाश में, कि जो नाभि से लेकर कण्ठदेशपर्यन्त विस्तृत है, उस अवकाश में भरता है, (मध्ये आसीनम्) नाभि और कण्ठदेश के मध्य में अन्तःकरणान्तर्गत दशां-गुल अवकाश में विराजमान (तं वामनम्) उस प्रशस्त नित्य शुद्ध प्रकाशस्वरूप-युक्त जीवात्मा को (विश्वेदेवाः) सम्पूर्ण व्यवहार साधक इन्द्रियां (उपासते) सेवन करते हैं॥

इस मन्त्र में प्रथम तथा द्वितीय प्राणायाम की विधि कही है। इस से यह बात भी सिद्ध की है कि योगाभ्यास करते समय सम्पूर्ण

इन्द्रियां जीवात्मारूप राजा की सेवा-चाकरी में प्रजा की नाईं तत्पर रहती हैं। तथा 'अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि०' इस अथर्ववेद (१९।८।२) की श्रुति से भी यही बात सिद्ध है। अर्थात् प्रार्थना यही की गई है कि परमात्मन्! हमारे अट्ठाईसों शग्म उपासना का सेवन करें। योगाभ्यास करते समय प्रथम पृष्ठ १२५ उक्त इस वेदमन्त्र द्वारा इसी प्रकार प्रार्थना सबको करनी उचित है। और इस प्रार्थना के अनुसार ही अपना वर्त्तमान रक्खे। अर्थात् अपना सर्वस्व परब्रह्म परमात्मा को समर्पित कर दे, और वेदोक्त धर्मयुक्त निष्काम कर्म में सदा तत्पर रहे।

३. अथ तृतीयः प्राणायामः—अब 'स्तम्भवृत्ति' नामक तृतीय प्राणायाम की विशेष विधि विस्तारपूर्वक कहते हैं—

क्रिया—जब तीसरा प्राणायाम करना चाहे, तब न तो प्राणवायु को भीतर से बाहर निकाले, और न अपानवायु को बाहर से भीतर ले जाय। किन्तु जितनी देर सुखपूर्वक हो सके, उन प्राणों को जहां का तहां, ज्यों का त्यों एकदम=एक साथ रोक दे।

विधि—उपर्युक्त क्रिया की विधि यह है कि प्राणवायु के ठहरने का स्थान जो हृदयदेश में है, और अपानवायु के ठहरने का स्थान जो नाभिदेश में है, इन दोनों स्थानों के मध्यवर्ती अवकाश में स्थित समानवायु के आधार में स्तम्भवृत्ति से ध्यान को लगा दे। अर्थात् ध्यान से समानवायु को पकड़कर थांभ ले। जब मन घबराने लगे, तब ध्यान ही से उस को छोड़ दे। पुनः बारम्बार इस ही प्रकार करे। अर्थात् सुखपूर्वक जितनी देर हो सके, उतनी उतनी देर बारम्बार अभ्यास करे। ध्यान द्वारा 'स्तम्भवृत्ति' से प्राण और अपान दोनों जहां के तहां रुक जाया करते हैं। योग की सम्पूर्ण क्रिया सर्वत्र ध्यान से ही की जाती है। इस बात का उपासक को सर्वदा स्मरण रहे। अतएव अनेक बार यह उपदेश उपयोगी स्थलों में किया गया है।

४. अथ चतुर्थः प्राणायामः—अब 'बाह्याभ्यन्तर-विषयाक्षेपी' नामक चतुर्थ प्राणायाम की विशेष विधि विस्तारपूर्वक कहते हैं—

विधि—सामान्यविधि इस प्राणायाम की पूर्व पृ० १२० में यह कही है कि—'जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ कुछ रोकता रहे। और जब बाहर से भीतर जावे, तब उसको भीतर ही थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे।' अर्थात् जब प्राणवायु भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उस से विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिये अपानवायु को बाहर से भीतर ले। और जब वह अपानवायु बाहर से भीतर आने लगे, तब भीतर से बाहर की ओर प्राणवायु से धक्का देकर अपानवायु की गति को भी रोकता जाय।

इस प्रकार एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करे, तो दोनों प्राणों की गति रुककर वे प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन हो जाते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि ऐसी तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य के शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल पराक्रम और जितेन्द्रियता होती है। फिर वह मनुष्य सब शास्त्रों को थोड़ ही काल में समझकर उपस्थित कर सकता है। चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर हो सकता है। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे। [देखो–'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' योगसूत्र १।३४; इस ग्रन्थ के पृष्ठ ६७ में; तथा स० प्र० समु० ३ पृष्ठ ६२ में वही विधि यहां ज्यों की त्यों पुनरुक्त है।]

चौथे प्राणायाम की संक्षिप्त विधि का विस्तार—"ऊपर से लाओ प्राण, और नीचे से लाओ अपान, और दोनों का युद्ध नासिका में कराओ।" अर्थात् हृदय-देश में ठहरने और भीतर से बाहर जाने के स्वभाववाले प्राणवायु को ऊपर की ओर चढ़ाकर ब्रह्माण्ड में होकर भ्रूमध्य में लाकर, त्रिकुटी के तले स्थापित करो। और नाभि के नीचे ठहरने और बाहर से भीतर आने के स्वभाववाले अपानवायु

को बाहर से लाकर नासिका के छिद्रों के भीतर लेकर स्थापित करो। अब दोनों को धक्का देकर एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करके लड़ाई कराओ। अर्थात् न तो प्राण को बाहर निकलने दो, और न अपान को भीतर जाने दो। इस प्रकार विरुद्ध क्रिया करने से दोनों प्राण वश में हो जाते हैं। इस प्राणायाम को करते समय मन इन्द्रियादिकों को त्रिकुटी में ध्यान द्वारा स्थिर करो।

अब भगवद्गीता के अनुसार चौथे प्राणायाम की विधि लिखते हैं। वक्ष्यमाण श्लोकों में प्राणायाम और प्रत्याहार ये दोनों क्रिया आ गई हैं—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ १ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २ ॥
भ० गी० अ० ५। श्लोक २७,२८ ॥

अर्थ—(बाह्यान् स्पर्शान् बहिः कृत्वा) बाह्य इन्द्रियों के विषयों को त्यागकर, अर्थात् चित्त की उन वृत्तियों को, जो कि इन्द्रिय-गोलकों के द्वारा बाहर निकलकर तथा चारों ओर फैलकर अपने-अपने रूपादि विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त होकर मन को चलायमान कर देती हैं, विषयों से हटाकर और उन सम्पूर्ण वृत्तियों को भीतर की ओर मोड़ कर, (चक्षुः च एव भ्रुवोः अन्तरे कृत्वा) और दोनों भ्रुकुटियों के मध्य त्रिकुटी नामक देश में चक्षु आदि इन्द्रियों सहित मन को अर्थात् ध्यान को स्थिर करके, (नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा) नासिका के छिद्रों द्वारा ही संचार करने=आने-जाने का स्वभाव रखनेवाले प्राण और अपान दोनों वायुओं को समान करके, अर्थात् एक-दूसरे के सम्मुख=सामने विरुद्धपक्ष में स्थापित करके, परस्पर विरुद्ध क्रिया करनेवाला, अर्थात् बाहर निकलने के स्वभाववाले प्राण को बाहर न निकलने देनेवाला,तथा भीतर आने

के स्वभाववाले को भीतर न आने देनेवाला, (यः मुनिः) जो कोई मननशील योगी, और ब्रह्म का श्रेष्ठ उपासक (यतेन्द्रियमनोबुद्धिः मोक्षपरायणः) इन्द्रिय मन और बुद्धि को जीतनेवाला, और निरन्तर मोक्ष-मार्ग में ही तत्पर, और (विगतेच्छाभयक्रोधः) इच्छा भय और क्रोध से रहित होता है, (सः सदा मुक्त एव) वह सदा मुक्त ही है ॥ १-२ ॥

चतुर्थ-प्राणायाम-विषयक भगवद्गीता का दूसरा प्रमाण

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥
भ० गी० अ० ४ । श्लोक २६ ॥

अन्वयः—अपरे नियताहाराः प्राणायामपरायणाः प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणान् प्राणेषु जुह्वति । अत्र प्रश्नः—अपरे ते केन विधिना प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ? उत्तरम्—अपाने प्राणं जुह्वति, तथा प्राणे अपानं जुह्वति ॥

[1]अर्थ – युक्ताहारविहारपूर्वक अपने मन और शरीर को नीरोग और शान्त रखनेवाले, तथा प्राणायामों के अनुष्ठान में तत्पर रहनेवाले अन्य योगाभ्यासीजन प्राणवायु तथा अपानवायु इन दोनों की गति को रोककर प्राणों में प्राणों का हवन करते हैं। 'इस विषय में

१. भगवद्गीता के चतुर्थाध्याय के इस उनतीसवें श्लोक के साथ इससे पूर्व के श्लोकों की संगति है । जहां प्रथम से जपयोग तपोयोग अग्निहोत्रादि कर्मयोग में तत्पर धर्मनिष्ठ जनों का वर्णन किया है कि कोई किसी प्रकार और कोई किसी प्रकार धर्ममार्ग में प्रवृत्त हैं। वहां यह भी कथन है कि योगाभ्यास में तत्पर अन्य योगीजन प्राणों में प्राणों का हवन करते हैं । अर्थात गार्हपत्याग्नि आहवनीयाग्नि और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों के अग्निहोत्रादि होम को संन्यासाश्रम में त्यागकर निरग्नि होकर उक्त होमादि कर्म के स्थान में प्राणों में प्राणों का होम करते हैं ।

प्रश्न आया है कि वे अन्य योगीजन किस विधि से प्राणों में प्राणों का हवन करते हैं ?' इसका उत्तर यह है कि—'अपान में प्राण का हवन करते हैं, तथा प्राणों में अपान का हवन करते हैं' ॥

इस प्राणों के युद्धरूपी देवासुर-संग्राम में दोनों प्राणों के परमाणुओं का ऐसा संगम हो जाता है कि मानों जल और दुग्ध के सम्मेलन करने से उनके परमाणुओं का संयोग होकर, अर्थात् दोनों आपस में रलमिल कर अन्योन्य सायुज्य से लय हो गये हों । अर्थात् इस चौथे प्राणायाम की क्रिया को ही प्राणों में प्राणों का लय करना, वा प्राणों में प्राणों का हवन करना कहते है ।

इस चतुर्थ प्राणायाम को ही शतपथ ब्राह्मण के वक्ष्यमाण प्रमाणानुसार प्राणों की लड़ाई वा'देवासुर-संग्राम'भी कहते हैं। क्योंकि प्राण धक्का देकर अपान की गति को जीतकर उसे भीतर नहीं आने देता ! इसी प्रकार अपान भी प्राण को बाहर निकलने नहीं देता—

[अथ योऽयमवाङ् प्राणः, तेनासुरानसृजत, त इमामेव पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त, तस्मै ससृजानाय तम इवास । सोऽवेत् पाप्मानं वाऽसृक्षि यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति, तांस्तत एव पाप्मनाविध्यत तत एव पराभवं तस्मादाहुर्नैतदस्ति, यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत् ····॥ श० ११।१।६।८-९ ॥]

श्री व्यासदेव मुनि तथा महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती सम्पादित चारों प्राणायामों की विधि

प्राणायामों की क्रिया के विषय में अनेक भ्रमजन्य विश्वास लोक में सम्प्रति हो रहे हैं, अतएव श्री भगवान् व्यासदेव मुनिकृत योग-भाष्य के अनुसार, जिसको कि श्री भगवान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने स्वमन्तव्य सिद्धान्तरूप से स्वप्रणीत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'में आवश्यकतानुकूल निज टिप्पणी सहित प्रतिपादन किया है, मैं फिर इस विषय को स्पष्टतया प्रकाशित करने के हेतु नीचे लिखता हूं—

इस विषय में प्रवेश करने से पूर्व अच्छे प्रकार समझ लेना उचित

है कि 'प्राणायाम' किसको कहते हैं। सो पूर्वोक्त पातञ्जल योगसूत्र में कह दिया है, कि—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥

योऽ पा० २। सू० ४९ ॥

अर्थ—दृढ़ासनपूर्वक निश्चल निष्कम्प सुखपूर्वक स्थिर होकर श्वास और प्रश्वास की गति के रोकने को 'प्राणायाम' कहते हैं। अर्थात् शरीरस्थ वायु=प्राणों को अपने वश में कर लेना 'प्राणायाम' कहाता है ॥

इस सूत्र पर 'श्री व्यासदेव जी' अपने भाष्य में कहते हैं कि—

भाष्य—"सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं 'श्वासः'। कोष्ठयस्य वायोर्निस्सारणं 'प्रश्वासः'। तयोर्गतिविच्छेदः उभयाभावः 'प्राणायामः' ॥" योग व्या० भा० २।४९ ॥

अर्थ—जब कोई योगाभ्यास करने को उपस्थित हो, तो प्रथम अपना आसन जमा ले। तदनन्तर अर्थात् आसन सिद्ध हो जाने के पश्चात् जो बाहर के वायु का आचमन करना=पीना वा भीतर ले जाना है, उसको तो 'श्वास' कहते हैं। और कोष्ठ=पेट में भरे हुये वायु के बाहर निकालने को 'प्रश्वास' कहते हैं। इस प्रकार श्वास के भीतर आने और प्रश्वास के बाहर निकलने की जो दो प्रकार की गतियां हैं, उन दोनों चालों का रोकनारूप जो प्राणसञ्चार का अभाव है, वही 'प्राणायाम' कहलाता है ॥

इस भाषा के टिप्पणरूप भाष्य में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का भी कथन ऐसा ही है कि—

"आसने सम्यक् सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोः युक्त्या शनैः शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः" ॥ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० २०१ ॥

अर्थ—आसन अच्छे प्रकार सिद्ध हो जाने के उपरान्त बाहर-भीतर आने-जाने का स्वभाव रखनेवाले वायु का युक्तिपूर्वक धीरे-

धीरे अभ्यास करके जय=वश में कर लेना। अर्थात् उस वायु को स्थिर करके उसकी गति=चाल वा संचार का अभाव करना 'प्राणायाम' कहाता है ॥

इन दोनों महर्षियों के कथन में चारों प्राणायामों का संक्षिप्त सामान्य वर्णन किया गया है। आगे फिर चारों की विधि जो दो योग-सूत्रों में कही है, सो यह है कि—

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥१॥ बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ २ ॥

योग० पा० २। सू० ५०-५१ ॥

अर्थ—परन्तु वह प्राणायाम चार प्रकार का होता है। एक तो 'बाह्य-विषय', दूसरा 'आभ्यन्तर-विषय', तीसरा 'स्तम्भवृत्ति', और चौथा 'बाह्याभ्यन्तर-विषयाक्षेपी'। इन चारों में नियत देश का नियम, काल और संख्या का परिमाण 'परिदृष्ट' अर्थात् जिस प्राणायाम और उसकी धारणा के लिये जो-जो स्थान नियत है, उस-उस में जितनी देर हो सके, उतनी देर तक 'ओ३म्' महामन्त्र की मानसिक उच्चारणपूर्वक संख्या करके, ध्यान को चारों ओर से समेट-कर उसी एक स्थान में ज्ञानदृष्टि द्वारा दृढ़ता से ठहराकर श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना चाहिये। 'दीर्घ-सूक्ष्म'=उक्त रीति से जो कोई, यथा नूतन योगी, थोड़ी देर ही प्राणायाम कर सके, तो उसको 'सूक्ष्म प्राणायाम' जानो। और जो कोई कृताभ्यास योगी अधिक समय तक प्राणों की गति का अवरोध कर सके, उसको 'दीर्घ प्राणायाम' जानो ॥ १-२ ॥

'स तु बाह्याभ्यन्तर०' [यो० २।५०] इस सूत्र में तीन प्राणा-यामों की विधि है। उस पर व्यासदेव जी का भाष्य आगे लिखते हैं—

भाष्य—"यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स 'बाह्यः'। यत्र श्वास-पूर्वको गत्यभावः स 'आभ्यन्तरः'। तृतीयः 'स्तम्भवृत्तिः' यत्रोभयाभावः

सकृत्प्रयत्नाद्भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते, तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति" ॥ योग० व्यासभाष्य २।५० ॥

अर्थ—प्रथम—जहां=जिस प्राणायाम में प्रश्वासपूर्वक प्राण-वायु की गति का अभाव हो, उसको 'बाह्य-विषय' प्राणायाम कहते हैं। द्वितीय—जहां श्वासपूर्वक अपानवायु की गति का अभाव हो, उसको 'आभ्यन्तर-विषय' प्राणायाम कहते हैं। तृतीय - 'स्तम्भवृत्ति' प्राणायाम वह कहाता है, जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनों की गति का अभाव 'सकृत्प्रयत्न'=एकदम वायु को जहां का तहां ज्यों का त्यों एक ही बार में ध्यान को झट से दृढ़ करके, ज्ञानदृष्टि द्वारा प्रयत्न करके एक साथ ही रोककर किया जाता है। इसमें दृष्टान्त है कि जैसे तपते हुए गरम पत्थर पर डाला हुआ जल सब ओर से संकुचित होता= सिकड़ता जाता है, इसी प्रकार श्वास और प्रश्वास=अपान और प्राणवायु दोनों की गति का एक साथ अभाव किया जाता है ॥

जल का स्वभाव फैलने का है, अर्थात् वह जहां गिरता है, वहां पर फैलकर अपना प्रवेश किया चाहता है। परन्तु जब गरम पत्थर पर गिरता है, तब तनिक भी नहीं फैलने पाता, प्रत्युत फैलने के स्थान में गिरने के साथ ही सिकुड़ने लगता है। इस ही प्रकार वायु का स्वभाव गति=विचरना है, किन्तु 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' करते समय ध्यान ठहराने के साथ ही दोनों प्राण जहां के तहां एक ही साथ तत्क्षण रोके जाते हैं।

ऊपर कही विधि में सर्वत्र ध्यान ठहराकर ज्ञानदृष्टि द्वारा प्राणायाम करना बताया गया है, न कि अङ्गुलियों से नकसोरे दबा-कर, या अन्य प्रकार श्वास खींच कर। इस विषय का भी प्रमाण श्रीमान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की बताई हुई विधि में आगे कहते हैं—

"बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य प्राणा-यामः क्रियते। स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति। किन्त्वत्र बाह्या-

भ्यान्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संरुध्य 'प्रथमो बाह्याख्यः' प्राणायामः कर्त्तव्यः। तथोपासकैर्यो बाह्याद्देशादन्तः प्रविशति, तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः क्रियते, स 'आभ्यन्तरो द्वितीयः' सेवनीयः। एवं बाह्याभ्यन्तराभ्यामनुष्ठिताभ्यां आभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्संरोधो यः क्रियते, स 'स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः' प्राणायामोऽभ्यसनीयः॥"

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ २०१॥

अर्थ—बालबुद्धि अर्थात् प्राणायाम की क्रिया और योगविद्या में अनभिज्ञ लोग अङ्गुलियों और अंगूठे से नकसोरों को बन्द करके जो प्राणायाम किया करते हैं, यह रीति विद्वानों को अवश्यमेव छोड़ देनी चाहिये। किन्तु चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों तथा मन और इन्द्रियों की चञ्चलता और चेष्टा को शिथिल करके=रोककर अन्तःकरण को रोगद्वेषादि दुष्टाचारों से हटाकर, तथा बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों और अङ्गों में शान्ति और शिथिलता=निश्चलता सम्पादन करके, सब अङ्गों को यथावत् स्थिर करके, अर्थात् सुख से सुस्थिर आसनपूर्वक बैठकर बाहर निकले हुये प्राणवायु को वहीं बाहर ही यथाशक्ति=जितनी देर हो सके उतनी देर रोककर प्रथम नाम 'बाह्य-प्राणायाम' किया जाता है।

तथा बाहर से जो=अपानवायु देह के भीतर प्रवेश करता है, उसका जो उपासक (=योगी) जन भीतर ही यथाशक्ति निरोध करते हैं, इस विधि से सेवनीय दूसरा अर्थात् 'आभ्यन्तर-प्राणायाम' कहाता है। इस प्रकार दोनों बाह्य और आभ्यन्तर प्राणायामों का अनुष्ठान सीखकर पूर्ण अभ्यास करके प्राण और अपान दोनों वायुओं का जब कभी जो 'युगपत्संरोध'=एकदम से अच्छे प्रकार निरोध किया जाता है, सो तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' नामक प्राणायाम उक्त विधि से ही अभ्यास करने योग्य है॥

आगे चौथे प्राणायाम की विधि कहते हैं—

भाष्य—"देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः, तथा आभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः, उभयथा दीर्घसूक्ष्मः, तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावः 'चतुर्थः प्राणायामः'। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावः 'चतुर्थः प्राणायामः' इत्ययं विशेष इति। [अर्थात् यः प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थो गद्यते]"॥
योग० व्यासभाष्य २।५१॥

'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' [योग० २।५१] यह जो योगदर्शन का चतुर्थ प्राणायाम-विषयक पूर्वोक्त सूत्र है, उस पर श्रीयुत 'व्यासदेव जी' ने भाष्य करने में चारों प्राणायामों का भेद पृथक्-पृथक् दर्शाकर चतुर्थ प्राणायाम में जो विलक्षणता जताई है, सो आगे कहते हैं कि—

अर्थ—'बाह्यविषय' नामक प्रथम प्राणायाम में तो देश काल और संख्या करके परिदृष्ट 'प्राणवायु' बाहर फेंका जाता है। और 'आभ्यन्तर विषय' नामक दूसरे प्राणायाम में देश काल और संख्या करके परिदृष्ट 'अपानवायु' भीतर को फेंका जाता है। 'उभयथा दीर्घसूक्ष्मः'=काल और संख्या के परिमाण से दोनों प्राणायाम दीर्घ तथा सूक्ष्म होते हैं। 'तत्पूर्वकः'=ये दोनों प्राणायाम क्रमपूर्वक अभ्यास करते-करते 'भूमिजयात्'=जब अच्छे प्रकार परिपक्व हो जायें, अर्थात् प्रथम प्राणायाम तो अपनी नासिकाभूमि में जब पक्का हो जाये, फिर दूसरे प्राणायाम का अभ्यास भी जब नाभिभूमि में परिपक्व हो जाये, इस क्रम से जब दोनों प्राणायामों की क्रिया सीखकर पक्का अभ्यास हो जावे, तब प्राण और अपान इन दोनों की गति के अभाव (=रोकने) से चतुर्थ प्राणायाम किया जाता है॥

तीसरे और चौथे प्राणायाम में भेद यह है कि—प्राणवायु का

विषय नासिका, और अपान का विषय नाभिचक्र है। इन दोनों विषयों का लक्ष्य वा विचार किये बिना ही आरम्भ करने के साथ तीसरे प्राणायाम में एक बार ही दोनों प्राणों की गति का अभाव किया जाता है। और देश काल संख्या से परिदृष्ट दीर्घ सूक्ष्म यह तीसरा प्राणायाम भी होता है। किन्तु चौथे प्राणायाम में प्रथम तो क्रम-पूर्वक प्रथम और द्वितीय प्राणायामों की भूमियों में अभ्यास परिपक्व करना होता है, पश्चात् श्वास और प्रश्वास=अपान और प्राण इन दोनों के विषयों=नाभि और नासिका नामक भूमियों का लक्ष्य करके 'उभयाक्षेपपूर्वकः'=प्राण को बाहर की ओर और अपान को भीतर की ओर फेंकते हुये दोनों की गति को रोकना होता है। अतः जो उभयाक्षेपी[1] प्राणायाम है, उसको चतुर्थ प्राणायाम कहते हैं। इस चौथे प्राणायाम में यही विशेषता है।

'चतुर्थ प्राणायाम' के विषय में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की विधि आगे कहते हैं—

"तद्यथा यदोदराद् बाह्यदेशं प्रति गन्तुं प्रथमक्षणे प्रवर्त्तते, तं संलक्ष्य पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्तव्याः [स 'प्रथमः']। पुनश्च यदा बाह्यदेशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेत्तमाभ्यन्तर एव पुनः-पुनः यथाशक्ति गृहीत्वात्रैव स्तम्भयेत् स 'द्वितीयः'। एवं द्वयो-रेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः क्रियते, सः 'चतुर्थः प्राणायामः'। यस्तु खलु तृतीयोऽस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षां करोति, किन्तु यत्र-यत्र देशे प्राणो वर्त्तते, तत्र-तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः॥"

ऋ० भा० भू०, पृष्ठ २०१॥

---

१. चौथे प्राणायाम को 'उभयाक्षेपी' इसलिये कहते हैं कि इस में प्राण को बाहर निकालने और अपान को भीतर लेने की दोनों क्रियायें, जो एक-दूसरे के विरुद्ध हैं, की जाती हैं। और दोनों प्राणों में धक्कमधक्का संग्राम-तुल्य होता है।

अर्थ—तद्यथा०—उस चतुर्थ प्राणायाम की क्रिया इस विधि से करनी होती है कि जब प्रथम प्राणायाम करते समय प्रथम क्षण में पेट से बाहर को जाने के लिये जो प्राणवायु प्रवृत्त होता है, उस को 'संलक्ष्य', यह व्यासदेव जी के भाष्य में कहे 'परिदृष्ट' पद का अर्थ हैं, कि अच्छे प्रकार लक्ष्य कर लेने के उपरान्त नासिका के बाहरवाले देश की ओर प्राणों को फेंकना। अर्थात् वमनवत् बलपूर्वक बाहर निकालना चाहिये। यह प्रथम प्राणायाम की सी विधि हुई।

तदनन्तर जब नासिका के बाहरवाले देश से भीतर नाभि की ओर आने लगे, तब प्राणों को भीतर की ओर आने के प्रथम क्षण में ही भीतर को ग्रहण करके बारम्बार यथाशक्ति जितनी देर सुखपूर्वक हो सके उतनी देर प्राणों को (=अपानवायु को) भीतर ही रोकता रहे। यह दूसरे प्राणायाम की विधि हुई। इस प्रकार जब क्रमशः इन दोनों प्राणायामों को अभ्यास करते-करते परिपक्व कर ले, तब प्राण और अपान इन दोनों प्राणों की गति से अभाव नाम रोकने के लिये जो क्रिया की जाती है, वही चौथा प्राणायाम है।

परन्तु तीसरा जो प्राणायाम है, वह 'बाह्यविषय' नामक प्रथम, तथा 'आभ्यन्तरविषय' नामक दूसरे प्राणायाम के अभ्यास करने की अपेक्षा नहीं करता। प्रत्युत जिस-जिस देश में जो-जो प्राण वर्तमान है, उस-उस को वहां का वहीं सकृत् (=एकदम) झट से रोक देना चाहिये। अर्थात् तीसरे प्राणायाम को करते समय न तो प्राणों को बाहर निकालने, और न अपान को भीतर लेने की क्रिया करनी होती है। अतएव प्रथम और दूसरे प्राणायामों को सीखने और अभ्यास करने की कुछ अपेक्षा इस तीसरे प्राणायाम में नहीं होती। अर्थात् प्रथम और दूसरा प्राणायाम सीखे बिना भी तीसरा प्राणायाम सिखाया जा सकता है। परन्तु चौथा प्राणायाम बिना प्रथम और द्वितीय प्राणायामों के सीखे कदापि नहीं सीखा जा सकता। यही तीसरे और चौथे प्राणायामों की विलक्षणता है॥

जिन दो योगी महानुभावों की उपदिष्ट प्राणायामों की क्रिया ऊपर लिखी है, उन दोनों की विधियों में चौथे प्राणायाम की क्रिया के उपदेश में पूर्व के तीनों प्राणायामों का वर्णन भी पाया जाता है। सो इस अभिप्राय से है कि चारों प्राणायामों का भेद अच्छे प्रकार जताया जाकर इनकी विधियों में भ्रम न पड़े। क्योंकि प्राण और अपान इन दो प्राणों की ही गति के रोकने का प्रयत्न चारों में है।

आश्चर्य-दर्शन से चकित होकर योग के सिद्ध होने का निश्चय—

"यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति, तथैव कार्य-मित्यर्थः ॥" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ २०७ ॥

अर्थ—(यथा किमप्यद्भुतम्०) जिस प्रकार कोई अद्भुत वार्त्ता देखकर मनुष्य चकित हो जाता है, ऐसा तीव्र और प्रबल पुरुषार्थ इन प्राणायामों के अभ्यास करने में करना उचित है। अभिप्राय यह है कि चौथे प्राणायाम के सिद्ध हो जाने के पश्चात् जब निरन्तर (=अनध्याय-रहित) अधिक-अधिक देर तक समाधि का अनुष्ठान करते-करते कुछ काल व्यतीत होता है, तो मनुष्य को अपने जीवात्मा का ज्ञान होता है। तब चकित होकर बड़ा आश्चर्य-सा उत्पन्न होता है, जिसका वाणी द्वारा मनुष्य कुछ कथन नहीं कर सकता। तत्पश्चात् शीघ्र ही परमात्मा को भी वह मनुष्य विचार लेता है। तब तो अत्यन्त ही विस्मय-से में मनुष्य रह जाता है। अतः उपरोक्त संस्कृत-वाक्य से स्वामी जी का यही आशय है कि ऐसा प्रबल प्रयत्न करे, जिस से आत्मा और परमात्मा को जानकर मोक्ष प्राप्त हो॥

जीवात्मा भी एक अद्भुत पदार्थ है, जिसको अपना ज्ञान जब होता है, तब अति विस्मित होता है। जैसा कि अगली श्रुति में कहा है—

ओं न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यमुताधीतं विनश्यति॥

ऋक् म० १। सू० १७०। मन्त्र १॥

पदार्थ—[हे मनुष्याः!]हे मनुष्यो! (यत् अन्यस्य सञ्चरेण्यं=सम्यक् चरितुं ज्ञातुं योग्यम्, चित्तम्=अन्तःकरणस्य स्मरणात्मिकां वृत्तिम्, उत आधीतम्=आ समन्तात् धृतम्) जो औरों को अच्छे प्रकार से जानने योग्य चित्त अर्थात् अन्तःकरण को स्मरणात्मिका वृत्ति, और सब ओर से धारण किया हुआ विषय (न अभि विनश्यति) नहीं विनाश को प्राप्त होता, (न [अद्य भूत्वा] नूनम् अस्ति) न आज होकर निश्चित रहता है, (नो श्वः [च]) और न अगले दिन निश्चित रहता है, (तत् अद्भुतम् कः वेद) उस आश्चर्यस्वरूप के समान वर्त्तमान को कौन जानता है ? ॥

भावार्थ जो जीवरूप होकर उत्पन्न नहीं होता, और न उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त होता है, जो नित्य आश्चर्य गुण कर्म स्वभाव-वाला अनादि चेतन है, उसका जाननेवाला भी आश्चर्यस्वरूप होता है। अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही आश्चर्यस्वरूप हैं ॥

देवासुर–संग्राम

सत्यशास्त्रों के अनुकूल जो 'देवासुर-संग्राम' की कथा है, वह 'निरुक्त' तथा शतपथब्राह्मणादि[1] ग्रन्थों में रूपकालङ्कार से याथा-तथ्यतः वर्णन की गई है। वहां वास्तविक देव और असुरों का विवेचन करते समय मनुष्यों का मन और ज्ञान इन्द्रियां 'देवता' माने गये हैं। मन को राजा तथा इन्द्रियों को उसकी सेना माना है, और प्राणों का नाम 'असुर' रक्खा है। इस में राजा प्राण और अपानादि अन्य प्राण उसकी सेना में गिनाये हैं। इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है। मन का विज्ञान बल बढ़ाने से प्राणों का निग्रह=पराजय हो जाता है। यह उक्त कथा का आशय है।

ईश्वर प्रकाश के परमाणुओं से मन पञ्चज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग, तथा सूर्य आदि को रचता है। जो प्रकाश के परमाणुओं वा ज्ञानरूपी प्रकाश से युक्त होने के कारण 'सुर'=देव

१ द्र०—निरुक्त ३।८; १०।३४ तथा शत० ११।१।६।७-१२॥

कहाते हैं। और अन्धकार के परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण, और पृथिवी आदि लोकों को रचता है। जो प्रकाश-रहित होने के कारण 'असुर' कहाते हैं। उनका परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता है।

देवसंज्ञक मन तथा ज्ञानेन्द्रियगण, प्राणादि असुरों को जीतकर इनको अपने वश में करके अपना काम लेते हैं। किन्तु मृत्यु-समय प्राण जिनको 'यम' भी कहते हैं; प्रबल हो जाते हैं। तब ये ही यमगण मन इन्द्रिय आदि सहित जीवात्मा को उसके कर्मानुसार जिस-जिस स्थान में जाने का वह भागी होता है, वहां ले जाते हैं।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ३२८-३३२॥

वीर्याकर्षक प्राणायाम अर्थात् ऊर्ध्वरेता होने की विधि

योगमार्ग में प्रवृत्ति रखनेवाले जिज्ञासुओं के कल्याणार्थ दो प्राणायाम आगे और भी कहे जाते हैं। इनमें से एक का नाम **'वीर्याकर्षक वा वीर्यस्तम्भक प्राणायाम'**, और दूसरे का नाम **'गर्भ-स्थापक प्राणायाम'** जानो। उनकी विधि और फल क्रमशः नीचे लिखते हैं—

१. वीर्याकर्षक प्राणायाम - सामान्यविधि—प्रथम नाभि में ध्यान ठहरा कर ध्यान से ही अपानवायु को दक्षिण नासाछिद्र द्वारा उदर में भरे। और कुछ देर, अर्थात् जितनी देर सुखपूर्वक हो सके, उतनी देर वहीं ठहराकर वाम नासारन्ध्र से धीरे-धीरे बाहर निकाल कर जितनी देर सुखपूर्वक हो सके बाहर भी रोके। दूसरी बार वाम नासारन्ध्र द्वारा उसी प्रकार भरे रोके और दक्षिण नासिका छिद्र से बाहर छोड़ दे। इतनी क्रिया को एक प्राणायाम जानकर ऐसे-ऐसे कम से कम सात प्राणायाम करने से वीर्य का स्तम्भन और आकर्षण होने से वीर्य वृथा क्षय नहीं होता।

विशेषविधि—यह कोई नियम नहीं कि प्रथम दाहिने ही नथने से भरे और बायें से छोड़े। किन्तु नियम यह है कि किसी एक

नथने से भरे और दूसरे से छोड़े। अतः अपानवायु को भरते समय प्रथम नाभि में ध्यान ठहराकर एक नथने से अपानवायु उदर में भरे, फिर शीघ्रता से ध्यान से ही दोनों नथनों को बन्द कर दे, और जितना सामर्थ्य हो उतनी देर वहीं रोककर दूसरे नथने से धीरे-धीरे बाहर निकाल दे। जब तक कामदेव का वेग और इन्द्रिय शान्त न हो, तब तक यही क्रिया बारम्बार करता रहे। जब शान्त हो जाय, तब भी कुछ देर इस प्राणायाम को करता रहे, जिससे वीर्य ऊपर चढ़ जाने से शेष न रहने पावे।

फल—इस प्राणायाम के करने से प्रदर और प्रमेहादि से दुःखित स्त्रीपुरुष जिनका रज और वीर्य लघुशङ्का द्वारा बाहर निकल जाया करता है, और जिसके कारण के प्रतिदिन निर्बल होते जाते हैं, वह रज-वीर्य क्षय न होकर धातुक्षीण रोग जाता रहता है। अथवा जब कभी अकस्मात् कामोद्दीपन होकर तथा स्वप्नावस्था में सोते समय स्वप्न द्वारा रज वा वीर्य स्खलित हो जाने की शङ्का हो, तो सावधान और सचेत होकर झटपट उठकर तत्काल ही इस प्राणायाम के कर लेने से वीर्य अपने ठहरने के स्थान ब्रह्माण्ड में आकर्षित होकर ऊपर चढ़ जाता है, और इन्द्रिय शान्त होकर कामदेव का वेग शान्त हो जाता है, और उपासक योगी ऊर्ध्वरेता होता है। इस प्रकार सुरक्षित वीर्य की वृद्धि होकर शरीर में बल पराक्रम आरोग्य धैर्य और बुद्धि की वृद्धि होती है।

यह प्राणायाम वह सिद्ध कर सकता है कि जिसने प्रथम और द्वितीय प्राणायाम सिद्ध कर लिये हों।

परीक्षा—वीर्य चढ़ जाने की परीक्षा इस प्रकार की जाती है कि प्राणायाम कर चुकने पर उस ही समय लघुशङ्का करने में तार न आवे, तो जानो कि वीर्य का आकर्षण भली-भांति हो गया। जब स्त्री पुरुष के एकान्त सहवास आदि समयों में कामोद्दीपन अनवसर हो, उस समय भी इस प्राणायाम को करने से कामदेव का वेग रुक कर इन्द्रिय शान्त और वीर्य का आकर्षण होता है।

इस प्राणायाम की क्रिया में अपानवायु वीर्य का स्तम्भन करके बाहर नहीं निकलने देता, और प्राणवायु उतरे हुए वीर्य को ब्रह्माण्ड में चढ़ा ले जाता है। अतएव इसके दो नाम हैं—'वीर्याकर्षक प्राणायाम तथा वीर्यस्तम्भक प्राणायाम।'

२. गर्भस्थापक प्राणायाम अर्थात् गर्भाधान-विधि—वीर्यप्रक्षेप के समय पुरुष प्राणवायु को धीरे-धीरे ढीली छोड़े, और स्त्री अपानवायु का आकर्षण बलपूर्वक करे, यही 'गर्भस्थापन का प्राणायाम' है। परन्तु जो स्त्री और पुरुष दोनों जने प्राणायामादि योगक्रिया को जानते हों, वे ही इस प्रकार गर्भाधान-क्रिया कर सकते हैं, अन्य नहीं।

इस विधि से गर्भस्थापन करने पर यदि तीन ऋतुकालों में भी गर्भस्थिति न हो, तो जो-जो स्त्री वा पुरुष रोगी हों, वह अच्छे वैद्य से अपने रोग का निदान और चिकित्सा करावें। बन्ध्या स्त्री द्वारा कुछ भी उपाय नहीं हो सकता।

फल—इस प्राणायाम के करने से योगमार्ग में प्रवृत्त और सन्तानोत्पत्ति के अभिलाषी गृहस्थी जिज्ञासु की ऋतुदान-क्रिया व्यर्थ नहीं जाती, अर्थात् गर्भस्थिति अवश्य होती है। अतः उसके शरीर का वीर्य अनेक बार वृथा क्षीण न होने से पराक्रमादि यथावत् बने रहते हैं। और उसके संसार और परमार्थ दोनों साथ-साथ सिद्ध होते चले जाते हैं।

इस विषय की विस्तृत विधि स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत 'संस्कार-विधि' में देखो।

ओं या जामयो वृष्ण इच्छन्ति शक्तिं नमस्यन्तीर्जानते गर्भमस्मिन्।
अच्छा पुत्रं धेनवो वावशाना महश्चरन्ति बिभ्रतं वपूंषि॥
ऋक् म० ३। सू० ५७। मन्त्र ३॥

पदार्थ—(याः नमस्यन्तीः=ब्रह्मचारिण्यः जामयः=प्राप्तचतुर्विंशतिवर्षा युवतयः) जो सत्कार करती हुई चौबीस वर्ष की अवस्था को प्राप्त युवती ब्रह्मचारिणी स्त्रियां(वृष्णे=वीर्यसेचनसमर्थाय प्राप्त-

चत्वारिंशद्वर्षाय ब्रह्मचारिणे शक्तिम् इच्छन्ति) वीर्यसेचन में समर्थ चालीस वर्ष की आयु को प्राप्त ब्रह्मचारी के लिये सामर्थ्य की इच्छा करती हैं, और (अस्मिन् गर्भम् [धर्तुं] जानते) इस संसार में गर्भ के धारण करने को जानती हैं, ([ताः पतीन्] वावशानाः) वे पतियों की कामना करती हुईं (धेनवः वृषभान् इव महः वपूंषि बिभ्रतम् अच्छ' पुत्रं चरन्ति) विद्या और उत्तम शिक्षायुक्त वाणियों के सदृश वर्त्तमान गौएं जैसे वृषभों को, वैसे बड़े पूज्य रूपवाले शरीरों को धारण और पोषण करनेवाले श्रेष्ठ पुत्र को ग्रहण करती हैं ॥

भावार्थ—वे ही कन्याएं सुख को प्राप्त होती हैं कि जो अपने से दुगुने विद्या और शरीर बलवाले अपने सदृश प्रेमी पतियों की उत्तम प्रकार परीक्षा करके स्वीकार करती हैं। वैसे ही जो पुरुष लोग भी प्रेम-पात्र स्त्रियों को ग्रहण करते हैं, वे ही परस्पर प्रीतिपूर्वक अनुकूल व्यवहार से वीर्यस्थापन और आकर्षण विद्या को जान गर्भ को धारण, उस का उत्तम प्रकार पालन, तथा सब संस्कारों को करके बड़े भाग्य-वाले पुत्रों को उत्पन्न कर अतुल आनन्द और विजय को प्राप्त होते हैं, इससे विपरीत व्यवहार से नहीं ॥

प्राणायामों का फल

अगले दो सूत्रों में पूर्वोक्त चतुर्विध प्राणायामों का फल कहा है—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥१॥ योग० २।५२॥
किञ्च धारणासु च योग्यता मनसः ॥२॥ योग० २।५३॥
[ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० २०२, २०४] ॥

अर्थ—इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का ढकनेवाला आवरण जो अज्ञान है, वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है, और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है ॥१॥

अर्थ—इस अभ्यास से यह भी फल होता है कि परमेश्वर के

१. अच्छा=अच्छ, अत्र संहितायामिति दीर्घः ।

बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्ष-पर्यन्त उपासना-योग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है। तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है ॥२॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥३॥
मनु० ३।७२ [सत्यार्थ-प्रकाश, समु० ३, पृ० ६१] ॥

अर्थ—जैसे अग्नि में तपने से सुवर्ण आदि धातुओं का मल नष्ट होकर वे शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर वे निर्मल हो जाते हैं ॥३॥

'प्राणायाम ध्यानयोग का चौथा अङ्ग है'। आगे प्राणायाम का का फल श्रुतिप्रमाण द्वारा कहते हैं—

ओम् अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम्।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान ॥
य० अ० १९। मन्त्र ९० ॥

पदार्थ—([यथा] ग्रहाभ्याम् [सह])जैसे ग्रहण करानेहारों के साथ (सरस्वती बदरै उपवाकैर्जजान) प्रशस्त विज्ञानयुक्त स्त्री, बेरों के समान सामीप्यभाव किया जाय जिन से, उन कर्मों से उत्पत्ति करती है, ([तथा] वीर्याय नसि प्राणस्य अमृतः पन्थाः) उसी प्रकार जो वीर्य के लिये नासिका में प्राण का नित्य-मार्ग, वा (मेषः अविः न व्यानम् नस्यानि बर्हिः [उपयुज्यते]) दूसरे से स्पर्द्धा करनेवाला और जो रक्षा करता है उसके समान, सब शरीर में व्याप्त वायु नासिका के हितकारक धातु और बढ़ानेहारा उपयुक्त किया जाता है ॥

भावार्थ—जैसे धार्मिक न्यायाधीश प्रजा की रक्षा करता है, वैसे ही प्राणायामादि से अच्छे प्रकार सिद्ध किये हुए प्राण योगी की सब दुःखों से रक्षा करते हैं। जैसे विदुषी माता विद्या और अच्छी

शिक्षा से अपने संतानों को बढ़ाती है, वैसे ही अनुष्ठान किये हुए योग के अङ्ग योगियों को बढ़ाते हैं ॥

प्राणायाम करने से पूर्व इस चार प्रकार की वाणी को जानना आवश्यक है। जैसा कि निम्नलिखित मन्त्र में उपदेश है—

ओं वव्राजा सीमनदतीरदब्धा दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः।
सना अत्र युवतयः सयोनीरेकं गर्भं दधिरे सप्त वाणीः ॥१॥
ऋक् म० ३। सू० १। मं० ६॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् (सप्त वाणीः) सात वाणियों को (सीम्) सब ओर से (वव्राज) प्राप्त होता है, वैसे (अत्र) यहां (अनदतीः) अविद्यमान अर्थात् अतीव सूक्ष्म जिनके दन्त, (अदब्धाः) अहिंसनीय अर्थात् सत्कार करने योग्य, (दिवः) देदीप्यमान, (यह्वीः) बहुत विद्या और गुण स्वभाव से युक्त, (अवसानाः) समीप में ठहरी हुई, (अनग्नाः) सब ओर से आभूषण आदि से ढकी हुई, (सनाः) भोगनेवाली (सयोनीः) समान जिनकी योनि अर्थात् एक माता से उत्पन्न हुई—सगी, वे (युवतयः) प्राप्तयौवना स्त्री (एकम्) एक अर्थात् असहायक (गर्भम्) गर्भ को (दधिरे) धारण करती हैं, वे सुखी क्यों न हों ?॥१॥

भावार्थ—जो समान रूप स्वभाववाली स्त्रियां अपने-अपने समान पतियों को अपनी इच्छा से प्राप्त होकर परस्पर प्रीति के साथ सन्तानों को उत्पन्न कर, और उनकी रक्षा कर उनको उत्तम शिक्षा दिलाती हैं, वे सुखयुक्त होती हैं। जैसे परी पश्यन्ती मध्यमा वैखरी और कर्मोपासना-ज्ञान का प्रकाश करनेवाली तीनों मिलकर सात वाणी सब व्यवहारों को सिद्ध करती हैं, वैसे विद्वान् स्त्री-पुरुष धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध कर सकते हैं ॥२॥

पृक्षो वपुः पितुमान्नित्य आशये द्वितीयमा सप्तशिवासु मातृषु।
तृतीयमस्य वृषभस्य दोहसे दशप्रमतिं जनयन्त योषणः ॥२॥
ऋक म० १। सू० १४१। मन्त्र २॥

पदार्थ—(नित्यं) नित्य, (पितुमान्) प्रशंसित अन्नयुक्त मैं पहिले (पृक्षः) पूंछने कहने योग्य (वपुः) सुन्दर रूप का (आशये) आश्रय लेता अर्थात् आश्रित होता हूं। (अस्य) इस (वृषभस्य) यज्ञादि कर्मद्वारा जल वर्षानेवाले का मेरा (द्वितीयम्) दूसरा सुन्दर रूप (सप्त शिवासु) सात प्रकार की कल्याण करनेवाली (मातृषु) और मान्य करनेवाली माताओं के समीप (आ) अच्छे प्रकार वर्त्तमान, और (तृतीयम्) तीसरा (दशप्रमितिम्) दश प्रकार की उत्तम मिति जिसमें होती हैं, उस सुन्दर रूप को (दोहसे) कामों की परिपूर्णता के लिये (योषणः) प्रत्येक व्यवहारों को मिलानेवाली स्त्री (जनयन्त) प्रकट करती हैं ॥२॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो मनुष्य इस जगत् में सात प्रकार के लोकों में ब्रह्मचर्य से प्रथम, गृहाश्रम से दूसरे, और वानप्रस्थ और संन्यास से तीसरे कर्म और उपासना के विज्ञान को प्राप्त होते हैं, वे दश इन्द्रियों और दश प्राणों के विषयक, तथा मन बुद्धि चित्त अहंकार और जीव के विज्ञान को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

कर्म उपासना करके फिर दश इन्द्रियों का ज्ञान होता है, फिर दश प्राणों का, फिर मन का, फिर बुद्धि का, फिर चित्त का, फिर अहंकार और जीव के ज्ञान को प्राप्त होता है। इनको जानना आवश्यक है। इसके पश्चात् परमात्मा के जानने का जीव को सामर्थ्य प्राप्त होता है।

निर्यदीं बुध्नान्महिषस्य वर्पस ईशानासः शवसा क्रन्त सूरयः।
यदीमनु प्रदिवो मध्व आधवे गुहा सन्तं मातरिश्वा मथायति ॥३॥

पदार्थ—(यत्) जो (ईशानासः) ऐश्वर्ययुक्त (सूरयः) विद्वान् जन (शवसा) बल से, जैसे (आधवे) सब ओर से अन्न आदि के अलग करने के निमित्त (मातरिश्वा) प्राणवायु जठराग्नि को (मथायति) मथता है, वैसे (महिषस्य) बड़े (वर्पसः) रूप अर्थात् सूर्य्यमण्डल के

सम्बन्ध में स्थित (बुघ्नात्) अन्तरिक्ष से (ईम्) इस प्रत्यक्ष व्यवहार को (अनुक्रन्त) अनुक्रम से प्राप्त हों। वा (मघ्वः) विशेष ज्ञानयुक्त (प्रदिवः) कान्तिमान् आत्मा के (गुहा) गुहाशय में अर्थात् बुद्धि में (सन्तम्) वर्तमान (ईम्) प्रत्यक्ष (यत्) जिस ज्ञान को (निष्क्रन्त) निरन्तर क्रम से प्राप्त हों, उससे वे सुखी होते हैं ॥३॥

भावार्थ—वे ही ब्रह्मवेत्ता विद्वान् होते हैं, जो धर्मानुष्ठान योगाभ्यास और सत्संग करके अपने आत्मा को ज्ञान परमात्मा को जानते हैं। और वे ही मुमुक्षुजनों के लिये इस ज्ञान को विदित कराने के योग्य होते हैं ॥३॥

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः।
को ह कस्मिन्नसि श्रितः ॥४॥ ऋ० म० १। सू० ७५। मं० ३ ॥

पदार्थ—हे (अग्ने) विद्वन्! (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (ते) आपका (कः) कौन मनुष्य (ह) निश्चय करके (जामिः) जाननेवाला है? (कः) कौन (दाश्वध्वरः) दान देने और रक्षा करनेवाला है? तू (कः) कौन है, और (कस्मिन्) किस में (श्रितः) आश्रित (असि) है? [इस सब बात का उत्तर दे] ॥४॥

भावार्थ—बहुत मनुष्यों में कोई ऐसा होता है कि जो परमेश्वर और अग्न्यादि पदार्थों को ठीक-ठीक जाने और जनावे। क्योंकि ये दो अत्यन्त आश्चर्य गुण कर्म और स्वभाववाले हैं ॥४॥

ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा।
नव्यंनव्यं तन्तुमा तन्वते दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदीतयः ॥५॥
ऋ० म० १। सू० १५६। मं० ४ ॥

पदार्थ—जो (सुप्रचेतसः) सुन्दर प्रसन्नचित्त, (मायिनः) प्रशंसित बुद्धि, वा (सुदीतयः) सुन्दर विद्या के प्रकाशवाले, (कवयः) विद्वान् जन, (समोकसा) समीचीन जिनका निवास (मिथुना) ऐसे दो (सयोनी) समान विद्या वा निमित्त (जामी) सुख भोगनेवालों को प्राप्त हो वा जानकर, (दिवि) बिजली और सूर्य के तथा (समुद्रे)

अन्तरिक्ष वा समुद्र के (अन्तः) बीच (नव्यंनव्यं) नवीन-नवीन (तन्तुम्) विस्तृत वस्तुविज्ञान को (ममिरे) उत्पन्न करते हैं, (ते) वे सब विद्या और सुखों का (आ तन्वते) अच्छे प्रकार विस्तार करते हैं ॥५॥

भावार्थ—जो मनुष्य आप्त अध्यापक और उपदेशकों को प्राप्त होकर विद्याओं को प्राप्त हों, वा भूमि और बिजली को जान, समस्त विद्या के कामों को हाथ में आंवले के समान साक्षात् कर औरों को उपदेश देते हैं, वे संसार को शोभित करनेवाले होते हैं ॥५॥

जो ब्रह्मविद्या गुरुलक्ष्य है, वह पुस्तकों में देखने से नहीं आती। पुस्तकों का पढ़ना-लिखना आवश्यक है, क्योंकि गुरुजन इन पुस्तकों के ही प्रमाणां से शिष्यों को उपदेश करते हैं। जैसे हाथ पर आंवला रक्खा होता है, इसी प्रकार गुरुजन यथार्थ बोध करा सकते हैं। अब भी जिन पुरुषों ने सद्गुरुओं से सीखा है, वे औरों को सिखा सकते हैं, और यह सबको आवश्यक है।

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय।
अप नः शोशुचदघम् ॥६॥ ऋ० म० १। सू० ९७। मं० ७॥

पदार्थ—हे (विश्वतोमुख) सबसे उत्तम ऐश्वर्य से युक्त परमात्मन्! आप (नावेव) जैसे नाव से समुद्र के पार हों, वैसे (नः) हम लोगों को (द्विषः) जो धर्म से द्वेष करनेवाले अर्थात् उससे विरुद्ध चलनेवाले हैं, उनसे (अति पारय) पार पहुंचाइये। और (नः) हम लोगों के (अघम्) शत्रुओं से उत्पन्न हुये दुःख को (अप शोशुचत्) दूर कीजिये ॥६॥

भावार्थ—जैसे न्यायाधीश नाव में बैठकर समुद्र के पार वा निर्जन जङ्गलों में डाकुओं को रोकके प्रजा की पालना करता है, वैसे ही अच्छे प्रकार उपासना को प्राप्त हुआ ईश्वर अपनी उपासना करनेवालों के काम क्रोध लोभ मोह भय शोकरूपी शत्रुओं को शीघ्र निवृत्त कर जितेन्द्रियपन आदि गुणों को देता है ॥६॥

त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः ।
अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय ॥७॥
ऋ० म० २। सू० २७। मं० ६॥

पदार्थ—जो (हिरण्ययाः) तेजस्वी, (धारपूताः) विद्या और उत्तम शिक्षा से जिनकी वाणी पवित्र हुई, वे (शुचयः) शुद्ध पवित्र, (उरुशंसाः) बहुत प्रशंसावाले, (अस्वप्नजः) अविद्यारूप निद्रा से रहित, विद्या के व्यवहार में जागते हुवे, (अनिमिषाः) आलस्यरहित, और (अदब्धाः) हिंसा न करने के योग्य, अर्थात रक्षणीय विद्वान् लोग (ऋजवे) सरलस्वभाव (मर्त्याय) मनुष्य के लिये (त्री) तीन प्रकार के (दिव्या) शुद्ध दिव्य (रोचना) रुचियोग्य ज्ञान वा पदार्थों को (धारयन्त) धारण करते हैं, वे जगत् के कल्याण करनेवाले हों ॥७॥

भावार्थ—जो मनुष्य जीव प्रकृति और परमेश्वर की तीन प्रकार की विद्या को धारण कर दूसरे को देते हैं, और सब को अविद्यारूप निद्रा से उठाके विद्या में जगाते हैं, वे मनुष्यों के मङ्गल करनेवाले होते हैं ॥७॥

ओष्ठाविव मध्वास्ने वदन्ता स्तनाविव पिप्यतं जीवसे नः ।
नासेव नस्तन्वो रक्षितारा कर्णाविव सुश्रुता भूतमस्मे ॥८॥
ऋ० म० २। सू० ३९। मं० ६॥

पदार्थ—हे विद्वानो ! तुम, जो (आस्ने) मुख के लिये (मधु) मधुर रस को (ओष्ठाविव) ओष्ठों के समान (वदन्ता) कहते हुए, (जीवसे) जीवन को (स्तनाविव) स्तनों के समान (नः) हमारे लिये (पिप्यतम्) बढ़ाते, अर्थात् जैसे स्तनों में उत्पन्न हुये दुग्ध से जीवन बढ़ता है, वैसे बढ़ाते हो, (नासेव) और नासिका के समान (नः) हमारे (तन्वः) शरीर की (रक्षितारा) रक्षा करनेवाले, वा (अस्मे) हम लोगों के लिये (कर्णाविव) कर्णों के समान (सुश्रुता) जिन से सुन्दर श्रवण होता है ऐसे, (भूतम्) होते हैं, उन वायु और अग्नि को विदित कराइये ॥८॥

भावार्थ—जो अध्यापक जिह्वा के रस के समान, स्तनों से दुग्ध के समान, नासिका से गन्ध के तुल्य, कान से शब्द के समान समस्त विद्याओं को प्रत्यक्ष कराते हैं, वे जगत्-पूज्य होते हैं ॥८॥

जिस प्रकार जिह्वा रस को प्रत्यक्ष करती हैं, और नासिका गन्ध को, और दूध को स्तनों से, और शब्द कान से, इसी प्रकार इन इन्द्रियों को गुरुजन प्रत्यक्ष करावें। और फिर जीव को और फिर परमात्मा को प्रत्यक्ष करावें। तब शिष्य को ज्ञान होना सम्भव है। इसी प्रकार ऋषि लोग पहले प्रयत्न कराया करते थे, और जिन्होंने गुरु से विद्या सीखी है वह अब भी प्रत्यक्ष कराते हैं। तब मनुष्य का जीवन-मरण का भय छूटता है, और मुक्ति के सुख को प्राप्त होता है। इसके लिये सब जीवों को पुरुषार्थ करना चाहिये। और आर्य लोगों को तो अवश्य जानना योग्य है, क्योंकि इन पर जगत् का उपकार करने का भार है।

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥९॥

ऋ० म० ५। सू० ४०। मं० ५॥

पदार्थ—(सूर्य) हे सूर्य के सदृश वर्त्तमान ! (यथा) जैसे (अक्षेत्रवित्) क्षेत्र अर्थात् रेखागणित को नहीं जाननेवाला (मुग्धः) मूर्ख कुछ भी नहीं कर सकता है, वैसे (यत्) जो (स्वर्भानुः) प्रकाशित होनेवाला बिजलीरूप, (आसुरः) जिसका प्रकट रूप नहीं, वह (तमसा) रात्रि के अन्धकार से (अविध्यत्) युक्त होता है। जिस सूर्य से (भुवनानि) लोक (अदीधयुः) देखे जाते हैं, उसके जाननेवाले (त्वा) आपका हम लोग आश्रयण करें ॥९॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे बिजली गुप्त हुई अन्धकार में नहीं प्रकाशित होती है, और जैसे सूर्य के प्रकाश से सम्पूर्ण लोक प्रकाशित होते हैं, वैसे ही विद्वान् का आत्मा संपूर्ण सत्य और असत्य व्यवहारों को प्रकाशित करता है ॥९॥

आ घर्णसिर्बृहद्दिवो रराणो विश्वेभिर्गन्त्वोमभिर्हुवानः ।
ग्ना वसान ओषधीरमृध्रस्त्रिधातुश्रृङ्गो वृषभो वयोधाः ॥१०॥
ऋ० म० ५ । सू० ४३ । मं० १३ ॥

पदार्थ—हे विद्वान् ! जैसे (घर्णसिः) धारण करनेवाला, (बृहद्दिवः) बड़े प्रकाश का (रराणः) दान करता हुआ, (विश्वेभिः) सम्पूर्ण (ओमभिः) रक्षण आदि के करनेवालों के साथ (हुवानः) ग्रहण करता, और (ग्नाः) वाणियों को (वसानः) आच्छादित करता हुआ, (ओषधीः) सोमलतादि का (अमृध्रः) नहीं नाश करनेवाला, (त्रिधातुश्रृंगः) तीन धातु अर्थात् शुक्ल रक्त कृष्ण गुण हैं शृंगों के सदृश जिसके, और (वयोधाः) सुन्दर आयु को धारण करनेवाला (वृषभः) वृष्टिकारक सूर्य संसार का उपकारी है, वैसे ही आप संसार के उपकार के लिये (आगन्तु) उत्तम प्रकार प्राप्त हूजिये ॥१०॥

भावार्थ—जो विद्वान् तीन गुणों से युक्त प्रकृति के जानने, वाणी के जानने, नहीं हिंसा करने, ओषधियों से रोगों के निवारने, और ब्रह्मचर्य आदि के बोध से अवस्था के बढ़ानेवाले होते हैं, वही संसार के पूज्य होते हैं ॥१०॥

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन् ॥११॥
ऋ० म० ५ । सू० ४० । मं० ९ ॥

पदार्थ—हे विद्वानो ! (स्वर्भानुः) सूर्य से प्रकाशित (आसुरः) मेघ ही (तमसा) अन्धकार से (यम्) जिस (सूर्यम्) सूर्य को (अविध्यत्) ताड़ित करता है, (तम्) उसको (वै) निश्चय करके (अत्रयः) विद्या के दक्षजन (अनु अविन्दन्) अनुकूल प्राप्त होवें । (नहि) नहीं (अन्ये) अन्य इसके जानने को (अशक्नुवन्) समर्थ होवें ॥ ११ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे मेघ सूर्य को ढांपके अन्धकार उत्पन्न करता है, वैसे ही अविद्या आत्मा का आवरण करके अज्ञान

को उत्पन्न करती है। और जैसे सूर्य मेघ का नाश और अन्धकार का निवारण करके प्रकाश को प्रकट करता है, वैसे ही प्राप्त हुई विद्या अविद्या का नाश करके विज्ञान के प्रकाश को उत्पन्न करती है। इस विवेचन को विद्वान् जन जानते हैं, अन्य नहीं ॥११॥

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥१२॥
ऋ० म० ६। सू० ४७। मं० १८॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! जो (इन्द्रः) जीव (मायाभिः) बुद्धियों से (प्रतिचक्षणाय) प्रत्यक्ष कथन के लिये (रूपंरूपम्) रूप-रूप के (प्रतिरूपः) प्रतिरूप, अर्थात् उसके स्वरूप से वर्त्तमान (बभूव) होता है, और (पुरुरूपः) बहुत शरीर धारण करने से अनेक प्रकार (ईयते) पाया जाता है, (तत्) वह (अस्य) इसी शरीर का (रूपम्) रूप है। और जिस (अस्य) इस जीवात्मा के (हि) निश्चय करके (दश) दश संख्या से विशिष्ट, और (शता) सौ संख्या से विशिष्ट (हरयः) घोड़ों के समान इन्द्रिय अन्तःकरण और प्राण (युक्ताः) युक्त हुए शरीर को धारण करते हैं, वह इसका सामर्थ्य है ॥१२॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे बिजली पदार्थ-पदार्थ के प्रति तद्रूप होती है, वैसे ही जीव शरीर-शरीर के प्रति तत्स्वभाववाला होता है। और जब वह बाह्यविषय के देखने की इच्छा करता है, तब उस को देखके तत्स्वरूपज्ञान इस जीव को होता है। और जो जीव के शरीर में बिजली के सहित असंख्य नाड़ी हैं, उन नाड़ियों से सब शरीर के समाचार को जानता है ॥१२॥

जो विद्वान् योगविद्या के जाननेवाले हैं, उनका हृदयाकाश में स्थित जीवात्मा यथायोग्य ध्यानरूप बिजली से काम लेता है। और जो इस विद्या को नहीं जानते, वह इस बिजली को नहीं जानते, और न उससे यथायोग्य काम ले सकते हैं। इसलिये सब जीवमात्र को, और आर्यों को विशेषकर उचित है कि इस बिजलीरूपी विद्या को

जानकर यथायोग्य सब को जनावें, और श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के परिश्रम को सफल करें। जिनके उद्योग से वेद-विद्या के दर्शन हम लोगों को हुए, जो नाममात्र वेदों से अज्ञात थे।

[५] प्रत्याहार

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ यो० पा० २। सू० ५४ ॥

अर्थ—अपने विषय का असम्प्रयोग अर्थात् अनुष्ठान न करके चित्त के स्वरूप के समान जो इन्द्रियों का भाव है, उस ध्यानावस्थित शान्त वा निरुद्धावस्था को 'प्रत्याहार' कहते हैं ॥

अर्थात् जिस में चित्त इन्द्रियों के सहित अपनें विषय को त्यागकर केवल ध्यानावस्थित हो जाये, उसे 'प्रत्याहार' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जब चित्त विषयों के चिन्तन से उपरत होकर स्वस्थ हो जाता है, तब इन्द्रियां भी चञ्चलता-रहित होकर अपने-अपने विषयों की ओर नहीं जातीं। अर्थात् चित्त की निरुद्धावस्था के तुल्य इन्द्रियां भी शान्त और स्वस्थ वृत्ति को प्राप्त हो जाती हैं।

भावार्थ—'प्रत्याहार' उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है ॥

प्रत्याहार को ही 'अपरिग्रह', 'शम-दम', और 'इन्द्रियनिग्रह' कहते हैं। 'प्रत्याहार ध्यानयोग का पांचवां अंग' है।

प्रत्याहार का फल

अगले सूत्र में प्रत्याहार का फल कहते हैं—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ यो० पा० २। सू० ५५ [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ २०३, २०४] ॥

अर्थ—उक्त प्रत्याहार से इन्द्रियां अत्यन्त ही वश में हो जाती हैं ॥

तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहिये, उसी में ठहरा वा चला सकता है। फिर उसको

ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं। और तब ही मोक्ष का भागी होता है। इस प्रकार मोक्ष के साधनों में तत्पर मनुष्य मुक्त हो जाता है।

मोक्ष का भागी बनने की योग्यता प्राप्त करनेवाले को मोक्ष के साधनों का ज्ञान और उनका यथावत् आचरण करना उचित है। अतएव आगे प्रथम 'मोक्ष के साधन' बताकर पश्चात् धारणादि शेष योगाङ्गों की व्याख्या तीसरे अध्याय में की जायगी।

'साधन-चतुष्टय' अर्थात् मुक्ति के चार साधन

[द्र०—सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास, पृष्ठ ३५९-३६३]

[१] **मुक्ति का प्रथम साधन=विवेक**—योगाभ्यास मुक्ति का साधन है। अतः यह 'ध्यानयोगप्रकाशाख्य' ग्रन्थ आद्योपान्त योगमार्ग का यथावत् प्रकाश करनेहारा होने के कारण मोक्षसाधक ही है। इसलिये ग्रन्थारम्भ से लेकर जो कुछ उपदेशरूप से अब तक वर्णन हो चुका है, और जो आगे कहेंगे, उसके अनुसार अपना आचरण और अभ्यास करने से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

आगे मुक्ति के विशेष उपाय कहे जाते हैं—जो मनुष्य मुक्त होना चाहे, वह उन मिथ्याभाषणादि पापकर्मों को, जिनका फल दुःख है, छोड़ दे। और सुखरूप फल देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे। अर्थात् जो कोई दुःख को छुड़ाना और सुख को प्राप्त होना चाहे, वह अधर्म को छोड़कर धर्म अवश्य करे। क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है।

'विवेक मुक्ति का प्रथम साधन है।' सत्पुरुषों के संग से पृथिवी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव को जानकर उस परमेश्वर की आज्ञापालन और उपासना में 'ध्यानयोग' द्वारा तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना 'विवेक' कहाता है। अर्थात् सत्यासत्य धर्माधर्म कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करे, और पृथक्-पृथक् जाने। और स्वशरीरान्तर्गत 'पञ्च-

कोश' का विवेचन करे। सो 'श्रवण चतुष्टय' अर्थात् (क) श्रवण, (ख) मनन, (ग) निदिध्यासन, और (घ) साक्षात्कार द्वारा यथावत् होता है। जिसकी व्याख्या नीचे लिखी है—

(क) श्रवण-चतुष्टय—१. श्रवण जब कोई आप्त विद्वान् उपदेश करे, तब शांतचित्त होकर तथा ध्यान देकर सुनना चाहिये। विशेषतः ब्रह्मविद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये। क्योंकि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म है। उस सुने हुये को याद भी रक्खे। इस प्रकार सुनने को 'श्रवण' कहते हैं।

२. मनन—एकांत देश में बैठकर उन सुने हुए विषयों वा उपदेशों का विचार करना। जिस बात में शङ्का हो, उस को पुनः-पुनः पूछना, और सुनने के समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझें, तो प्रश्नोत्तर द्वारा समाधान करें। इस प्रकार निर्णय करने को 'मनन' कहते हैं।

३. निदिध्यासन—जब सुनने और मनन करने से कोई संदेह न रहे, तब ध्यानयोग से समाधिस्थ बुद्धि द्वारा उस बात को देखना और समझना कि वह जैसा सुना वा विचारा था वैसा ही है वा नहीं? इस प्रकार निश्चय करने को 'निदिध्यासन' कहते हैं।

४. साक्षात्कार—अर्थात् जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप गुण और स्वभाव हो, उसको वैसा ही याथातथ्य जान लेना 'साक्षात्कार' कहाता है।

(ख) पञ्चकोश-व्याख्या—आगे 'पञ्चकोशों' का वर्णन कहते हैं। 'कोश' कहते हैं भण्डार=ख़ज़ाने को, अर्थात् जिन पांच प्रकार के समुदायों से यह शरीर बना है, वे 'कोश' कहाते हैं। उन में से—

प्रथम सब से स्थूल—अन्नमय कोश है।
दूसरा उससे सूक्ष्म—प्राणमय कोश है।
तीसरा उससे सूक्ष्म—मनोमय कोश है।
चौथा उससे सूक्ष्म—विज्ञानमय कोश है।

पांचवां सब से सूक्ष्म—आनन्दमय कोश है।

१. अन्नमयकोश—इनमें से 'अन्नमय कोश' सबसे स्थूल हैं, जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। इसमें संयम करने से समस्त देह के रोम-रोम तक का यथावत् ज्ञान प्राप्त होता है।

संयम करने की विधि यह है कि—समग्र शरीर में शिर से लेकर नखपर्यन्त सम्पूर्ण त्वचा मांस रुधिर अस्थि मेदा आदि से बने शरीर की सब भिन्न-भिन्न नाड़ियों में पृथक्-पृथक् विभाग से एक साथ ही विस्तृत=फैला हुआ ध्यान ठहरावे। [द्र०—य० अ० १२। मं० ६७; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १७९-१८०]

२. प्राणमय कोश—दूसरा 'प्राणमय कोश' है, जिसमें पांच ५ प्राण मुख्य हैं। अर्थात् (क) प्राण, (ख) अपान, (ग) समान, (घ) उदान, और (ङ) व्यान।

पांचों प्राणों के कर्म—(क) 'प्राणवायु' वह है जो हृदय में ठहरता है, और भीतर से सात छिद्रों=१ मुख, २ नासिकाछिद्र, २ आंख, २ कान द्वारा बाहर निकलता, और भीतर के गन्दे परमाणु बाहर फेंकता है। जब प्रथम प्राणायाम की प्रथम धारणा ब्रह्माण्ड में प्राणवायु को स्थिर करके अभ्यास करते-करते परिपक्व हो जाती है, तब धातुक्षीण=प्रदर और प्रमेह रोग नष्ट हो जाते हैं, और पुरुष का वीर्य गाढ़ा होकर बरफ के तुल्य जमता है। और स्त्री के रज का विकार भी दूर होता है। तथा जठराग्नि प्रबल प्रदीप्त होकर पाचनशक्ति की वृद्धि होती है। विष्टब्धरोग विनष्ट होता है। स्वप्नावस्था में जब स्वप्नद्वारा अपानवायु वीर्य को गिराने लगता है, तब प्राणवायु तत्क्षण ही जल्दी से योगी को जगाकर रक्षा करता है। अर्थात् उस समय योगी जागकर 'वीर्यस्तम्भक' प्राणायाम करले, तो वीर्य ऊपर ब्रह्माण्ड में चढ़ जाता है। फिर वहां प्राणवायु द्वारा धारण करने से वीर्य ब्रह्माण्ड में हिमवत् गाढ़ा होकर जम जाता है। अर्थात् प्राणवायु से वीर्य का आकर्षण और पुष्टि होती है।

(ख) 'अपानवायु' वह है, जो नाभि में ठहरता है, और बाहर से भीतर आता है। वह शुद्ध वायु को भीतर लाता है, और गन्दा वायु तथा मलमूत्र को गुदा और उपस्थेन्द्रिय द्वारा बाहर गिराता है वीर्य को स्त्री गर्भाधान-समय इस अपानवायु से ही ग्रहण करती है। इसके अशुद्ध होने से गर्भस्थिति नहीं होती। वीर्य चढ़ाने का प्राणायाम अपान से किया जाता है। प्रातःकाल में शौच जाने से पूर्व योगी को दूसरा प्राणायाम, जिससे कि अपानवायु नाभि के नीचे फेरा जाता है, अवश्यमेव करना चाहिये। क्योंकि इसके करने से मल झड़ता है। अपानवायु गन्दे रुधिर को भी गुदा द्वारा बाहर फेंक देता है। अपानवायु से वीर्य का स्तम्भन होता है, और प्राणवायु से वीर्य का आकर्षण होता है।

[ग] 'समान'वायु' वह है, जो हृदय से लेकर नाभिपर्यन्त के अवकाश में ठहरता है, और शरीर में सर्वत्र रस पहुंचाता है। अर्थात् भोजन किये अन्न-जल को पचाकर तथा रस बनाकर अस्थि मेदा मज्जा चर्म बनानेवाली नाड़ियों को पृथक्-पृथक् विभाग से देता है। और भुक्त अन्नादि का ४० दिन पश्चात् समान वायु द्वारा ही वीर्य बनता है।

[घ] 'उदान वायु' वह है, जो कण्ठ में ठहरता है, और जिससे कण्ठस्थ अन्न-पान भीतर को खींचा जाता, और बल पराक्रम होता

१. योगी को उचित है कि भोजन के एक घण्टे के उपरान्त, अर्थात् जब कि समानवायु भोजन किये हुए पदार्थ को समेटकर गोलाकार सा बना ले, और उसको पचाने और रस बनानेवाली क्रिया का आरम्भ करे, उस समय डकार के आने से जान लेना चाहिये कि जल पीने की आवश्यकता और अवसर है, और तब प्यास भी लगती है। तब जल पिया करे, और ऐसा ही अभ्यास करले। अथवा आवश्यकता जान पड़े, तो भोजन के मध्य में जल पीना उचित है, किन्तु पश्चात् कम से कम एक घण्टे के उपरान्त ही जल पीना चाहिये।

है। अर्थात् खाये-पिये पदार्थों को कण्ठ से नीचे की ओर खींच कर समान वायु को सौंप देता है। इसको 'यम' भी कहते हैं। क्योंकि मरण-समय यह अन्न-पान ग्रहण करने का काम नहीं करता। और मृत-प्राणी के जीवात्मा को उसके कर्मों के अनुसार यथायोग्य भोगों के स्थान में पहुंचा देता है। सोते समय यह सत्त्वगुणी गाढ़ निद्रा में परमात्मा के आधार में जीवात्मा को स्थित करता है, तब जीव को आनन्द होता है, जिसको वह नहीं जानता कि ऐसा आनन्द किस कारण हुआ। समाधि में योगी का परमात्मा से मेल कराके उसके आधार में आनन्द प्राप्त करता है। तब यथावत् परमात्मा का ज्ञान होने से जो आनन्द होता है, वह वाणी से नहीं कहा जा सकता।

[ङ] 'व्यान वायु' वह है, जो शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहता है, और जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि सब कर्म जीव मन के संयोग से करता है। समान वायु द्वारा बनाया हुआ रस रुधिर होकर व्यान वायु द्वारा ही समस्त देह में भिन्न-भिन्न नाड़ियों द्वारा फिरता है।

आगे अन्नमय-कोश और प्राणमय कोश-विषयक उपनिषदों और वेदों के प्रमाण लिखते हैं—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समुन्नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥१॥ प्रश्नो० प्र० ३। मं० ५॥

अर्थ—गुदा और उपस्थेन्द्रिय में विण्मूत्र का त्याग करनेवाला 'अपानवायु' स्थित रहता है, जो बाहर से शुद्ध परमाणुओं को लाकर शरीर में प्रविष्ट करता है। चक्षु श्रोत्र मुख नासिका के सप्त द्वारों से निकलनेवाला 'प्राणवायु' स्वयं हृदय में स्थित रहता है, जो शरीर के गन्दे परमाणुओं को बाहर फेंकता है। प्राण और अपान दोनों के मध्य में 'समानवायु' स्थित है, जो खाये हुये अन्न को पचाता हुआ रसादि निकालकर समान विभाग से सब नाड़ियों में पहुंचाता है,

और सब धातुओं को बनाकर ठीक-ठीक अवस्थित करता है। और पचे हुवे अन्न से बने रसादि धातुओं के द्वारा ही देखना आदि विषय की प्रकाशक दीप्तियां अर्थात् इन्द्रियरूप मुख के ये सात द्वार समर्थ होते हैं ॥१॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥२॥ प्रश्नो० प्र० ३। मं० ६॥

अर्थ—हृदय में जीवात्मा रहता है। इस ही हृदय में एक सौ एक नाड़ियां हैं। उन १०१ मूल नाड़ियों में से एक-एक की सौ-सौ शाखा-नाड़ियां फूटती हैं। उन एक-एक शाखा-नाड़ियों की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा-नाड़ियां होती हैं। इन सब नाड़ियों में 'व्यान' नामी प्राण विचरता है।

अर्थात् शरीर में सर्वत्र फैली हुई जिन नाड़ियों में यहां 'व्यान-वायु' संचार करता है, उनकी संख्या इस मन्त्र में कही है। सो इस प्रकार जानो कि—

जो सम्पूर्ण मूल-नाड़ियां गिनाई गई हैं, वे हैं १०१। प्रत्येक मूल-नाड़ी की शाखा-नाड़ी हैं—सौ-सौ। अतः सब शाखा-नाड़ी हुई—१०१×१००=१०१०० (=दश हज़ार एक सौ)। और प्रत्येक शाखा-नाड़ी की प्रति-शाखा-नाड़ी है—बहत्तर बहत्तर सहस्र। अतः सब प्रतिशाखा-नाड़ी हुई—१०१००×७२०००=७२७२००००० =बहत्तर करोड़ और बहत्तर लाख। सम्पूर्ण मूल-नाड़ी शाखा-नाड़ी और प्रतिशाखा-नाड़ी मिल कर हुई—७२७२१०२०१ =बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हज़ार दो सौ एक ॥२॥

आदि में गिनाई हुई १०१ मूल-नाड़ियों की भी मूलनाड़ी सब में प्रधान एक ही है। उस प्रधान मूल-नाड़ी को 'सुषुम्णा-नाड़ी' भी कहते हैं, जो पांव से लेकर ब्रह्माण्ड में होती हुई नासिका के ऊपर भ्रमध्य के त्रिकुटी देश में इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में जा मिली

है। यह वही मूल-नाड़ी है, जिसके प्रथम प्राणायाम करते समय सीधी ऊपर को तनी हुई रहने से प्राणवायु नासिका के बाहर अधिक ठहरता है। इस ही नाड़ी के साथ हृदयस्थ एक देश में जीवात्मा का वास है। इन नाड़ी के साथ मन को संयुक्त करनेवाले योगीजन आत्मज्ञान को प्राप्त करते हैं। प्रधान मूल-नाड़ी यही है।

आगे प्रश्नोपनिषद् के प्रमाण द्वारा 'उदानवायु' का वर्णन करते हैं—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥३॥ प्रश्नो० प्र० ३। मं० ७॥

अर्थ—(अथ एकया) अब 'उदानवायु' का कृत्य कहते हैं कि जो उस एक मूलेन्द्रिय नाम की नाड़ी के साथ (ऊर्ध्व उदानः) शरीर के ऊपरवाले विभाग नाम कण्ठ देश में (पुण्येन पुण्यं लोकं नयति) पुण्य कर्म से जीवात्मा को स्वर्ग नाम सुख भोग की उत्तम सामग्री से युक्त उत्तम योनि वा रमणीय दिव्य स्थान=लोक को पहुंचाता है, और (पापेन पापम्) अधम योनि वा नरक रूप दुःख की सामग्री से युक्त स्थान में वेदोक्त ईश्वराज्ञा पालन से विरुद्ध=अधर्मयुक्त सकाम कर्मों के करने से जीवात्मा को ले जाता है। (उभाभ्यां मनुष्यलोकमेव) पाप-पुण्य दोनों के समान होने से मनुष्य-योनि को प्राप्त कराता है। अर्थात् उदान नामक प्राण ही लिङ्ग-शरीर के साथ जीवात्मा को शरीर से निकालता है, और शुभाशुभ कर्म के अनुसार मनुष्यादि योनि और स्वर्ग[1] नरक आदि भोग को प्राप्त कराता है ॥३॥

प्राणमय कोश में, अर्थात् जिस-जिस स्थान में जो-जो प्राण रहता है, उस-उस में पृथक्-पृथक् संयम करने से प्रत्येक प्राण तथा उस-उस

१. स्वर्ग-नरक कोई स्थानविशेष नहीं। ऐश्वर्य्य-भोग की सामग्री जिस से सुख प्राप्त होता है, अथवा मोक्ष का नाम 'स्वर्ग' है। इस ही प्रकार दुःख के भोगने की सामग्री का नाम 'नरक' है।

की चेष्टाओं का यथावत् ज्ञान होता है। आगे इसी विषय में वेद के प्रमाण कहे जाते हैं—

ओम् इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः।
सुते दधिष्व नश्चनः॥ १॥ ऋक् म० १। सू० ३। मं० ६॥

अनेन मन्त्रेणेश्वरेणेन्द्रशब्देन वायुरुपदिश्यते=इस मन्त्र में ईश्वर ने 'इन्द्र' शब्द से भौतिक वायु=प्राणों का उपदेश किया है—

पदार्थ—(हरिवः) जो वेगादिगुणयुक्त, (तूतुजानः) शीघ्र चलनेवाला (इन्द्रः) भौतिक वायु है, वह (सुते) प्रत्यक्ष उत्पन्न वाणी के व्यवहार में (नः ब्रह्माणि) हमारे लिये वेद के स्तोत्रों को (आयाहि) अच्छे प्रकार प्राप्त कराता है। तथा वह (नः चनः) हम लोगों के अन्नादि व्यवहार को (दधिष्व) धारण करता है॥१॥

भावार्थ—जो शरीरस्थ प्राण है, वह सब क्रिया का निमित्त होकर खाना-पीना पचाना, ग्रहण करना और त्यागना आदि क्रियाओं से कर्म को करानेवाला, तथा शरीर में रुधिर आदि धातुओं के विभागों को जगह-जगह पहुंचानेवाला है। क्योंकि वही प्राण शरीर आदि की पुष्टि वृद्धि और क्षय नाम नाश का हेतु है॥१॥

ओम् अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम्॥ २॥ य० अ० ३। मन्त्र ७॥

पदार्थ—(या अस्य=अग्नेः) जो इस अग्नि की (प्राणात्=ब्रह्माण्डशरीरयोर्मध्ये ऊर्ध्वगमनशीलात्) ब्रह्माण्ड और शरीर के बीच में ऊपर की ओर जाने के स्वभाववाले वायु से (अपानती=अपानमधोगमनशीलं वायुं निष्पादयन्ती विद्युत्) नीचे की ओर जानेवाले स्वभाववाले वायु को उत्पन्न करती हुई (रोचना=दीप्तिः) प्रकाशरूपी बिजली (अन्तः=शरीरब्रह्माण्डयोर्मध्ये) शरीर और ब्रह्माण्ड के मध्य में (चरति=गच्छति) चलती है, (महिषः=स्वगुणैर्महान्) वह अपने गुणों से बड़ा अग्नि (दिवम्=सूर्यलोकम्) सूर्यलोक को (व्यख्यत्=वि=विविधार्थे अख्यत्=ख्यापयति) विविध प्रकार से प्रकट करता है॥२॥

भावार्थ—मनुष्य को जानना चाहिये कि विद्युत् नाम से प्रसिद्ध सब मनुष्यों के अन्तःकरण में रहनेवाली जो अग्नि की कान्ति है, वह प्राण और अपान वायु के साथ युक्त होकर प्राण अपान अग्नि और प्रकाश आदि चेष्टाओं के व्यवहारों को प्रसिद्ध करती है ॥२॥

यजुर्वेद के तीसरे अध्याय के आरम्भ से अग्नि=बिजली का वर्णन है। इस सातवें मन्त्र में ईश्वर ने उपदेश किया है कि वही बिजलीरूप भौतिकाग्नि शरीरस्थ प्राणों को प्रेरणा करती है। अभिप्राय यह है कि जितने शरीर के भीतर और बाहर के व्यवहार तथा इन्द्रियादि की चेष्टायें हैं, वह सब बिजली से ही सिद्ध होती हैं। इसी नियम के अनुसार योगाभ्यास-सम्बन्धी प्राणायामादि क्रियायें भी 'ध्यान' नाम बिजली बिना नहीं हो सकतीं। नाक को हाथ से दबाने आदि की कुछ आवश्यकता नहीं।

ओं वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः।
ते अग्रेऽश्वमयुञ्जंस्ते अस्मिन् जवमादधुः ॥३॥

य० अ० ९। मं० ७॥

पदार्थ—[ये विद्वांसः] जो विद्वान् लोग (वातः वा) वायु के समान, तथा (मनः वा) मन के समतुल्य ([यथा] सप्तविंशतिः) जैसे सत्ताईस (गन्धर्वाः=ये वायव इन्द्रियाणि च धरन्ति ते) वायु इन्द्रिय और भूतों के धारण करनेहारे (अस्मिन्=जगति) इस जगत् में (अग्रे) पहिले नाम सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए हैं, और (अश्वम् अयुञ्जन्=व्यापकत्ववेगादिगुणसमूहम् युञ्जन्ति) व्यापकता और वेगादि गुणसमूहों को संयुक्त करते हैं, (ते=ते खलु) वे ही लोग (जवम्=वेगम्) वेग को (आ अदधुः=आ समन्तात् धरन्ति) सब ओर से धारण करते हैं ॥३॥

भावार्थ—एकादश प्राण, अर्थात् एक तो समष्टिवायु नाम सूत्रात्मा, तथा प्राण अपान व्यान उदान समान नाग कूर्म कृकल देवदत्त और धनञ्जय, और बाहरवां मन, तथा मन के साथ श्रोत्रादि

दश इन्द्रिय और पांच सूक्ष्मभूत, ये सब मिलकर २७ सत्ताईस पदार्थ ईश्वर ने इस जगत् में पहिले रचे हैं। जो पुरुष इनके गुण कर्म और स्वभाव को ठीक-ठीक जानकर यथायोग्य कार्यों में संयुक्त करता है, वही ब्रह्मविद्या का अधिकारी है, अर्थात् उसको सीख सकता है ॥३॥

इसी आशय को लक्ष्य में धरके मुक्ति के साधनरूप इन विषयों का प्रथम वर्णन किया है। क्योंकि आगे धारणादि अवशिष्ट योगाङ्गों के अनुष्ठान से इन सब का यथार्थज्ञान प्राप्त करना होगा। 'धनञ्जय वायु' में संयम करने से आयु बढ़ती है।

३. मनोमय कोश—तीसरा 'मनोमय कोश' है, जिसमें मन के साथ अहंकार, तथा वाक् पाद पाणि पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। इसमें संयम करने से अहङ्कारसहित सकल कर्मेन्द्रियां और उनकी शक्तियों का ज्ञान होता है।

४. विज्ञानमय कोश—चौथा 'विज्ञानमय कोश' है, जिसमें बुद्धि चित्त तथा श्रोत्र त्वचा नेत्र जिह्वा और नासिका ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है। बुद्धि में संयम करने से विज्ञानमय कोश अर्थात् बुद्धि चित्त तथा समस्त ज्ञानेन्द्रियों और उनकी दिव्य शक्तियों का यथावत् ज्ञान होता है।

५. आनन्दमय कोश—पांचवां 'आनन्दमय कोश' है, जिसमें कि प्रीति प्रसन्नता आनन्द ,न्यून आनन्द अधिक आनन्द और, आधार कारणरूप प्रकृति है कि जिसके आधार पर जीवात्मा रहता है। जब जीवात्मा अपने स्वरूप में संयम करता है, तब उसको आनन्दमय कोश के सम्पूर्ण पदार्थों का पृथक्-पृथक् यथावत् ज्ञान होता है।

इन पांच कोशों से जीव सब प्रकार के कर्म उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।

(ग) अवस्थात्रय-वर्णन—आगे शरीर की अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। इस शरीर की तीन अवस्था हैं—(१) जाग्रत्, (२) स्वप्न, और (३) सुषुप्ति।

१. जाग्रत् अवस्था—जाग्रत् अवस्था दो प्रकार की है। एक तो वह है कि—जिसमें जागता हुआ मनुष्य भी विविध त्रिगुणात्मक संकल्प-विकल्पों में इस प्रकार फंसा रहता है, जैसे स्वप्नावस्था में भांति-भांति के सुपने देखता हुआ यह नहीं जानता कि मैं सोया हुआ हूं वा जागता हूं। इस जाग्रत् अवस्था को अविद्यारूपी निद्रा कहते हैं। क्योंकि जीव अपने आपे को भूला हुआ सा अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रखता। इस जाग्रत् अवस्था में रज वा विशेषतः तम प्रधान रहता है। दूसरी—शुद्ध सत्त्वमय जाग्रत् अवस्था होती है, जिसमें केवल सत्त्व ही प्रधान होता है। और तब जीव धर्माचरण की ओर झुकता है।

२. स्वप्न अवस्था—जाग्रत् और सुषुप्ति इन दोनों की सन्धि के समय को, जिसमें कि मनुष्य सोता हुआ स्वप्न देखता है, अर्थात् जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्य की दशा को **'स्वप्नावस्था'** कहते हैं। यह भी दो प्रकार की है। एक तो वह है कि—जिसमें जाग्रत् का अंश अधिक होने से स्वप्न ज्यों का त्यों याद बना रहता है। दूसरी वह है कि जिसमें सुषुप्ति का अंश अधिकतर रहने से स्वप्न पूरा-पूरा याद नहीं रहता।

३. सुषुप्ति अवस्था—गाढ़ वा गहरी निद्रा को, कि जिस में समाधि के सदृश मनुष्य अपने आपको भूला हुआ अचेत पड़ा सोता रहता है, उसे **'सुषुप्त्यवस्था'** कहते हैं। तथापि स्मृतिवृत्ति इस अवस्था में भी बनी रहती है। क्योंकि जब मनुष्य गाढ़ निद्रा से जागता है, तब कहता है कि मैं आनन्दपूर्वक सोया। स्मृति के बिना ऐसा अनुभव याद नहीं रह सकता। जाग्रत् अवस्था में संयम करने से तीनों अवस्थाओं का यथार्थ ज्ञान होता है।

(घ) शरीरत्रय—आगे शरीरत्रय का वर्णन करते हैं। जिस-जिस आधार के आश्रय जीवात्मा जन्म-मरण तथा मोक्ष में भी रहता है, उसको **'शरीर'** कहते हैं। सो बहुधा तीन प्रकार का माना

गया है । यथा—(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, और (३) कारण।

१. स्थूल शरीर—जो प्रत्यक्ष हाड़ मांस चाम का बना दृष्टि पड़ता, और मृत्यु समय में छूट जाता है, वह 'स्थूल शरीर' कहाता है।

२. सूक्ष्म शरीर—जो पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च सूक्ष्म भूत, मन और बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय जन्म-मरण आदि में भी जीव के साथ रहता है, वह 'सूक्ष्म शरीर' कहाता है। इसके दो भेद हैं—(क) भौतिक शरीर, और (ख) स्वाभाविक शरीर।

(क) 'भौतिक शरीर' वह कहाता है, जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है। (ख) 'स्वाभाविक शरीर' वह कहाता है जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप है। यह स्वाभाविक शरीर पूर्वोक्त पञ्चकोश और अवस्थात्रय से पृथक् है। और जीव जब अपने स्वरूप में संयम करता है, तब याथातथ्य जान लेता है कि मैं इन सबसे न्यारा हूं।

स्वाभाविक शरीर को इस दृष्टान्त से जानो कि जैसे किसी एक स्थान में रक्खे हुवे पिञ्जरे में एक पक्षी वास करता हो। इस ही प्रकार अस्थिचर्म-निर्मित शरीर मानो एक स्थान है। उसमें सत्तरह तत्त्वों का बना हुआ सूक्ष्म शरीर मानो एक पिंजरा है। उस पिंजरे में जो मुख्य जीव है, वही मानो एक पक्षी है।

इन भौतिक और स्वाभाविक शरीरों से बने सूक्ष्म शरीर से ही मुक्त हो जाने पर जीवात्मा सुख के आनन्द का भोग करता है, अर्थात् मुक्ति में जीव सूक्ष्म शरीर के आश्रय रहता है।

३. कारण शरीर—तीसरा 'कारण शरीर' वह है कि जिस में सुषुप्ति अवस्था अर्थात् गाढ़निद्रा होती है। वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिये एक है।

पूर्वोक्त तीन प्रकार के शरीरों से भिन्न एक चौथा 'तुरीय' नामक शरीर जीव का और भी है, कि जिस के आश्रय समाधि में परमात्मा के आनन्दस्वरूप में जीव मग्न होता है। इस ही समाधि-

संस्कारजन्य शुद्ध अवस्था का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है। इस में जीव केवल ईश्वर के आधार में रहता है। तुरीय शरीर को ही तुरीयावस्था भी कहते हैं।

इन सब कोश और अवस्थाओं से जीव पृथक् है। क्योंकि जब मृत्यु होती है, तब प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जीव इस स्थूल शरीर को छोड़कर चला जाता है। यही जीव इन सब का प्रेरक, सब का धर्त्ता, साक्षी कर्त्ता और भोक्ता कहाता है। जो कोई मनुष्य जीव को कर्त्ता भोक्ता न माने, तो जान लो कि वह अज्ञानी और अविवेकी है। क्योंकि बिना जीव के यह सब पदार्थ जड़ हैं। इन को सुख दुःखों का भोग वा पाप-पुण्य-कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता, किन्तु इन के सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुख-दुःखों का भोक्ता है।

अर्थात् जब इन्द्रियां अर्थों में, मन इन्द्रियों में, और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगता है, तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उस ही समय अच्छे कर्मों में भीतर से आनन्द उत्साह निर्भयता, और बुरे कर्मों में भय शंका लज्जा आदि उत्पन्न होती हैं। वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है। जो इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है, वही मुक्ति-जन्य सूखों को प्राप्त होता है। और जो विपरीत वर्त्तता है, वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।

यहां तक संक्षेप से मुक्ति का प्रथम साधन कहा। आगे दूसरा साधन कहा जाता है—

[२] मुक्ति का द्वितीय साधन—वैराग्य

मुक्ति प्राप्त करने का दूसरा साधन 'वैराग्य' है। वैराग्यवान् वा वीतराग होना रागादि-दोषों के त्यागने को कहते हैं। सो विवेकी पुरुष ही त्यागी वा वैरागी हो सकता है। अर्थात् भले-बुरे की पहिचान वा परीक्षा से निर्णय करके जो सत्य और असत्य जाना हो,

उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना 'वैराग्य' कहाता है।

अर्थात् पूर्वोक्त दूषणों को त्याग कर राज्यशासन, प्रजापालन, गृहस्थ कर्म आदि धर्मानुकूल करता हुआ मनुष्य भी योगी और विरक्त होता है। किन्तु झूठे सुख की इच्छा से आलस्यवश निष्पुरुषार्थी होकर अधर्माचारी मनुष्य घरबार छोड़ मूंड मुंडवा, काषायाम्बरधारी वैरागियों का वेषमात्र बना लेने से यथावत् वैराग्य को नहीं प्राप्त होता।

[३] मुक्ति का तृतीय साधन— षट्क-सम्पत्ति

मुक्ति का तीसरा साधन षट्क-सम्पत्ति है। अर्थात् उन छः प्रकार के कर्मों का, जो शमादि 'षट्क-सम्पत्ति' कहाते हैं, यथावत् अनुष्ठान करना। वे छः कर्म ये छः कर्म ये हैं—(१) शम, (२) दम, (३) उपरति, (४) तितिक्षा, (५) श्रद्धा और (६) समाधान। इन सब की व्याख्या आगे कहते हैं—

१. शम—अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण में प्रवृत्त रखना। अर्थात् मन को शान्त करके शमन करना वा वश में रखना 'शम' कहाता है।

२. दम—इन्द्रियों को दमन करके, अर्थात् जीतकर अपने वश में रखना। अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना 'दम' कहाता है।

३. उपरति—दुष्ट कर्म करने वाले पुरुषों से सदा दूर रहना, और स्वयं वेदविरुद्ध वा अधर्मयुक्त कर्म, जो सकाम कर्म कहाते हैं, उनसे सदा पृथक् रहना, 'उपरति' कहाता है।

४. तितिक्षा—निन्दा-स्तुति हानि-लाभ आदि चाहे कितनी ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष-शोक को छोड़कर मुक्ति के साधनों में सदा लगा रहना। अर्थात् स्तुति वा लाभ आदि में हर्षित न होना, और

निंदा-हानि आदि में शोकातुर न होना । आशय यह है कि उक्त द्वन्द्वों का सहन करना 'तितिक्षा' धर्म कहाता है ।

५. श्रद्धा—वेदादि सत्यशास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान् सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना 'श्रद्धा' कहाती है ।

६. समाधान—चित्त की एकाग्रता को 'समाधान' कहते हैं ।

[४] मुक्ति का चतुर्थ साधन—मुमुक्षुत्व

'मुमुक्षु' उस मनुष्य को कहते हैं कि जिस को मुक्ति वा मुक्ति के साधनों के अतिरिक्त अन्य किसी विषय वा पदार्थ में प्रीति नहीं रहती । जैसे कि क्षुधातुर मनुष्य को अन्न जल के सिवाय दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता । इस प्रकार मोक्ष-मार्ग में निरन्तर तत्पर रहने को 'मुमुक्षुत्व' कहते हैं ।

इससे आगे योग के शेष तीन अङ्ग (=धारणा, ध्यान और समाधि) तृतीय अध्याय में कहेंगे ।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमयोगिनां श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण लक्ष्मणा-नन्दस्वामिना प्रणीते ध्यानयोगप्रकाशाख्य-ग्रन्थे 'कर्मयोगो नाम' द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ उपासनायोगो नाम तृतीयोऽध्यायः

वन्दना

अचिन्त्याव्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
समस्तजगदाधारब्रह्मणे मूर्त्तये नमः ॥ १ ॥

अर्थ—जो चित्त से चिन्तन अर्थात् मन आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, जो अव्यक्त रूप है, जो अपने से भिन्न जीव प्रकृति आदि पदार्थों के गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण है, जो अपने अनन्त स्वाभाविक ज्ञान बल क्रियादि गुणों से युक्त होने के कारण सगुण है, जो समस्त जगत् को धारण कर रहा है, उस ब्रह्मस्वरूप परमात्मा को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ ॥१॥

जगद्गुरो नमस्तुभ्यं शिवाय शिवदाय च ।
योगीन्द्राणां च योगीन्द्र गुरूणां गुरवे नमः ॥२॥

अर्थ—हे समस्त चराचर जगत् के गुरु=पूज्य ! हे मङ्गलमय ! हे सबको मोक्षरूप कल्याण के देनेहारे ! हे परम उत्कृष्ट योगियों के परम शिरोमणि योगी ! हे गुरुओं के गुरु ! आपको मैं बारम्बार विनयपूर्वक भक्ति प्रेम और श्रद्धा से अभिवादन करता हूं ॥ २ ॥

ध्यायन्ति योगिनो योगात् सिद्धाः सिद्धेश्वरं च यम् ।
ध्यायामि सततं शुद्धं भगवन्तं सनातनम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस शुद्धस्वरूप, सकलैश्वर्य-सम्पन्न, सनातन और सब सिद्धों के स्वामी स्वयंसिद्ध परमेश्वर का योगसिद्ध योगीजन समाधियोग द्वारा ध्यान करते हैं, उसी परमात्मा का मैं भी निरन्तर वन्दनापूर्वक ध्यान करता हूं ॥ ३ ॥

विमलं सुखदं सततं सुहितं, जगति प्रततं तदु वेदगतम् ।
मनसि प्रकटं यदि यस्य सुखी, स नरोऽस्ति सदेश्वरभागधिकः ॥४॥
आर्याभिविनय, पृष्ठ ४१ ॥

अर्थ—जो पूर्णकाम=तृप्त ब्रह्म विमल, सुखकारक, सर्वदा सब का हितकारक, और जगत् में व्याप्त है, वही सब वेदों से प्राप्य है। जिसके मन में इस ब्रह्म की प्रकटता (=यथार्थ विज्ञान) है, वही मनुष्य ईश्वर के आनन्द का भागी है। और वही सबसे सदैव अधिक सुखी है। ऐसे मनुष्य को धन्य है। ऐसे ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञानी आप्त विद्वानों को भी मेरी ओर से वन्दना प्राप्त हो ॥ ४ ॥

विशेषभागीह वृणोति यो हितम्, नरः परात्मानमतीव मानतः ।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया, स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः ॥५॥
आर्याभिविनय, पृष्ठ ४१ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम विद्या सत्संग सुविचरता निर्वैरता जितेन्द्रियता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार=आश्रय करता है, वही जन अतीव भाग्यशाली है। क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्यविद्या मे सम्पूर्ण दुःख से छूटके परमानन्द नाम परमात्मा का नित्य संगरूप जो मोक्ष है, उसको प्राप्त होता है। अर्थात् फिर कभी जन्म-मरणादि-दुःखसागर को नहीं प्राप्त होता। परन्तु जो विषयलम्पट विचार-रहित, विद्या-धर्म-जितेन्द्रियता-सत्संग-रहित, छल-कपट-अभिमान-दुराग्रहादि-दुष्टता-युक्त है, सो इस मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि वह ईश्वरभक्ति से विमुख है। इस लिये जन्म-मरण-ज्वर आदि पीड़ाओं से पीड़ित होके सदा दुःख-सागर में ही पड़ा रहता है ॥५॥

इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध कभी न होवें। किन्तु ईश्वर तथा उसकी आज्ञा में तत्पर होके इस लोक=संसार व्यवहार और परलोक=जो पूर्वोक्त मोक्ष, इनकी सिद्धि यथावत् करें। यही सब मनुष्यों की

कृतकृत्यता है। ऐसे दृढ़ भगवद्भक्त भाग्यशाली और कृतकृत्य पुरुषों को भी मेरी ओर से वन्दना प्राप्त हो ॥

प्रार्थना

ओम् ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये
चक्षु श्रोत्रं प्रपद्ये । वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥१॥
यजु० अ० ३६। मं० १।

पदार्थ—([हे मनुष्याः ! यथा] मयि प्राणापानौ [दृढौ भवेताम्])हे मनुष्यो ! जैसे मेरे आत्मा में प्राण और अपान=ऊपर नीचे के प्राण दृढ़ हों,([मम] वाक् ओजः [प्राप्नुयात्, ताभ्याम् च] सह [अहम्] ओजः [प्राप्नुयाम्]) मेरी वाणी मानस-बल को प्राप्त हो, उस वाणी और उन श्वासों के साथ मैं शरीर-बल को प्राप्त होऊं, (ऋचम् वाचम् प्रपद्ये मनः यजुः प्रपद्ये) ऋग्वेदरूप वाणी को प्राप्त होऊं, मनन करनेवाले अन्तःकरण के तुल्य यजुर्वेद को प्राप्त होऊं, (प्राणम् साम प्रपद्ये) प्राण की क्रिया, अर्थात् योगाभ्यासादिक उपासना के साधक सामवेद को प्राप्त होऊं, (चक्षुः श्रोत्रम् प्रपद्ये [तथा यूयम् एतानि प्राप्नुत]) उत्तम नेत्र और श्रेष्ठ कान को प्राप्त होऊं, वैसे तुम लोग इन सब को प्राप्त होओ ॥१॥

भावार्थ—हे विद्वानो ! तुम लोगों के संग से मेरी ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसनीय वाणी, यजुर्वेद के समान मन, सामवेद के सदृश प्राण और सत्रह तत्त्वों से युक्त लिंग शरीर स्वस्थ, सब उपद्रवों से रहित और समर्थ होवे ॥१॥

ओं यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे
तद् दधातु । शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥२॥
यजु० अ० ३६। मं० २॥

पदार्थ—(यत् मे चक्षुषः हृदयस्य छिद्रम् मनसः अतितृण्णम् वा तत् बृहस्पतिः मे दधातु, यः भुवनस्य पतिः [अस्ति सः] नः शम् भवतु) जो मेरे नेत्र की वा अन्तःकरण की न्यूनता, वा मन की व्या-

कुलता है, वह बड़े आकाशादि का पालक परमेश्वर मेरे लिये पुष्ट वा पूर्ण करे। जो सब संसार का रक्षक है, वह हमारे लिये कल्याणकारी होवे ॥२॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की उपासना और आज्ञापालन से अहिंसा धर्म को स्वीकार कर जितेन्द्रियता को सिद्ध करें ॥२॥

मानस-शिवसंकल्प

अथ मनसो वशीकरणविषयमाह - आगे छः मन्त्रों में मन की शान्ति और एकाग्रतानिमित्त प्रार्थना करते हैं—

ओं यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥
यजु० अ० ३४। मं० १॥

पदार्थ—[हे जगदीश्वर विद्वन् वा ! भवदनुग्रहेण] हे जगदीश्वर वा विद्वान् ! आपकी कृपा से, (यत् दैवम् दूरङ्गमम्) जो आत्मा में रहने, वा जीवात्मा का साधन दूर जाने, मनुष्य को दूर तक ले जाने, वा अनेक पदार्थों का ग्रहण करनेवाला, (ज्योतिषाम् ज्योतिः) शब्दादि विषय प्रकाश, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को प्रकाश करने वा प्रवृत्त करनेहारा, और (एकम् जाग्रतः दूरम् उत् एति) एक=असहाय है, तथा जाग्रत् अवस्था में दूर-दूर भागता है, (उ तत् सुप्तस्य तथा एव [अन्तः] एति) और जो सोते हुवे का उसी प्रकार भीतर अन्तःकरण में जाता है,(तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु) वह मेरा सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन कल्याणकारी धर्मविषयक इच्छावाला हो ॥१॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का सेवन, और विद्वानों का संग करके अनेकविध सामर्थ्ययुक्त मन को शुद्ध करते हैं, जो जाग्रतावस्था में विस्तृत व्यवहारवाला है, वही मन सुषुप्ति अवस्था में शान्त होता है। जो वेगवाले पदार्थों में अति वेगवान्, ज्ञान

का साधन होने से इन्द्रियों के प्रवर्त्तक मन को वश में करते है, वे अशुभ व्यवहार को छोड़ शुभ व्यवहार में मन को प्रवृत्त कर सकते हैं ॥१॥

ओं येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २ ॥
य० अ० ३४। मं० २॥

पदार्थ—[हे परमेश्वर वा विद्वन् ! भवत्सगेन] हे परमेश्वर वा विद्वान् ! आप के संग से, (येन [मनसा] अपसः मनीषिणः धीराः) जिस मन से सदा कर्म-धर्मनिष्ठ मन को दमन करनेवाले, और ध्यान करनेवाले बुद्धिमान् लोग (यज्ञे विदथेषु [च]) अग्निहोत्रादि वा धर्मयुक्त व्यवहार, वा योगयज्ञ में और युद्धादि व्यवहारों में (कर्माणि कृण्वन्ति) अत्यन्त इष्ट कर्मों को करते हैं, (यत् अपूर्वम् प्रजानाम् अन्तः यक्षम् [वर्त्तते]) जो सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभाववाला है, और प्राणिमात्र के हृदय में पूजनीय वा संगत एकीभूत हो हो रहा है, (तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु) यह मेरा मनन विचार करनारूप मन धर्मिष्ठ होवे ॥२॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की उपासना सुन्दर विचार विद्या और सत्संग से अपने अन्तःकरण को अधर्माचरण से निवृत्त कर धर्म के आचरण में प्रवृत्त करें ॥२॥

ओं यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥३॥
य० अ० ३४। मं० ३ ॥

पदार्थ—[हे जगदीश्वर परमयोगिन् विद्वन् वा ! भवज्ज्ञापनेन] हे जगदीश्वर वा परमयोगिन् विद्वान् ! आपके जनाने से, (यत् प्रज्ञानम् उत् चेतः धृतिः च) जो विशेषकर ज्ञान का उत्पादन और बुद्धिरूप धर्मस्वरूप और लज्जादि कर्मों का हेतु है, (यत् प्रजासु अन्तः अमृतम् ज्योतिः) जो मनुष्य के अन्तःकरण में आत्मा का साथी होने से नाशरहित प्रकाशरूप है, और (यस्मात् ऋते किञ्चन कर्म

न क्रियते) जिसके बिना कोई भी काम नहीं किया जाता, (तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु) वह मुझ जीवात्मा का सब कर्मों का साधनरूप मन कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखनेवाला हो ॥३॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो अन्तःकरण बुद्धि चित्त और अहङ्काररूप वृत्तिवाला होने से चार प्रकार से भीतर प्रकाश करनेवाला, प्राणियों के सब कर्मों का साधक, अविनाशी मन है, उसको न्याय और सत्य आचरण में प्रवृत्त कर पक्षपात अन्याय और अधर्माचरण से तुम लोग निवृत्त करो ॥३॥

ओं येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥४॥
यजु० अ० ३४ । मं० ४ ॥

पदार्थ—([हे मनुष्याः!] येन अमृतेन [मनसा]) हे मनुष्यो ! जिस नाशरहित परमात्मा के साथ युक्त होनेवाले मन से (भूतं भुवनं भविष्यत् सर्वम् इदं परिगृहीतम् [भवति]) व्यतीत हुआ, वर्त्तमानकाल-सम्बन्धी, और होनेवाला सब यह त्रिकालस्थ वस्तुमात्र सब ओर से गृहीत होता है, अर्थात् जाना जाता है, (येन सप्त होता यज्ञः तायते) जिस से सात मनुष्य होता, वा पांच प्राण छठा जीवात्मा और अव्यक्त सातवां ये सात लेने-देनेवाले, जिस में वह अग्निष्टोमादि वा विज्ञानरूप व्यवहार विस्तृत किया जाता है, (तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु) वह मेरा योगयुक्त चित्त मोक्षरूप संकल्पवाला होवे ॥४॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो चित्त योगाभ्यास के साधनों और उपसाधनों से सिद्ध हुआ भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनों काल का ज्ञाता, सब सृष्टि का जाननेवाला, कर्म उपासना और ज्ञान का साधक है, उसको सदा ही कल्याण में प्रिय करो ॥४॥

ओं यस्मिन्नृचः साम यजूᳬषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तᳬ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ५ ॥
यजु० अ० ३४ । मं० ५ ॥

पदार्थ—(यस्मिन् रथनाभौ इव अराः) जिस मन में जैसे रथ के पहिये के बीच के काष्ठ में अरा लगे होते हैं, वैसे (ऋचः यजूंषि साम प्रतिष्ठिता) ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद सब ओर से स्थित, और [यस्मिन् अथर्वाणः प्रतिष्ठिताः भवन्ति] जिस में अथर्ववेद स्थित है, (यस्मिन् प्रजानां सर्वं चित्तम् ओतम् अस्ति) जिसमें प्राणियों का समग्र चित्त=सर्वपदार्थ-सम्बन्धी ज्ञान सूत में मणियों के समान संयुक्त है, (तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु) वह मेरा मन कल्याणकारी वेदादिसत्यशास्त्रों का प्रचाररूप संकल्पवाला हो ॥५॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम लोगों को चाहिये कि जिस मन के स्वस्थ रहने में ही वेदादिविद्याओं का आधार, और जिसमें सब व्यवहारों का ज्ञान एकत्र होता है, उस अन्तःकरण को विद्या और धर्म के आचरण से पवित्र करो ॥५॥

ओं सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥
यजु० अ० ३४ । मं० ६ ॥

पदार्थ—(यत् सुषारथिः अश्वानिव मनुष्यान् नेनीयते) जो मन, जैसे सुन्दर चतुर सारथि नाम गाड़ीवान् लगाम से घोड़ों को सब ओर चलाता है, वैसे मनुष्यादि प्राणियों को शीघ्र-शीघ्र इधर-उधर घुमाता है, और (अभीशुभिः वाजिन इव [नियच्छति च, बलात् सारथिः अश्वान् इव प्राणिनः नयति]) जैसे रस्सियों से वेगवाले घोड़ों को सारथि वश में करता है, वैसे प्राणियों को नियम में रखता है, (यत् हृत्प्रतिष्ठम् अजिरम् जविष्ठम् [अस्ति]) जो हृदय में स्थित विषयादि में प्रेरक, वा वृद्धादि-अवस्थारहित, और अत्यन्त वेगवान् है, (तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु) वह मेरा मन मङ्गलमय नियम में इष्ट होवे ॥६॥

भावार्थ—जो मन, मनुष्य जिस पदार्थ में आसक्त है वहीं बल से सारथि घोड़ों को जैसे वैसे प्राणियों को ले जाता है, और लगाम से सारथि घोड़ों को जैसे वैसे वश में रखता है, सब मूर्ख जन जिस के अनुकूल वर्त्तते और विद्वान् जिसे अपने वश में करते हैं, जो शुद्ध हुआ सुखकारी और अशुद्ध हुआ दुःखदाई, जो जीता गया सिद्धि को और न जीत लिया गया असिद्धि को देता है, वह मन मनुष्यों को सदा अपने --- में रखना चाहिये ॥६॥

—:०:—

अथ उपासनायोगे समाधियोगः

[६] धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ यो० पा० ३ । सूत्र १ ॥

अर्थ—चित्त के नाभि आदि स्थानों में स्थिर करने को 'धारणा' कहते हैं [,यह ध्यानयोग का छठा अंग है] ॥

अर्थात् 'धारणा' उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ाके नाभि हृदय मस्तक नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके 'ओंकार' का जप और उसका अर्थ परमेश्वर है, उसका विचार करना। जब उपासनायोग के पूर्वोक्त पांचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अङ्ग 'धारणा' भी यथावत् प्राप्त होती है। [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० २०३-२०४]

धारणाविषयक वेदोक्त प्रमाण

ओं सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नया ॥१॥ य० अ० १२ । मं० ६७ ॥

अर्थ—जो विद्वान् योगी और ध्यान करनेवाले लोग हैं, वे यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं। जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं, अपने ज्ञान और

आनन्द को विस्तृत करते हैं, वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होते और परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥१॥

ओं युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥२॥
य० अ० १२ । मं० ६८ ॥

अर्थ—हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द का विस्तार करो । इस प्रकार करने से योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके, उसमें उपासना-विधान से विज्ञानरूप बीज को बोओ । तथा पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में युक्त होकर उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो । तथा तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासना-योग के फल को प्राप्त होवें । और हमको ईश्वर के अनुग्रह से वह फल शीघ्र ही प्राप्त हो । कैसा वह फल है कि जो परिपक्व शुद्ध परमानन्द से भरा हुआ, और मोक्षसुख को प्राप्त करानेवाला है । अर्थात् वह उपासनायोगवृत्ति कैसी है कि सब क्लेशों के नाश करने-वाली और शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है । उन उपासनायोगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ॥२॥

[ऋ० भा० भू०, पृष्ठ १७९-१८०]

आगे वेदोपदिष्ट धारणा और संयम करने के स्थानों का विवरण ईश्वर की शिक्षानुकूल वेदमन्त्रों द्वारा करते हैं—

ओं शादं दद्भिरवकान्दन्तमूलैर्मृदं बर्स्वैस्तेगान् दꣳष्ट्राभ्याꣳ सरस्वत्याऽ अग्रजिह्वं जिह्वायाऽ उत्सादमवक्रन्देन तालु वाजꣳ हनुभ्यामपऽआस्येन वृषणमाण्डाभ्यामादित्याँ श्मश्रुभिः पन्थानं भ्रूभ्यां द्यावापृथिवी वर्त्तोभ्यां विद्युतं कनीनकाभ्याꣳ शुक्लाय स्वाहा कृष्णाय स्वाहा पार्याणि पक्ष्माण्यवार्या इक्षवोऽवार्याणि पक्ष्माणि पार्याऽ इक्षवः ॥ ३ ॥य० अ० २५ । मन्त्र १ ॥

पदार्थ—[हे जिज्ञासो विद्यार्थिन् !] हे अच्छे ज्ञान की कामना करते हुए विद्यार्थीजन ! (ते दद्भिः शादम्) तेरे दांतों से जिसमें छेदन करता है उस व्यवहार को (दन्तमूलैः बर्स्वैः अवकां मृदम्) दांतों की जड़ों और दांतों की पछाड़ियों से रक्षा करनेवाली मट्टी को, (दंष्ट्राभ्यां सरस्वत्यै ग्राल्) डाढों से विशेष ज्ञानवाली वाणी के लिये वाणी को, (जिह्वायाः अग्रजिह्वम्)जीभ से जीभ के अगले भाग को (अवक्रन्देन उत्सादम् तालु) विकलतारहित व्यवहार से जिस में ऊपर को स्थिर होती है, उस तालु को, (हनुभ्यां वाजम्) ठोड़ी के पास के भागों से अन्न को, (आस्येन अपः) जिससे भोजन आदि पदार्थ को गीला करते हैं, उस मुख से जलों को,(आण्डाभ्यां वृषणम्) वीर्य को अच्छे प्रकार धारण करनेहारे अण्डकोष से वीर्य वर्षानेवाले अङ्ग को, (श्मश्रुभिः आदित्यान्) मुख के चारों ओर जो केश अर्थात् डाढ़ी; उससे मुख्य विद्वानों को, (भ्रूभ्याम् पन्थानम्) नेत्रगोलकों के ऊपर जो भौंहें हैं, उनसे मार्ग को, (वर्तोभ्यां द्यावापृथिवी) जाने-आने से सूर्य और भूमि, तथा (कनीनकाभ्यां विद्युतम् [अहं बोधयामि]) तेज से भरे हुए काले नेत्रों के तारों के सदृश गोलों से बिजुली को मैं समझाता हूं। (शुक्राय स्वाहा) वीर्य के लिये ब्रह्मचर्य-क्रिया से, (कृष्णाय स्वाहा) विद्या खींचने के लिये सुन्दर शीलयुक्त क्रिया से, (पार्याणि पक्ष्माणि) पूरे करने योग्य जो सब ओर से लेने चाहियें, उन कामों वा पलकों के ऊपर के बिन्ने, वा (अवार्याः इक्षवः) नदी आदि के प्रथम ओर होनेवाले गन्नों के पौंडे, वा (अवार्याणि पक्ष्माणि) नदी आदि के पहिले किनारे पर होनेवाले पदार्थ सब ओर से जिनका ग्रहण करें, वा लोम और (पार्या इक्षवः) पालना करने योग्य ऊख जो गुड़ आदि के निमित्त हैं, वे पदार्थ [त्वया संग्राह्याः] तुझको अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहियें ॥३॥

भावार्थ—अध्यापक लोग अपने शिष्यों के अङ्गों को उपदेश से अच्छे प्रकार पुष्ट कर, तथा आहार वा विहार का अच्छा बोध,

समस्त विद्याओं की प्राप्ति, अखण्डित ब्रह्मचर्य का सेवन, और ऐश्वर्य की प्राप्ति करके सुखयुक्त करें ॥३॥

इस मन्त्र में शरीर के अनेक अङ्गों में 'धारणा' करके संयम करने, तथा वीर्य का आकर्षण और रक्षा करके ऊर्ध्वरेता होने, तथा गर्भाधान समय वीर्य को यथाविधि प्रक्षेप करने का उपदेश परमात्मा ने किया है। 'अण्डाभ्यां वृषणम्' इस वाक्य से गर्भाधान-क्रिया का, जो गर्भस्थापक प्राणायाम द्वारा की जाती है, तथा 'शुक्राय स्वाहा' इस वाक्य से ब्रह्मचर्य-क्रिया द्वारा वीर्य के आकर्षण करने का, जो वीर्यस्तम्भक प्राणायाम द्वारा की जाती है, परमात्मा ने उपदेश किया है। 'कृष्णाय स्वाहा' इससे वीर्य खींचने की क्रिया अर्थात् विद्या भी समझनी चाहिये।

ओं वातं प्राणेनाऽपानेन नासिके ऽउपयाममधरेणौष्ठेन सदुत्तरेण प्रकाशेनान्तरमनूकाशेन बाह्यं निवेष्यं मूर्ध्ना स्तनयित्नुं निर्बाधेनाशनिं मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां कर्णाभ्याꣳ श्रोत्रꣳ श्रोत्राभ्यां कर्णौ तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिरदितिꣳ शीर्ष्णा निर्ऋतिं निर्जर्जल्येन शीर्ष्णा संक्रोशैः प्राणान् रेष्माणꣳ स्तुतेन ॥४॥
य० अ० २५। मं० २ ॥

पदार्थ—[हे जिज्ञासो विद्यार्थिन्! मदुपदेशग्रहणेन त्वम्] हे जानने की इच्छा करनेवाले विद्यार्थी ! मेरे उपदेश के ग्रहण से तू (प्राणेन अपानेन वातम् नासिके उपयामम्) प्राण और अपान से पवन, और नासिका के छिद्रों, और प्राप्त हुए नियम को अर्थात् यम-नियमादि योगाङ्गों को, (अधरेण ओष्ठेन उत्तरेण प्रकाशेन सदन्तरम्) नीचे के ओष्ठ से और ऊपर के प्रकाशरूप ओष्ठ से बीच में विद्यमान मुख आदि स्थान को,(अनूकाशेन बाह्यम्) पीछे से प्रकाश होनेवाले अङ्ग से बाहर हुये अङ्ग को, (मूर्ध्ना निवेष्यम्) शिर से जो निश्चय से व्याप्त होने योग्य उसको, (निर्बाधेन स्तनयित्नुम् अशनिम्) निरन्तर ताड़ना के हेतु के साथ शब्द करनेहारी बिजली को, (मस्तिष्केण

विद्युतम्) शिर की चरबी और नसों से अति प्रकाशमान बिजली को, (कनीनकाभ्याम् कर्णाभ्याम् कर्णौ) दिपते हुये शब्द को सुनवानेहारे पवनों से, जिनसे श्रवण करता है उन कानों को, और (श्रोत्राभ्यां श्रोत्रम् तेदनीम्) जिन गोल-गोल छेद्रों से सुनता है, उनसे श्रवणेन्द्रिय और श्रवण करने की क्रिया को, (अधरकण्ठेन अपः) कण्ठ के नीचे के भाग से जलों को (शुष्ककण्ठेन चित्तम्) सूखते हुए कण्ठ से, विशेष ज्ञान सिद्ध करनेहारे अन्तःकरण के वर्त्ताव=चित्त की वृत्ति को, (मन्याभिः अदितिम्) विशेष ज्ञान की क्रियाओं से न विनाश को प्राप्त होनेवाली उत्तम बुद्धि को, (शीर्ष्णा निर्ऋतिम्) शिर से भूमि को, तथा (निर्जर्जल्पेन शीर्ष्णा संक्रोशैः प्राणान् [आप्नुहि]) निरन्तर जीर्ण=सब प्रकार परिपक्व हुए शिर, और अच्छे प्रकार आह्वान=बुलवानों से प्राणों को प्राप्त हो। तथा (स्तुपेन रेष्माणम् [हिन्धि]) हिंसा से हिंसक अविद्या आदि रोग का नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिये कि पहली अवस्था में समस्त शरीर आदि साधनों से शारीरिक और आत्मिक बल को अच्छे प्रकार सिद्ध करें। और अविद्या, दुष्ट शिखावट=शिक्षा निन्दित स्वभाव आदि रोगों का सब प्रकार हनन करें ॥४॥

ओं विधृतिं नाभ्या घृतं रसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया प्रुष्वा अश्रुभिर्ह्रादुनीर्दूषीकाभिरस्ना रक्षाᳬसि चित्राण्यङ्गैर्नक्षत्राणि रूपेण पृथिवीं त्वचा जुम्बकाय स्वाहा ॥५॥

य० अ० २५। मं० ९ ॥

पदार्थ [हे मनुष्याः ! यूयम्] हे मनुष्यो ! तुम लोग, (नाभ्या विधृतिं घृतम्) नाभि से विशेष करके धारणा को घी को, (रसेन आपः) रस से जलों को, (यूष्णा मरीचिः) क्वाथ किये रस से किरणों को, (विप्रुड्भिः नीहारम्) विशेषतर पूर्ण पदार्थ से कुहर को, (ऊष्मणा शीनम्) गर्मी से जमे हुये घी को (वसया प्रुष्वाः) निवास-

हेतु जीवन से उन क्रियाओं को कि जिन से सींचते हैं, (अश्रुभिः ह्रादुनीः) आंसुओं से शब्दों की अप्रकट उच्चारण क्रियाओं को (दूषीकाभिः चित्राणि रक्षांसि अस्ना) विकाररूप-क्रियाओं से चित्र-विचित्र पालना करनेयोग्य रुधिरादि पदार्थों को (अङ्गैः रूपेण नक्षत्राणि) अंगों और रूप से तारागणों को, और (त्वचा पृथिवीम् [विदित्वा]) मांस-रुधिर आदि को ढांपनेवाली खाल आदि से पृथिवी को जानकर (जुम्बकाय स्वाहा [प्रयुङ्ध्वम्]) अति वेगवान् के लिये सत्य वाणी का प्रयोग करो अर्थात् उच्चारण करो ॥९॥

भावार्थ—मनुष्यों को धारणा आदि क्रियाओं से खोटे आचरण और रोगों की निवृत्ति, और सत्यभाषण आदि धर्म के लक्षणों का विचार करना चाहिये ॥९॥

यजुर्वेद के २५ पच्चीसवें अध्याय के आरम्भ से नवें मन्त्र तक परमेश्वर ने उपदेश किया है कि धारणारूपी योगाभ्यास की क्रिया द्वारा शरीरस्थ और संसारस्थ पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके अन्य जिज्ञासुओं को सिखलाना, तथा अपने अङ्गों की रक्षा करके परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासनापूर्वक आत्मा और परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त करना चाहिये। यहां उदाहरणमात्र तीन अर्थात् प्रथम द्वितीय और नवम मन्त्र लिखकर उसी विषय को दर्शा दिया है।

हृदय कण्ठकूप जिह्वाग्र जिह्वामूल जिह्वामध्य नासिकाग्र त्रिकुटी =भ्रूमध्य, ब्रह्माण्ड=मूर्धा, दोनों नेत्र दोनों कान, दोनों अर्थात् ऊपर-नीचे के दांतों के बीच में जहां जीभ लगाकर तकार का उच्चारण होता है वह स्थान, रीढ़ का मध्य=पीठ का हाड़, नाभिचक्र हृदय तालु ठोड़ी मुख दाढ़ी और दांत की अगाड़ी-पिछाड़ी आदि अन्य अनेक स्थानों में धारणा की जाती है। और इन ही स्थानों में संयम भी किया जाता है। और यही सब स्थान पूर्वोक्त वेद-मन्त्रों में भी गिनाये गये हैं।

सुषुम्ना आदि नाड़ियों में धारणा करने के थोड़े से वेदोक्त

प्रमाण आगे और भी लिखे जाते हैं। प्रथम प्राणायाम की धारणा सुषुम्ना नाड़ी में—

ओ३म् इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय कर्णाभ्याᳪ श्रोत्रममृतं ग्रहाभ्याम्।
यवा न बर्हिर्भ्रुवि केसराणि कर्कन्धु जज्ञे मधु सारघं मुखात् ॥६॥
यजु० अ० १९। मं० ९१ ॥

पदार्थ—([यथा] ग्रहाभ्याम्[सह])जैसे जिनसे ग्रहण करते हैं उन व्यवहारों के साथ (ऋषभः बलाय यवाः न) ज्ञानीपुरुष योग-सामर्थ्य के लिये यवों के समान (कर्णाभ्याम् श्रोत्रम्) कानों से शब्द-विषय को, (अमृतम् कर्कन्धु) नीरोग जल को, और जिससे कर्म को धारण करे, उसको (सारघम् मधु बर्हिः) एक प्रकार के स्वाद से युक्त शहद, वृद्धिकारक व्यवहार, और (भ्रुवि केसराणि मुखात्[जनयति]) नेत्र और ललाट के बीच में विज्ञानों अर्थात् सुषुम्ना में प्राणवायु का निरोध कर ईश्वरविषयक विशेष ज्ञानों को मुख से उत्पन्न करता है, ([तथा एतत् सर्वं] इन्द्रस्य रूपं [जज्ञे]) वैसे यह सब परमैश्वर्य का स्वरूप उत्पन्न होता है ॥६॥

भावार्थ—जैसे निवृत्ति-मार्ग में परमयोगी योग-बल से सब सिद्धियों को प्राप्त होता है, वैसे ही अन्य गृहस्थ लोगों को भी प्रवृत्ति-मार्ग में ऐश्वर्य को प्राप्त होना चाहिये ॥६॥

ओ३म् इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥७॥
ऋ० मं० १०। सू० ७५। मं० ५ [ऋ. भा. भू. पृष्ठ ३३७, ३४२] ॥

पदार्थ—[हे विद्वन्!]हे विद्वान् योगी! (गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुष्णि आर्जीकीये [प्रभृतयः जाठराग्नेः नाड्यः] गङ्गा यमुना सरस्वती शुतुद्रि परुष्णि आर्जीकीया आदि जठराग्नि की नाड़ियां (असिक्न्या वितस्तया सुषोमया [च सह]) असिक्नी वितस्ता और सुषोमा के साथ (मरुत् आ वृधे=आ समन्तात् वृद्धये विवर्धनाय)

हमारे शरीरस्थ प्राणादि वायुओं की वृद्धि=उन्नति के लिये (इमम् मे स्तोमम् आसचत) मेरी इस स्तुतिमय उपासना को सब ओर से अच्छे प्रकार प्राप्त करती हैं। ([इति त्वम्] आ शृणुहि [विजानीहि वा]) इस बात को तू अच्छे प्रकार ध्यान लगाकर श्रवण कर, अर्थात् विशेष करके जान ॥७॥

'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति०' इस मन्त्र में गङ्गा यमुना आदि इडा पिङ्गला सुषुम्ना कूर्मा और जठराग्नि की नाड़ियों के नाम हैं। उनमें योगाभ्यास=धारणा से परमेश्वर की उपासना करके मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं। क्योंकि उपासना द्वारा नाड़ियों ही में धारणा करनी होती है। 'सित=इडा और असित=पिङ्गला ये दोनों जहां मिली हैं, उसको 'सुषुम्ना' कहते हैं। उसमें योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इसमें निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि—'सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं।' [ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ३४२]

इडा पिङ्गला और सुषुम्ना इन तीनों के अन्य नाम भी नीचे लिखे प्रमाणे जानो। दक्षिण नासिका छिद्र में स्वर इडा नाड़ी से चलता है, और वाम में पिङ्गला से। त्रिकुट=भ्रूमध्य में इडा और पिङ्गला दोनों मिलती हैं, वही 'सुषुम्ना' का स्थान जानो। उसी ही को 'त्रिवेणी' भी कहते हैं। इस ही स्थान में एक छिद्र है, जिसको 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं। जो जीवात्मा सुषुम्ना नाड़ी में होकर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा शरीर छोड़ता है, वह मुक्ति=मोक्ष को प्राप्त होता है। अन्य इन्द्रियछिद्रों से निकलनेवाला जीवात्मा यथाक्रम अधोगति को प्राप्त होता है। जो योगीजन कूर्मानाड़ी में संयम करके निद्रा के आदि और अन्त को पहिचान लेता है, वही योगी समाधि द्वारा कूर्मा में अपने मन सहित सब इन्द्रियों से संयम करके ब्रह्मरन्ध्र द्वारा शरीर छोड़कर परमात्मा के आधार में मोक्षपद को प्राप्त होता है।

पूर्वोक्त तीन नाड़ियों के ये भी नाम हैं—

दक्षिणनाड़ी वा इडा के नाम	वामनाड़ी वा पिङ्गला के नाम	संगम की मध्यनाड़ी वा सुषुम्ना के नाम
गंगा	यमुना	सरस्वती
शुक्ल	कृष्ण	त्रिवेणी
सित	असित	सुषुम्णा
सूर्य	चन्द्र	मूलनाड़ी
उष्ण	शीत	ब्रह्मरन्ध्र

इडा और पिङ्गला को क्रमशः उष्ण और शीत इस कारण कहते हैं कि एक उनमें से प्रकाशमय दक्षिण ओरवाली सूर्य की नाड़ी गरम है। दूसरी अन्धकारमय बाईं ओरवाली चन्द्रमा की नाड़ी ठण्डी है।

[७] ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ यो० पा० ३। सू० २ [ऋ. भा. भू. पृष्ठ २०३, २०४] ॥

अर्थ—उन नाभि आदि देशों में, जहां धारणा की जाती है, वहां ध्येय के अवलम्बन के ज्ञान में चित्त का लय हो जाना। अर्थात् ध्येय के ज्ञान से अतिरिक्त अन्य पदार्थों के ज्ञान का अभाव हो जाने की दशा को 'ध्यान' कहते हैं ॥

अर्थात् धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम-भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु इसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम 'ध्यान' है।

[८] समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ यो० पा० ३ । सू० ३] ऋ. भा. भू. पृष्ठ २०३, २०४] ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ध्यान जब अर्थमात्र=संस्कारमात्र रह जाय, और स्वरूप शून्यसा प्रतीत हो, उसे 'समाधि' कहते हैं ॥

अर्थात् जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भी भूले हुये के समान जानके आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को 'समाधि' कहते हैं।

ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि—ध्यान में तो ध्यान करनेवाला जिस मन से जिस वस्तु का ध्यान करता है, वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप के ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होकर फिर बाहर को आ जाता है।

पूर्वोक्त सातों अङ्गों=यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा और ध्यान का फल 'समाधि' है। समाधि तीन प्रकार की होती है। अर्थात्—

(१) **प्रथम—सविकल्प समाधि वा सम्प्रज्ञात समाधि—जिसमें** ओंकार के जपरूप क्रिया की विद्यमानता है, अतएव 'सविकल्प' कहाती है। यह समाधि बुद्धि के आधार में होती है। अर्थात् प्रणव का उपांशु=मानसिक जप मन ही मन में अर्थात् मननशक्तिरूप मन से किया जाता है। परन्तु मन से परे सूक्ष्म पदार्थ बुद्धि है, सो मानसिक व्यापार को छोड़कर जीवात्मा प्रज्ञा नाम बुद्धि के आधार में ध्यान करने से इस समाधि को प्राप्त करता है। अतएव यह 'सम्प्रज्ञात समाधि' वा 'प्रज्ञा समाधि' कहाती है।

(२) दूसरी—असम्प्रज्ञात समाधि—जब जीवात्मा बुद्धि से भी परे=सूक्ष्म जो अपना स्वरूप है, उसमें स्थिर होता है, उसको 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। क्योंकि इस समाधि में जीवात्मा बुद्धि का उल्लङ्घन करके इसका आधार भी छोड़ देता है। इस समाधि-पर्यन्त जीवात्मा को अपने स्वरूप का बोध बना रहता है, तथा उसको अपना यथार्थज्ञान भी प्राप्त होता है।

(३) तीसरी—'निर्विकल्प समाधि'—इस समाधि में जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान होने के पश्चात् जब परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है, तब वह=जीवात्मा अपने स्वरूप को भी भूला हुआ सा जानकर परमात्मा के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण हो जाने पर केवल परमेश्वर के आधार में साक्षात् परमात्मा के साथ योग=मेल प्राप्त करता है। इस समाधि में आधार-आधेय सम्बन्ध का भी भान नहीं रहता। यही सम्पूर्ण योग की फल-सिद्धि है, और यही मोक्ष है। तब परमात्मा का पूर्ण ज्ञान हो जाने से नास्तिकता भी नष्ट हो जाती है। अर्थात् परमेश्वर के न होने में जो भ्रम होते हैं, सो परमात्मा का हस्तामलक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं।

जो योगीजन कण्ठदेश में संयम करके कण्ठदेशस्थ व्यान वायु के साथ मन का सयोग नहीं होने देते, वे ही निर्विकल्पसमाधियोग को प्राप्त हो सकते हैं। चेष्टामात्र व्यान वायु के साथ मन का संयोग होने से ही होती है। जब उक्त संयम के करने से संकल्प-विकल्प का मूल वा बीज ही नष्ट हो जाता है, तब कोई विकल्प भी नहीं रहता। उस ही अवस्था को 'निर्विकल्पसमाधि वा निर्बीज समाधि' कहते हैं, जिसके आनन्द का पारावार नहीं।

जैसा कि उपनिषद् में कहा है कि—

समाधि का आनन्द

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।।

मैत्रायण्युप० प्र० ४ । खं० ४ । वचन ६ [स० प्र० समु० ८, पृष्ठ २६६] ।।

अर्थ—जिन पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया हैं, उस को जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता । क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है । उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है । अष्टाङ्गयोग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तिर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो-जो क्रियायें करनी होती हैं, वह-वह सब ध्यान से ही की जाती हैं, जिसका प्रकाश इस ग्रन्थ में जिज्ञासुओं के हितार्थ किया है ।

समाधिविषयक मिथ्या-विश्वास

सम्प्रति जगत् में ऐसा विश्वास है कि योगीजन ब्रह्माण्ड में प्राण चढ़ाकर सहस्त्रों वर्षों तक की समाधि अभ्यास करने से लगा सकते हैं । यह बात सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि शरीर के जिन स्थानों में धारणा और ध्यान किया जाता है, उन ही देशों में समाधि भी की जाती है—जिह्वामध्य=सृक्किणी, पीठ का हाड़=रीढ़, कण्ठकूप, नाभि, दन्तमूल इत्यादि । जिस प्रकार इन स्थानों में समाधि अधिक काल तक नहीं लगाई जा सकती । इस ही प्रकार ब्रह्माण्ड में भी जानो ।

क्या कोई कह सकता है कि पीठ के हाड़, दांत की जड़ आदि स्थानों में चिरकाल की समाधि लगाई जा सकती है ? जब इन स्थानों में अधिक देर समाधि नहीं ठहर सकती, तो ब्रह्माण्ड में अधिकता ही क्या है, जो वहां विशेष ठहरे । प्रत्युत वहां तो प्राण-वायु द्वारा धारणा ध्यान समाधि करनी होती है कि जहां प्राण अधिक

ठहर ही नहीं सकता, क्योंकि ब्रह्माण्ड में प्राण पहुंचते ही थोड़ी देर उपरान्त शीघ्र हो नासिका द्वारा निकल जाता है।

महायोगी श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज कृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पृष्ठ २०५ में स्पष्ट कहा है कि—"जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होकर फिर बाहर को आ जाता है।" अर्थात् थोड़ी-थोड़ी देर की समाधि लगती है। तत्त्व-ज्ञानी लोग अच्छे प्रकार जान सकते हैं कि मनुष्य के श्वास-प्रश्वास का संचार थोड़ी देर भी बन्द रहे, वा रुधिर की भ्रमण-गति शरीर में रुक जाय, तो मनुष्य जीता नहीं रह सकता। ऐसा प्रत्यक्ष और पुष्ट प्रमाण होने पर भी जो कोई विश्वास करले कि योगी लोग समाधि लगाने पर पृथ्वी में गाड़ देने के पश्चात् वर्ष वा दो वर्ष के उपरान्त समाधि में से जीते निकले, ऐसे पुरुष को बुद्धिमान् कौन कह सकता है?

समाधि का फल

समाधिद्वारा परमेश्वर का साक्षात् हो जाने पर प्रकृति जीव और ईश इन तीन पदार्थों का यथावत् पूर्ण ज्ञान, अर्थात् निश्चयात्मक बुद्धि-पूर्वक इन तीनों के भेदभाव का निर्णय होकर यथार्थ विवेक प्राप्त होता है। तब अपने अन्तर्यामी के प्रेम में मग्न होकर जीव मोक्ष को प्राप्त करता है। जैसा कि 'तैत्तिरीयोपनिषत्' में कहा भी है कि—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति॥

तै० ब्रह्मानन्द व० अ० १॥

अर्थ—जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापक रूप ब्रह्म में स्थित होके उस विपश्चित् अनन्तविद्यायुक्त ब्रह्म,

के साथ सब कामों को प्राप्त होता है । अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, उस-उस आनन्द को प्राप्त होता है । यही 'मुक्ति' कहाती है ॥

"मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टिविद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में, अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और जो नहीं दीखते, उन सब में घूमता है । वह सब पदार्थों को, जो कि उसके ज्ञान के आगे हैं, सब को देखता है । जितना ज्ञान अधिक होता है, उसको उतना आनन्द अधिक होता है । मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्णज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है ।" [स० प्र० समु० ९, पृ० ३७२]

——:o:——

संयम

त्रयमेकत्र संयमः ॥ यो० पा० ३, सू० ४ ॥

अर्थ—जिस देश में धारणा की जाती है, उसी में ध्यान और उसी में समाधि भी की जाती है । अर्थात् धारणा ध्यान समाधि इन तीनों के एकत्र होने को 'संयम' कहते हैं ॥

जो एक ही काल में धारणा ध्यान और समाधि इन तीनों का मेल होता है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उनमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है । परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है । अर्थात् ध्यान करने योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को 'संयम' कहते हैं ॥ [ऋ० भा० भू०, पृष्ठ २०४, २०५] ॥

संयमश्चोपासनाया नवममङ्गम् ॥ [ऋ० भा० भू०, पृ० २०४] ॥

अर्थ—'संयम' उपासनायोग का नवमा अङ्ग है ॥

संयम का फल

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ यो० पा० ३ । सू० ५ ॥

अर्थ—उस संयम के जीतने से समाधिविषयिणी बुद्धि का प्रकाश होता है ॥

अर्थात् जैसे-जैसे संयम स्थिर होता जाता है, वैसे-वैसे बुद्धि अधिकतर निर्मल होती जाती है। और परिणाम में जब 'उमा' नाम की बुद्धि प्राप्त होती है, तब परमात्मा का हस्तामलक साक्षात्कार होता है ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ यो० पा० ३। सू० ६ ॥

अर्थ—उस संयम की स्थिरता योग की भूमियों में क्रमशः करनी चाहिये ॥

अर्थात् जिन स्थानों में धारणा की जाती है, उनको 'योग की भूमियां' कहते हैं। उन भूमियों में संयम को दृढ़ और परिपक्व करना चाहिये। इस प्रकार धारणा ध्यान समाधि वा संयम को दृढ़ स्थिर करने का नाम 'भूमिजय' है।

विद्वान् उपदेशक को उचित है कि धारणाविषय में कहे शरीर के देशों में से किसी एक स्थान में कि जहां जिसका ध्यान ठहरे, और सुगमता से बोध हो, अधिकारी जिज्ञासु को आरम्भ में स्पष्टतया विदित करादें। योगनिपुण विद्वान् उपदेशक ऐसा ही प्रत्यक्ष बोध विदित करा भी देते हैं। जब तक जिज्ञासु को किसी प्रकार का प्रत्यक्ष न हो, तब तक उपदेश झूठा जानो। क्योंकि उसमें श्रद्धा और विश्वास न होने के कारण जिज्ञासु की प्रवृत्ति नहीं होती, और उपदेश निष्फल जाता है।

संयम किसी एक देश में परिपक्व हो जाने के पश्चात् नीचे की भूमि से लेकर ऊपर की योग-भूमि तक करना उचित है। भगवान् पतञ्जलि मुनि ने योगदर्शन में अनेक प्रकार के संयम तथा उनके अनेक भिन्न-भिन्न प्रकार के फल कहे हैं। उनमें से थोड़े यहां भी आगे कहे जाते हैं। यथा—

(१) नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ यो० पा० ३। सू० २९ ॥

अर्थ—नाभि-चक्र में चित्त की वृत्तियों को स्थिर करके संयम करने से नाड़ी आदि शरीरस्थ स्थूल पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है ॥

(२) कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ यो० पा० ३ । सू० ३० ॥

अर्थ—कण्ठकूप में स्थित इडानाड़ी में संयम करने से भूख और प्यास की निवृत्ति होती है । अर्थात् जब तक योगी कण्ठकूप में संयम करे, तब तक क्षुधा-पिपासा अधिक बाधा नहीं करती ॥

इस बात का यह आशय नहीं है कि योगी को भूख-प्यास लगती ही नहीं, यह विश्वास मिथ्याभ्रममूलक है । तत्ववेत्ता और संयमी योगी जान सकते हैं कि कण्ठकूप में चन्द्रमा की नाड़ी= पिंगला चलती है, इस कारण भूख-प्यास की तीव्रता प्रतीत नहीं होती । क्योंकि भूख-प्यास लगानेवाली सूर्य की नाड़ी इडा उस समय बन्द रहती है ।

(३) कूर्मनाड्याम् स्थैर्यम् ॥ यो० पा० ३ । सू० ३१ ॥

अर्थ—कूर्मा नाड़ी में संयम करने से चित्त की स्थिरता होती है, और उसी प्रकार समाधि प्राप्त होती है कि जिस प्रकार पूर्वोक्त निद्राविषयवर्णित स्वप्नावस्था होती है ॥

(४) मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ यो० पा० ३ । सू० ३२ ॥

अर्थ—मूर्द्धा ज्योतिष=ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् कपाल के त्रिकुटीस्थ =भ्रूमध्यस्थ छिद्र में जो ज्ञानरूपी प्रकाश है, उस में संयम करने से परमसिद्ध जो परमात्मा है, उसका साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है । उस समय जीव को ऐसा भासता है कि मानो कोई योगीश्वर सिद्ध पुरुष निजगुरु कुछ उपदेश करता हो ॥

जैसे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ४६ में कहा नचिकेता और यम का संवाद मानो अलंकाररूप से वर्णित जीव और ब्रह्म का संवाद है, अर्थात् परमात्मा ने जीव को उपदेश किया है, इस ही

प्रकार योगियों को अन्तर्यामी परमात्मा ज्ञान के प्रकाश द्वारा उपदेश किया करता है ।

मूर्द्धा में जो प्रकाश का कथन ऊपर आया है, उसको किसी प्रकार की चमक=रोशनी कदापि न समझना चाहिये । प्रत्युत सब रोशनियों का भी जाननेवाला जो ज्ञानरूपी प्रकाश है, वही सर्वत्र ऐसे स्थलों में अभिप्रेत होता है ।

(५) बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ यो० पा० ३ । सू० ३३ ॥

अर्थ—अपने शरीर के बल में संयम करने से हाथी के समान बल प्राप्त होता है, यही सूत्रकार का अभिप्राय है । क्योंकि अपने शरीर से बाहर कोई संयम नहीं कर सकता । और न कोई पुरुष हाथी के शरीर में से बल निकालकर अपने शरीर में प्रविष्ट कर सकता है । बाहर में संयम का सर्वथा निषेध है, और अन्य के बल को अपने शरीर में धारण करना भी असम्भव है ॥

(६) हृदये चित्तसंवित् ॥ यो० पा० ३ । सू० ३४ ॥

अर्थ—हृदय जो शरीर का एक अङ्ग है, वह दहर=तड़ाग के समान स्थल है । तड़ाग में जैसे कमल होता है, उसी प्रकार हृदय-दहर में नीचे की ओर मुखवाला=अधोमुख कमल के आकार का स्थान है । उसके भीतर कमलस्थानापन्न अन्तःकरण चतुष्टय है । उसमें संयम करने से मन जीता जाता है, और ज्ञान का प्रकाश होता है ॥

अर्थात् उस हृदय-देश में जितना अवकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है । इसलिये उस स्थान को, जो कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर है, **'ब्रह्मपुर'** नाम परमेश्वर का नगर कहते हैं । उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है । उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर भर

रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं। [ऋ० भा० भू०, पृष्ठ २०५-२०७]

इन्द्रियों की दिव्यशक्तियों में संयम

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शस्वादवार्त्ता जायन्ते ॥

यो० पा० ३। सू० ३६ ॥

अर्थ—इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि कर्णेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय नेत्र रसना इत्यादि इन्द्रियों की दिव्यशक्तियों में संयम करने से प्रातिभ=बुद्धिवर्द्धक दिव्यश्रवण दिव्यस्पर्श दिव्यदृष्टि दिव्यरसज्ञान और दिव्यगन्धज्ञान उत्पन्न होता है ॥

अर्थात् इन्द्रियगणरूप देवों के स्वरूप का भिन्न-भिन्न यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। यथा आकाश के परमाणुओं से श्रवणेन्द्रिय, वायु के परमाणुओं से स्पर्शेन्द्रिय, अग्नि=सूर्य के परमाणुओं से नेत्र, जल के परमाणुओं से रसना, पृथिवी के परमाणुओं से घ्राणेन्द्रिय ईश्वर ने रचे हैं, उनका यथावस्थित सूक्ष्म अपरोक्ष ज्ञान =बोध होता है।

परन्तु बहुत अधिक दूर देश से, कि जहां पर इन्द्रियों की पहुंच नहीं, शब्द सुन लेना, पदार्थों को स्पर्श कर लेना, उन्हें देख लेना, स्वाद जान लेना, गन्धज्ञान कर लेना सर्वथा मिथ्या है। श्रवण दर्शन तथा गन्धज्ञान उतनी दूर से, कि जहां तक इन्द्रियों की शक्ति की पहुंच है, योगी अयोगी साधारण विशेष सब जीवों को होता है, परन्तु इस प्रकार का ज्ञान अधिकतर दूरी से नहीं होता। यदि सम्भव हो तो योगी की त्वचा तथा रसना को भी अपने-अपने विषयों का ज्ञान होना चाहिये, सो होता नहीं। इसलिये हजार पांच सौ कोश के पदार्थों के देख लेने वा सुन लेने आदि की कथा, जो मिथ्याग्रन्थों में पाई जाती हैं, उन पर विश्वास न लाना चाहिये।

धनञ्जय में संयम

ओं राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम् ।
अध वायुं नियुतः सश्चत स्वा उत श्वेतं वसुधितिं निरेके ॥
ऋ० मण्डल ७ । सू० ९० । मं० ३ ॥

पदार्थ—([हे मनुष्याः!] इमे रोदसी=द्यावापृथिव्यौ राये यं जज्ञतुः) हे मनुष्यो ! ये आकाश भूमि धन के अर्थ जिसको उत्पन्न करें, (देवी धिषणा यं देवं राये नु धाति) उत्तम गुणवाली बुद्धि के समान वर्त्तमान स्त्री जिस उत्तम पति को धन के लिये शीघ्र धारण करती है, (अध निरेके स्वाः नियुतः) इसके अनन्तर निश्शंक स्थान में अपने सम्बन्धी निश्चय करके मिलाने वा पृथक् करनेवाले जन (श्वेतम् उत वसुधितिं वायुं सश्चत) वृद्ध और पृथिव्यादि वस्तुओं के धारण के हेतु वायु को प्राप्त होते हैं, [तं यूयं विजानीत] उसको तुम लोग विशेष करके जानो । अर्थात् उसमें संयम करके योगसिद्धि को प्राप्त करो ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! आप लोग बल आदि गुणों से युक्त, सब के धारण करनेवाले वायु को जानके धन और बुद्धि को बढ़ाओ । जो एकान्त में स्थित होके इस प्राण के द्वारा अपने स्वरूप और परमात्मा को जानना चाहो, तो इन दोनों आत्माओं अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का साक्षात्कार होता है ॥

सूत्रात्मा में संयम

ओम् आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानाᳬं समवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
यजु० अ० २७ । मं० २५ ॥

पदार्थ—(बृहतीः जनयन्तीः यत् विश्वम् गर्भम् दधानाः आपः आयन्) महत् परिमाणवाली, पृथिव्यादि को प्रकट करनेहारी, जिस सब में प्रवेश किये हुये सब के मूल प्रधान को धारण करती हुई व्यापक जलों की सूक्ष्ममात्रा (=व्यापिकास्तन्मात्राः) प्राप्त हों, (ततः अग्निम् देवानाम् एकः असुः समवर्त्तत) उससे सूर्यादिरूप अग्नि

को उत्तम पृथिव्यादि पदार्थों का सम्बन्धी एक असहाय प्राण सम्यक् प्रवृत्त करे। ([तस्मै] ह कस्मै देवाय वयं हविषा विधेम) उस ही सुख के निमित्त उत्तम गुणयुक्त ईश्वर के लिये हम लोग धारण करने से सेवा करनेवाले हों ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो स्थूल पञ्चतत्त्व दीख पड़ते हैं, उन को सूक्ष्म प्रकृति के कार्य पञ्चतन्मात्रा नामक से उत्पन्न हुए जानो। उनके बीच जो एक सूत्रात्मा वायु है, वह सबको धारण करता है, यह जानो। जो इस वायु के द्वारा योगाभ्यास से परमात्मा को जानना चाहो, तो उसको साक्षात् जान सको ॥

———:०:———

वासनायाम की व्याख्या

मोक्षहेतुक उपासनायोग के सिद्ध करने के लिये ध्यानयोग द्वारा समाधियोग नाम चित्त की एकाग्रता वा समाधान वा चित्तवृत्ति-निरोध सिद्ध करना होता है। उस समाधियोग के तीन मुख्य उपाय हैं—(१) वृत्तियाम, (२) प्राणायाम, और (३) वासनायाम। वृत्तियाम के सिद्ध होने पर प्राणायाम सिद्ध होता है। तथा प्राणायाम के सिद्ध हो जाने से वासनायाम भी सिद्ध किया जा सकता है। इन में से आदि के दो यामों का वर्णन पूर्व हो चुका है। आगे वासनायाम की व्याख्या की जाती है—

दुष्ट वासनाओं का जो निरोध नाम रोकना, सो 'वासनायाम' कहाता है। वासना कामना राग इच्छा और संकल्प ये सब यहां पर्यायवाची शब्द हैं। अर्थात् सांसारिक सुखभोग की इच्छा से सुख की सामग्रियों के संचय करने के अर्थ जो तृष्णा होती है, वही 'वासना' कहाती है। भेद यह है कि वासना की उत्पत्ति तो जीवात्मा की निज शक्ति से होती है, परन्तु संकल्प की उत्पत्ति मन से होती है। अर्थात् जीवात्मा की निज कामना इच्छा वा प्रेरणा 'वासना' है, और मन की प्रेरणा 'संकल्प' है।

वासनारूप जीव का आभ्यन्तर प्रयत्न जीव की निजशक्ति द्वारा जब उत्पन्न होता है, तब मन द्वारा संकल्प उत्पन्न होता है। अतएव वासना संकल्प का सूक्ष्म पूर्वरूप है। जिस वासना का प्रथम परिणाम संकल्प, दूसरा परिणाम शब्द, तीसरा परिणाम कर्म, और चौथा वा अन्तिम परिणाम सुख-दुःखरूप कर्मफल भोग होता है। अतएव सुख-दुःख स्वर्ग-नरक जन्म-मरण इन सब फल-भोगों तथा संकल्पादि कर्मपर्यन्त चेष्टाओं की जननी=मूलकारण वासना ही अगले प्रमाण से भी स्पष्टतया सिद्ध है। क्योंकि कहा है कि—

'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते' ॥ [द्र०—स० प्र०, समु० १, पृष्ठ २८]

अर्थ—जीव और प्रकृति के संयोग से वासना उत्पन्न होती है। और उपर्युक्त प्रमाण से मनुष्य=जीव निज दिव्य और गूढ़ शक्ति द्वारा जिस विषय की वासनारूप में इच्छा करता है, उस ही का मन=मननशक्ति द्वारा ध्यान करता है। और उस ही को वाणी से शब्द रूप में कहता है। तत्पश्चात् कर्म करके उसके फलरूप सुख वा दुःख का भागी होता है। अर्थात् वाणी वा शब्द द्वारा प्रगट करने से पूर्व मानसी व्यापार नाम आभ्यन्तर चेष्टा(=प्रयत्न)ही रहती है। अर्थात् किये हुये कर्म के फल के समान अधिक पाप-पुण्य का भागी यद्यपि नहीं होता, तथापि मानसिक सुख-दुःख भोगना ही पड़ता है। इसलिये शब्द=वाणी का संयम करना भी आवश्यक है। इस ही अभिप्राय से आगे वासना के तथा शब्द=वाणी के संयम का विधान किया जाता है।

अब स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत 'वेदाङ्गप्रकाश प्रथम भाग' अर्थात् 'वर्णोच्चारण-शिक्षा' के अनुसार शब्द की उत्पत्ति,स्वरूप फल और लक्षण कहते हैं—

शब्द की उत्पत्ति—

आकाशवायुप्रभवः शरीरात्, समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो, वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥१॥
आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम् ॥ २ ॥

अर्थ—आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होनेवाला, नाभि के नीचे से ऊपर को उठता हुआ जो मुख को प्राप्त होता है, उसको 'नाद' कहते हैं। वह कण्ठ आदि स्थानों में विभाग को प्राप्त हुआ वर्णभाव को प्राप्त होता है, उसको 'शब्द' कहते हैं ॥१॥

जीवात्मा बुद्धि से अर्थों की संगति करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता, विद्युत्रूप मन जाठराग्नि को ताड़ता, वह वायु को प्रेरणा करता और वायु उरःस्थल से विचरता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है ॥२॥

शब्द का स्वरूप और फल—

तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं, गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः ।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव, सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति॥

अर्थ—(विप्राः तम्) विद्वान् लोग उस आकाश-वायु-प्रतिपादित (अक्षरम् गुहाशयम्) नाशरहित, विद्या-सुशिक्षा सहित बुद्धि में स्थित, (परं पवित्रं ब्रह्म) अत्युत्तम शुद्ध शब्दब्रह्मराशि की (सम्यक् उशन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्ति की कामना करते हैं । और (स एव सम्यक् प्रयुक्तः) वह ही अच्छे प्रकार प्रयोग किया हुआ शब्द (अभ्युदयेन च) शरीर आत्मा मन और स्वसम्बन्धियों के लिये इस संसार के सुख, तथा (श्रेयसा च) विद्यादि शुभ गुणों के योग और मुक्तिसुख से (पुरुषं युनक्ति) मनुष्य को युक्त कर देता है ॥

इसलिये इस वर्णोच्चारण की श्रेष्ठ शिक्षा से शब्द के विज्ञान में सब लोग प्रयत्न करें ।

शब्द का लक्षण—

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ॥
महाभाष्य अ० १। पा० १। सू० २॥

अर्थ—जिस का कान इन्द्रिय से ज्ञान, बुद्धि से निरन्तर ग्रहण, और उच्चारण से प्रकाश होता है, तथा जिसके निवास का स्थान आकाश है' वह 'शब्द' कहाता है॥

शब्दब्रह्म का माहात्म्य

आगे प्रणव='ओ३म्' शब्दब्रह्म का माहात्म्य वर्णन करते हैं। पूर्वोक्त कथन से ज्ञात होता है कि अच्छे प्रकार प्रयुक्त किये शब्द का फल मुक्ति है। क्योंकि श्रवणचतुष्टय द्वारा तृण से लेकर पृथिवी और परमेश्वरपर्यंन्त का साक्षात्कार नाम विज्ञान प्राप्त होता है। अत एव 'ओ३म्' महामन्त्र के जप की, जो ईश्वर का निज नाम है, महिमा =माहात्म्य तो अकथनीय ही जानो। इस ही कारण से मुमुक्षुजनों को अत्यन्त उचित है कि ध्यानयोग में जब प्रवृत्त हों, तब 'ओ३म्' शब्द का अच्छे प्रकार उच्चारण करें, और उसके अर्थ को समझें।

धारणा तथा संयम करने के लिये शरीरान्तर्गत अनेक देशों का वर्णन प्रथम हो चुका है। उन में से जिस-किसी एक देश में ध्यान ठहराकर 'ओ३म्' का मानसिक जप किया जाता है। वहां मन तथा सब इन्द्रियों का संयोग होने के कारण मन तो 'ओ३म्' महा-मन्त्र का मानसिक=उपांशु जाप नाम उच्चारण करता है, कान= श्रवणेन्द्रिय की दिव्य अन्तर्गत शक्ति द्वारा सुनता है, और बुद्धि द्वारा ओम् मन्त्र के अर्थ, ईश्वर का ग्रहण=चिन्तन आदि सब क्रिया उक्त महाभाष्योक्त प्रमाणानुसार होती हैं। इन सब प्रमाणों से स्पष्टतया सिद्ध है कि इच्छा अर्थात् वासना ही शब्द का मूल कारण है।

जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर का लक्षण मुक्ति के साधनविषय में वर्णित हो चुका है। उस शरीर में जब जीवात्मा वासना को ध्यान-योग से ध्येय करके निवारण करता है, तब वासना के स्वरूप का

ज्ञान होता है। इस प्रकार संयम करनेरूप अभ्यास को 'वासनायाम' कहते हैं! जिससे अन्य सब वासनाओं का सम्यक् निरोध करने के उपरान्त 'ओ३म्' महामन्त्र के उच्चारण की इच्छा वा वासना करके मानसी व्यापार में जब ध्यानयोगद्वारा जो कोई ओंकाररूपी शब्द-ब्रह्म को ध्येय करता है, वही समाधिस्थ बुद्धि से उस ही परब्रह्म को प्राप्त होता है, जिसका कि परमोत्कृष्ट नाम 'ओ३म्' है। सारांश यह है कि सम्पूर्ण वेदों का स्वरूप तत्त्व जो 'ओ३म्' पदरूप शब्दब्रह्म है, वह परमात्मा के जानने और मुक्ति का साधन है।

वासनायाम की विधि

जीव की निज शक्ति में धनञ्जय अथवा सूत्रात्मा प्राण द्वारा जब वासनायाम किया जाता है, तब सब वासना निवृत्त हो जाती है, और जीव को अपने स्वरूप का भी ज्ञान होता है। यही वासनायाम की विधि है। सब प्राणों से अत्यन्त सूक्ष्म 'धनञ्जय' प्राण है। और उससे भी अतीव सूक्ष्म 'सूत्रात्मा' है। अतः वासनायाम का अनुष्ठान महाकठिन है कि जिसका समझना-समझाना भी वाणी से दुस्तर है। अतएव इसी अभ्यास का करनेवाला योगी ही समझ सकता है।

सर्वभूत-शब्दज्ञान

जिन प्राणों में वासनायाम का संयम किया जाता है, उन ही पवनों में संयम करने से शब्द का भी यथावत् ज्ञान होता है। तथा पूर्वोक्त वर्णोच्चारणशिक्षानुकूल वेदाङ्गप्रकाशोक्त अक्षरों के उच्चारण के भिन्न-भिन्न स्थानों को अच्छे प्रकार समझकर एक-एक अक्षर के भिन्न-भिन्न स्थान में उस-उस प्रयत्नपूर्वक पृथक्-पृथक् संयम करने से शब्द-ब्रह्म का जब यथावस्थित पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, तब योगी पशु-पक्षियों की समस्त वाणियों को भी समझ सकता है। तथा साम-वेदादिगान, और ह्रस्व दीर्घ प्लुत उदात्त अनुदात्त स्वरित आदि भेद से वर्णों का स्पष्ट यथावत् उच्चारण वही मनुष्य कर सकता है, जिसने उक्त प्रकार शब्दब्रह्म का संयम किया हो। और जिसने

अङ्गुष्ठ के मूल की नाड़ी की गति को ध्येय करके उसमें संयम किया हो। वही ह्रस्व दीर्घ प्लुत स्वरों का यथावत् उच्चारण करना जान सकता है। क्योंकि उन स्वरों के काल का नियम कहा गया है कि जितने समय में अङ्गुष्ठमूलस्थ नाड़ी की गति एक बार होती है, उतने समय में ह्रस्व, उससे दूने समय में दीर्घ और उसके तिगुने काल में प्लुत का उच्चारण करना चाहिये।

नाड़ी की इस गति का निश्चित बोध करने के लिये उस नाड़ी में संयम करना चाहिये। इस संयम के किये बिना वर्णों के उच्चारण का संयम तथा नाड़ी की गति का भी ज्ञान यथावत् नहीं होता। क्योंकि बाल युवा वृद्ध रोगी दुर्बल और बलवान् स्त्री-पुरुषों की नाड़ी की गति एक सी नहीं होती। इसी कारण योगी वैद्य, जिसने इस नाड़ी में संयम किया हो, वही रोग का निदान यथावत् कर सकेगा। अन्य साधारण वैद्य रोगों की ठीक-ठीक परीक्षा कदापि नहीं कर सकते।

जिस-जिस वर्ण के उच्चारण के लिये जैसा विधान 'वर्णोच्चारण-शिक्षा' में किया है, उसको ठीक-ठीक जानकर शब्दाक्षरों का प्रयोग ज्यों का त्यों करना उचित है। प्राचीन समय के विद्यार्थियों को आरम्भ में इस ही प्रकार शिक्षा दी जाती थी। बड़े होने पर योगाभ्यास की रीति से उन-उन स्थानों में संयम करने से पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अर्थात् 'वर्णोच्चारणशिक्षा' से ही योग की शिक्षा का भी आरम्भ होता था। अब भी वैसा ही जब होगा, तब ही कल्याण का भी उदय होगा।

पापकर्मों का जब तक क्षय नहीं होता, तब तक जीव मुक्त नहीं होता। और अधर्म-युक्त=अवैदिक काम्य वा पाप कर्मों का क्षय तब ही होता है, जब कि दुष्ट वासनाओं का सम्यक् निरोध हो जाता है।

इस में वेदांत का प्रमाण है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे पराऽवरे ॥
मु० २। खं० २। मं० १८ [स० प्र०, समु० ६, पृष्ठ ३७१] ॥

अर्थ—जब इस जीव के हृदय की अविद्यारूपी गांठ कट जाती है, तब सब संशय छिन्न होते और दुष्टकर्म क्षय को प्राप्त होते हैं। तभी उस परमात्मा, जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उसमें निवास करता है। अर्थात् तभी जीव मुक्त होकर परमेश्वर के आधार में मुक्ति के आनन्द को भोगता है ॥

धनञ्जय तथा सूत्रात्मा नामक वायुओं=प्राणों में संयम करने का वेदोक्त प्रमाण संयम-विषय में पहिले कह चुके हैं।

——:०:——

मोक्ष वा मुक्ति का विवेचन

इस 'ध्यान-योग-प्रकाश' नामक ग्रन्थ के अनुसार योगाभ्यास रूपी परमात्मा की उपासना करने का मुख्य प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति है। वह मोक्ष जीव को तब प्राप्त होता है, जब कि उसकी अविद्या सर्वथा नष्ट हो जाती है। जैसा कि यजुर्वेद के अध्याय ४० में ईश्वर ने उपदेश किया है। यथा—

[क] विद्या और अविद्या के उपयोग से मोक्ष-प्राप्ति

ओं विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय॑ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
यजु० अ० ४०। मं० १४ [स० प्र०, समु० ६, पृष्ठ ३४३]॥

पदार्थ—(यः [विद्वान्] विद्याम् च) जो विद्वान् विद्या और उसके सम्बन्धी साधनोपसाधनों, तथा (अविद्याम् च) अविद्या और उसके उपयोगी साधनसमूह को, और (तत् उभयम् सह वेद, [सः]) इन दोनों के ध्यानगम्य मर्म और स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह (अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा) शरीरादि जड़ पदार्थ-समूह से किये पुरुषार्थ (=कर्मकाण्डोक्त कर्मयोग वा कर्मोपासना) से मरण-

दुःख के भय को उल्लङ्घन करके वा तरके, (विद्यया अमृतम् अश्नुते) आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग में जो धर्म उससे उत्पन्न हुये पदार्थ-दर्शनरूप विद्या से अर्थात् यथार्थ ज्ञान वा ज्ञानकाण्ड के परिणामरूप विज्ञान से नाशरहित अपने स्वरूप वा परमात्मा को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या और अविद्या को उनके स्वरूप से जान, 'इनके जड़ चेतन साधक हैं' ऐसा निश्चय कर सब शरीरादि जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा को धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये साथ ही साथ प्रयोग करते हैं, वे लौकिक दुःख को छोड़ परमार्थ के सुख को प्राप्त होते हैं। जो जड़ प्रकृति आदि कारण वा शरीरादि कार्य न हों, तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति और जीव कर्म उपासना और ज्ञान के करने को कैसे समर्थ हों ? इससे न केवल जड़ से, न केवल चेतन से, अथवा न केवल कर्म से, तथा न केवल ज्ञान से कोई धर्मादि पदार्थों की सिद्धि करने को समर्थ होता है ॥

अर्थात् अनादिगुणयुक्त चेतन से जो उपभोग होने योग्य है, वह अज्ञानयुक्त जड़ से कदापि नहीं सिद्ध होता। और जो जड़ से प्रयोजन सिद्ध होता है, वह चेतन से नहीं होता। अतएव सब मनुष्यों को विद्वानों के संग योग-विज्ञान और धर्माचारण से इन दोनों का विवेक करके दोनों से उपयोग लेना चाहिये।

विद्या और अविद्या चार-चार प्रकार की—विद्या और अविद्या दोनों चार-चार प्रकार की हैं। प्रथम अविद्या का वर्णन करके पश्चात् विद्या के स्वरूप को कहेंगे। उपरोक्त मन्त्र में किये उपदेश से विद्या और अविद्या के स्वरूप के जानने की आवश्यकता पाई जाती है। अतएव प्रथम 'अविद्या' का वर्णन करते हैं—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

यो० पा० २। सू० ५ [स० प्र०, समु० ६, पृ० ३४३] ॥

अर्थ—अनित्य संसार और देहादि में नित्यपने की भावना

करना, अर्थात् जो कार्य-जगत् देखा सुना जाता है,वह सदा रहेगा और सदा से है, और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है। अर्थात् शरीर और लोक-लोकान्तरादि पदार्थों का समुदाय जो कार्यरूप जगत् अनित्य है, उसको नित्य मानना। तथा जीव, ईश्वर, जगत् का कारण, क्रिया-क्रियावान्, गुण-गुणी, और धर्म-धर्मी इन नित्य पदार्थों को तथा उनके सम्बन्ध को अनित्य=नाशवान् मानना, 'यह अविद्या का प्रथम भाग' है। अशुचि अर्थात् मलमूत्र आदि के समुदाय, दुर्गन्धरूप मल से परि-पूर्ण स्त्री आदि के शरीरों में पवित्र बुद्धि का करना; तथा तालाब बावड़ी कुण्ड कूआ और नदी मूर्ति आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना, और उनका चरणामृत पीना; एकादशी आदि मिथ्याव्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना; स्पर्शादि इन्द्रियों के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध=अपवित्र पदार्थों को शुद्ध मानना। और सत्यविद्या सत्यभाषण धर्म सत्संग परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता सर्वोपकार करना, सब से प्रेमभाव वर्तना आदि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना, 'यह अविद्या का दूसरा भाग' है। दुःख में सुख-बुद्धि, अर्थात् विषयतृष्णा काम क्रोध लोभ मोह शोक ईर्ष्या द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना; और जितेन्द्रियता निष्काम शम सन्तोष विवेक प्रसन्नता प्रेम मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःख-बुद्धि का करना, 'यह अविद्या का तीसरा भाग' है। अनात्मा में आत्मबुद्धि का होना, अर्थात् जड़ में चेतन का भाव वा चेतन में जड़ का भाव करना, 'यह अविद्या का चतुर्थ भाग' है॥

विद्या का लक्षण—उक्त अविद्या से विपरीत अर्थात् (१) अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, (२) अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, (३) दुःख में दुःख और सुख में सुख, (४) अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना 'विद्या' है।

इस प्रकार विद्या के भी चार भाग हुए । अर्थात् यथार्थ ज्ञान को 'विद्या' और मिथ्याज्ञान को 'अविद्या' कहते हैं । [द्र०—स०प्र०, नवम समु०, पृ० ३४४, ऋ० भा० भू०, पृ० २०६, २१०]

[ख] सम्भूति और असम्भूति की उपासना का निषेध

उक्त चार प्रकार की अविद्या अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होकर उनको संसार में सदा नचाती रहती है । जैसा कि वेद में कहा है, सो आगे तीन मन्त्रों में लिखते हैं—

ओम् अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥
य० अ० ४० । मं० ६ ॥

पदार्थ—(ये) जो लोग परमेश्वर को छोड़के (असम्भूतिम्) अनादि अनुत्पन्न सत्त्व रज और तमोगुणमय प्रकृतिरूप जड़वस्तु को (उपासते) उपास्यभाव से जानते वा मानते हैं, वे सब लोग (अन्धन्तमः) आवरण करनेवाले अन्धकार को (प्रविशन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं । और (ये) जो (सम्भूत्याम्) महत्तत्व आदि स्वरूप से परिणाम को प्राप्त हुई सृष्टि में (रताः) रमण करते हैं, (ते) वे (उ) वितर्क के साथ (ततः) उससे भी (भूय इव) अधिक (तमः) अविद्यारूप अन्धकार को प्राप्त होते हैं ॥

भावार्थ—जो मनुष्य समस्त जड़ जगत् के अनादि नित्य कारण को उपास्यभाव से स्वीकार करते हैं, वे अविद्या को प्राप्त होकर सदा क्लेश को प्राप्त होते हैं । और जो उस कारण से उत्पन्न स्थूल सूक्ष्म कार्यकारणाख्या अनित्य संयोगजन्य कार्य-जगत् को इष्ट उपास्य मानते हैं, वे गाढ़ अविद्या को पाके अधिकतर क्लेश को प्राप्त होते हैं ।

परन्तु इस कार्यकारणरूप सृष्टि से क्या-क्या सिद्ध करना चाहिये, अर्थात् उसका किस प्रकार उपयोग करना उचित है, सो आगे कहते हैं—

[ग] सम्भूति और असम्भूति के उपयोग से मोक्ष-प्राप्ति की विधि

ओं सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥
यजु० अ० ४० । मं० ११ ॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिस में सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उस कार्यरूप सृष्टि, (च) और उसके गुण कर्म स्वभावों को, तथा (विनाशम्) जिसमें पदार्थ नष्ट होते हैं, उस कारणरूप जगत्, (च) और उसके गुण कर्म स्वभावों को (सह) एक साथ (उभयम्) दोनों (तत्) उन कार्य और कारण स्वरूपों को (वेद) जानता है, वह विद्वान् (विनाशेन) नित्यस्वरूप जाने हुए कारण के साथ (मृत्युम्) शरीर छूटने के दुःख को (तीर्त्वा) उल्लङ्घन करके (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप उत्पन्न हुई कार्यरूप, धर्म में प्रवृत्त करानेवाली सृष्टि के साथ (अमृतम्) मोक्षसुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! कार्यकारणरूप वस्तु निरर्थक नहीं है, किन्तु कार्यकारण के गुण कर्म स्वभावों को जानके धर्म आदि मोक्ष के साधनों में संयुक्त करके, अपने शरीरादि के कार्य-कारण को नित्यत्व से जानके, मरण का भय छोड़के मोक्ष की सिद्धि करो । इस प्रकार कार्य-कारण से अन्य ही फल सिद्ध करना चाहिये । इस कार्य-कारण का निषेध उस प्रकरण में करना चाहिये कि जिस में इन की उपासना अज्ञानी लोग ईश्वर के स्थान में करते हैं ॥

इस मन्त्र से "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"वादी वेदान्तियों तथा मूर्ति आदि जड़ पदार्थों के पूजकों के मतों का खण्डन भी होता है । आगे 'विद्या और अविद्या की उपासना का फल लिखते हैं—

[घ] विद्या और अविद्या के विपरीत उपयोग में हानि

ओम् अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो यऽ उ विद्यायाँ रताः ॥

'य० अ० ४० । मं० १२ ॥

पदार्थ—(ये) जो मनुष्य (अविद्याम्) अनित्य में नित्य, अशुद्ध में शुद्ध, दुःख में सुख, और अनात्मा=शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप अविद्या को, अर्थात् ज्ञानादिगुणरहित कार्यकारणरूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु की (उपासते) उपासना करते हैं, वे (अन्धन्तमः) दृष्टि के रोकनेवाले अन्धकार और अत्यन्त अज्ञान को (प्रविशन्ति) प्राप्त होते हैं। और (ये) जो अपने आत्मा को पण्डित माननेवाले (विद्यायाम्) शब्द अर्थ और इनके सम्बन्ध के जानने मात्र अवैदिक आचरण में (रताः) रमण करते हैं, (ते) वे (उ) भी (ततः) उस से (भूयइव) अधिकतर (तमः) अज्ञानरूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥

भावार्थ—जो चेतन ज्ञानादिगुणयुक्त वस्तु है, वह जानने-वाला है, और जो अविद्यारूप है, वह जानने योग्य है। और जो चेतन ब्रह्म तथा विद्वान् का आत्मा है, वह उपासना के योग्य है। जो इससे भिन्न है, वह उपास्य नहीं है, किन्तु उपकार लेने योग्य है। जो मनुष्य अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों से युक्त हैं, वे परमात्मा को छोड़ इससे भिन्न जड़वस्तु की उपासना करके महान् दुःख-सागर में डूबते हैं। और जो शब्द अर्थ का अन्वय-मात्र संस्कृत पढ़के सत्यभाषण पक्षपातरहित न्याय का आचरणरूप धर्म का आचरण नहीं करते, अभिमान में आरूढ़ हुए विद्या का तिरस्कार कर अविद्या ही को मानते हैं, वे अत्यन्त तमोगुणरूप दुःख-सागर में निरन्तर पीड़ित होते हैं ॥

अर्थात् इस मन्त्र में कहे अविद्यादि क्लेशों, अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ

गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को पाता है। अतएव अविद्यादि क्लेशों की व्याख्या आगे कहते हैं—

[ङ] अविद्यादि पांच क्लेश

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ यो० पा० २। सू० ३ [ऋ० भा० भू०, पृष्ठ २०९-२१२] ॥

अर्थ—(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष, और (५) अभिनिवेश ये पांच प्रकार के क्लेश हैं ॥ इनमें से—

१. 'अविद्या' का स्वरूप और लक्षण प्रथम कह चुके हैं।

२. अस्मिता—दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥
यो० पा० २। सू० ६ ॥

अर्थ—द्रष्टा और दर्शनशक्ति को एकरूप ही जानना 'अस्मिता' कहाती है। अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना, अभिमान और अहंकार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को 'अस्मिता' जानो। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इनकी निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है ॥

३. राग—सुखानुशयी रागः ॥ यो० पा० २। सू० ७ ॥

अर्थ—जो-जो सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभ-सागर में बहना है, उसका नाम 'राग' है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब 'संयोग-वियोग' संयोगवियोगान्त है, अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग, तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब राग की निवृत्ति हो जाती हैं। अतएव सुखभोग की वासना इच्छा वा तृष्णा का नाम 'राग' है ॥

४. द्वेष—दुःखानुशयी द्वेषः ॥ यो० पा० २। सू० ८ ॥

अर्थ—जिस दुःखरूप अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो, उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। अर्थात् पूर्व भोगे

हुए दुःखों का जिस को ज्ञान है, उसका स्मरण संस्कारस्मृति-वृत्ति द्वारा रहता है, उन दुःखों के साधनों को इकट्ठा करने की इच्छा न करना, प्रत्युत उनकी निन्दा करना, उन पर क्रोध करना 'द्वेष' कहाता है। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से होती है॥

५. अभिनिवेश—स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥

यो० पा० २। सू० ९॥

अर्थ—सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें, अर्थात् कभी मरें नहीं। सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है, क्योंकि छोटे-छोटे कृमि चींटी आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर रहता है। इसी से इस क्लेश को 'अभिनिवेश' कहते हैं, जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्र जन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होती है कि जब मनुष्य, जीव परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य, और कार्यद्रव्य के संयोग-वियोग को अनित्य जान लेता है॥

अविद्यादि क्लेशों के नाश से मोक्ष की प्राप्ति

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्॥

यो० पा० २। सू० २५॥

अर्थ—जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं, तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूटके मुक्ति को प्राप्त हो जाता है॥

अविद्यारूप बीज के नाश से मोक्षप्राप्ति—'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्'॥ यो० पा० ३। सू० ४९॥

अर्थ—शोक-राहित्य आदि सिद्धि से विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे। क्योंकि उसके नाश के बिना मोक्ष कभी नहीं हो सकता। अर्थात् सब दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके विनष्ट हो

जाने से जब सिद्धियों से वैराग्य होता है, तब जीव को कैवल्य=मोक्ष प्राप्त होता है ॥

बुद्धि और जीव की शुद्धि से मोक्षप्राप्ति—'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति' ॥ यो० पा० ३ । सू० ५४ ॥

अर्थ—तथा सत्त्व जो बुद्धि, और पुरुष जो जीव इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं ॥

विवेक नाम ज्ञान से मोक्षप्राप्ति—'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' ॥ यो० पा० ४ । सू० २६ ॥

अर्थ—तब जो योगी का चित्त पूर्वकाल में विषयों के प्रकृष्ट भार से भरा था, सो अब उस योगी का चित्त विवेक से उत्पन्न हुए ज्ञान करके भर जाता है, अर्थात् कैवल्य=मुक्ति का भागी होता है ॥

सारांश यह है कि जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर योगी का आत्मा झुकता है, तब कैवल्य=मोक्षधर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है। तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फंसता जाता है, तब तक उसको मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है ॥

मोक्ष का लक्षण—आगे कैवल्य=मोक्ष का लक्षण कहते हैं—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ यो० पा० ४ । सू० ३४ ॥

अर्थ—कैवल्य=मोक्ष का लक्षण यह है कि कारण के सत्त्व रजस् और तमोगुण, और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके स्वरूपप्रतिष्ठा=जैसा जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञानप्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्य=मोक्ष कहते हैं ॥

अब मोक्षविषयक वेदोक्त प्रमाण आगे लिखते हैं—

मोक्षविषयक वेदोक्त प्रमाण

ओं ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानशुः ।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥१॥
ऋ० मं० १० । सू० ६२ । मं० १ ॥

अर्थ—ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्षसुख में प्रसन्न रहते हैं, जो परमेश्वर की सख्य=मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं। उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं। उनके जो 'अङ्गिरसः'—प्राण हैं, वे उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ानेवाले होते हैं। और उस मोक्ष-प्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं। और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक-दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं ॥१॥ [ऋ० भा० भू०, पृ० २१७, २१८]

ओं यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ २ ॥ ऋ० मं० १ । सू० १ । मं० ६ ॥

पदार्थ—(हे अङ्गिरः!) हे ब्रह्माण्ड के अङ्गों=पृथिवी आदि पदार्थों को प्राणरूप से, तथा शरीर के अङ्गों को अन्तर्यामीरूप से रसरूप होकर रक्षा करनेवाले परमेश्वर! और (अङ्ग अग्ने!) हे सब के मित्र परमेश्वर! (यत् दाशुषे) जिस हेतु से निर्लोभता से उत्तम-उत्तम पदार्थों के दान करनेवाले मनुष्य के लिये (त्वं भद्रं करिष्यसि) आप कल्याण, जो कि शिष्ट विद्वानों के योग्य है, उसको करते हो, (तव इत् तत् सत्यम्) वह आप ही का शील है ॥२॥

भावार्थ—जो न्याय दया कल्याण और सबका मित्रभाव करनेवाला परमेश्वर है, उस ही की उपासना करके जीव इस लोक के और मोक्ष के सुख को प्राप्त होता है। क्योंकि इस प्रकार सुख देने का स्वभाव और सामर्थ्य केवल परमेश्वर का है, दूसरे का नहीं। जैसे शरीरधारी अपने शरीर को धारण करता है, वैसे ही परमेश्वर

सब संसार को धारण करता है। इसी से इस संसार की यथावत् रक्षा और स्थिति होती है ॥२॥

मुक्त जीवों को अणिमादि सिद्धि की प्राप्ति

ओं स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽ आ द्याᳬ रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारᳬ सुविद्वाᳬसो वितेनिरे ॥३॥
य० अ० १७। मं० ६८ ॥

पदार्थ—(ये सुविद्वांसः यन्तः न स्वः अपेक्षन्ते) जो अच्छे पण्डित योगीजन योगाभ्यास के पूर्ण नियम करते हुओं के समान अत्यन्त सुख की अपेक्षा करते हैं, वा (रोदसी=द्यावापृथिव्यौ आरोहन्ति) आकाश और पृथिवी को चढ़ जाते, अर्थात् लोक-लोकान्तरों में इच्छापूर्वक चले जाते, वा (द्यां विश्वतोधारं यज्ञं वितेनिरे) प्रकाशमयी योगविद्या और सब ओर से सुशिक्षायुक्त वाणी है जिसमें, प्राप्त करने योग्य उस यज्ञादि कर्म का विस्तार करते हैं, [ते अक्षयं सुखं लभन्ते] वे अविनाशी सुख को प्राप्त होते हैं ॥३॥

भावार्थ—जैसे सारथि घोड़ों को अच्छे प्रकार सिखाकर और अभीष्ट मार्ग में चलाकर सुख से अभीष्ट स्थान को शीघ्र जाता है, वैसे ही अच्छे विद्वान् योगीजन जितेन्द्रिय होकर नियम से अपने इष्ट देव परमात्मा को पाकर आनन्द का विस्तार करते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में कही आकाशमार्गगमनादि=अणिमादि सिद्धि शरीर छूटने के उपरान्त मुक्त हुए जीवों को प्राप्त होती है।

ओं यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥४॥
यजु० अ० ३१। मं० १६ ॥

पदार्थ—[हे मनुष्याः! ये] हे मनुष्यो! जो (देवाः=विद्वांसः) विद्वान् लोग (यज्ञेन यज्ञम्=ज्ञानेन पूजनीयं सर्वरक्षक-मग्निवत्तापनम् अयजन्त=पूजयन्ति) ज्ञानयज्ञ से पूजनीय सर्वरक्षक अग्निवत् तेजस्वी ईश्वर की पूजा करते हैं, (तानि धर्माणि प्रथमानि

आसन्=तानि धारणात्मकानि अनादिभूतानि मुख्यानि सन्ति) वे ईश्वर की पूजादि धारणारूप धर्म्म अनादिरूप से मुख्य हैं। (ते महिमानः=ते महित्वयुक्ताः सन्तः) वे विद्वान् महत्व से युक्त हुए, (यत्र पूर्वे=यस्मिन् सुखे इतः पूर्वसम्भवाः) जिस सुख में इस समय से पूर्व हुये, (साध्याः देवाः सन्ति=कृतसाधनाः देदीप्यमाना विद्वांसः सन्ति) साधनों को किये हुए प्रकाशमान विद्वान् हैं, (नाकं ह सचन्त=तत् अविद्यमानदुःखं मुक्तिसुखम् एव समवयन्ति=प्राप्नुवन्ति, [तद् यूयमप्याप्नुत]) उस सर्वदुःखरहित मोक्षसुख को ही प्राप्त होते हैं, उसको तुम लोग भी प्राप्त होओ ।।४।।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि योगाभ्यास आदि से सदा ईश्वर की उपासना करें। इस अनादि काल से प्रवृत्त धर्म से मुक्ति-सुख को पाके पहिले मुक्त हुये विद्वानों के समान आनन्द भोगें ।।४।।

ओं रायो बुध्नः संगमनो वसूनां यज्ञस्य केतुर्मन्मसाधनो वेः।
अमृतत्वं रक्षमाणास एनं देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम् ।।५।।
ऋ० मं० १। सू० ९६। मं० ६ ।।

पदार्थ—[हे मनुष्याः ! यः परमेश्वरः] हे मनुष्यो ! जो परमेश्वर (वेः=कमनीयस्य) मनोहर, और (यज्ञस्य=संगमनीयस्य विद्याबोधस्य) अच्छे प्रकार समझने योग्य विद्याबोध का, तथा (बुध्नः=यो बोधयति सर्वान् पदार्थान् वेदद्वारा सः) वेद-विद्या द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का बोध करानेहारा, (केतुः=ज्ञापकः) सब व्यवहारों को अनेक प्रकारों से चितावनेवाला, (मन्मसाधनः=यो मन्मानि विचारयुक्तानि कार्याणि, साधयति सः) विचारयुक्त कामों को सिद्ध करनेवाला, (रायः=विद्याचक्रवर्त्तिराज्यधनस्य) विद्या तथा चक्रवर्त्तिराज्यधन का, और (वसूनाम्=अग्निपृथिव्याद्यष्टानां त्रयस्त्रिंशद्देवान्तर्गतानाम्) तेंतीस देवताओं के अन्तर्गत अग्नि पृथिवी आदि आठ देवताओं का (संगमनः=यः सम्यग् गमयति सः) अच्छे प्रकार प्राप्त करनेवाला है, ([या] अमृत-

त्वम्=प्राप्तमोक्षाणाम्भावम्) अथवा मोक्षमार्ग की (रक्षमाणासः =ये रक्षन्ति ते) रक्षा करनेवाले (देवाः=आप्तविद्वज्जनाः [यम्]) आप्त विद्वान् जन जिस (द्रविणोदाम्=यो द्रव्याणि धनादिपदार्थादीनि ददाति तम्) धन आदि पदार्थों के देनेवाले, (अग्निम्=परमेश्वरम्) परमेश्वर को (धारयन्=धारयन्ति) धारण करते वा कराते हैं, ([तमेव] एनम् [इष्टदेवं यूयं मन्यध्वम्]) उस ही परमेश्वर को तुम लोग इष्टदेव मानो ॥५॥

भावार्थ—जीवन्मुक्तविदेहमुक्ता वा विद्वांसो यमाश्रित्यानन्दन्ति स एव सर्वैरुपासनीयः=जीवन्मुक्त अर्थात् देहाभिमान आदि को छोड़े हुए, वा शरीरत्यागी मुक्तजन जिसका आश्रय करके आनन्द को प्राप्त होते हैं, वही परमेश्वर सबके उपासना करने योग्य है ॥५॥

यो ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन् ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य ।
येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या अधिस्नुषु॥६॥
य० अ० १७। मं० १४॥

पदार्थ—(ये देवाः देवेषु अधि) जो पूर्ण विद्वान् विद्वानों में सब से उत्तम कक्षा में विराजमान, (देवत्वम् आयन्) अपने गुण-कर्म स्वभाव को प्राप्त होते हैं, (ये अस्य ब्रह्मणः पुरः एतारः) जो इस परमेश्वर को पहिले प्राप्त होनेवाले हैं, (येभ्यः ऋते किञ्चन धाम न पवते) जिन के बिना कोई भी सुख का स्थान नहीं पवित्र होता, (ते न दिवः [स्नुषु] न पृथिव्याः अधिस्नुष्वायन्=नाधिवसन्तीति यावत्) वे विद्वान् लोग न सूर्यलोक के प्रदेशों में और न पृथिवी के प्रदेशों में वास करते हैं ॥६॥

भावार्थ—जो इस जगत् में उत्तम विद्वान् योगाधिराज यथार्थता से परमेश्वर को जानते हैं, वे सम्पूर्ण प्राणियों को शुद्ध करते और जीवन्मुक्त दशा में परोपकार करते हुये विदेहमुक्ति अवस्था में न सूर्यलोक और न पृथिवी पर नियम से बसते हैं,

किन्तु ईश्वर में स्थिर होके अव्याहतगति से सर्वत्र विचरा करते हैं ॥ ६ ॥

ओं पृथिव्याऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ ७ ॥

य० अ० १७ । मं० ६७ ॥

पदार्थ—([हे मनुष्याः ! यथा कृतयोगाङ्गानुष्ठानसंयमसिद्धः अहम्]) हे मनुष्यो ! जैसे किये हुए योग के अंगों के अनुष्ठान संयमसिद्ध अर्थात् धारणा ध्यान समाधि में परिपूर्ण मैं (पृथिव्याः अन्तरिक्षम् उत् आ अरुहम्) पृथिवी के बीच से आकाश को उठ जाऊं, वा (अन्तरिक्षात् दिवम् आ अरुहम्) आकाश से प्रकाशमान सूर्यलोक को चढ़ जाऊं, वा (नाकस्य दिवः पृष्ठात् स्वः ज्योतिः अहम् अगाम्) सुख करानेहारे प्रकाशमान उस सूर्यलोक के समीप से अत्यन्त सुख और ज्ञान के प्रकाश को मैं प्राप्त होऊं [तथा यूयमप्याचरत=वैसा तुम भी आचरण करो] ॥ ७ ॥

भावार्थ—यदा मनुष्यः स्वात्मना सह परमात्मानं युङ्क्ते, तदाऽणिमादयः सिद्धयः प्रादुर्भवन्ति । ततोऽव्याहतगत्याभीष्टानि स्थानानि गन्तुं शक्नोति नान्यथा—जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है, तब अणिमादि सिद्धियां उत्पन्न होती हैं। उसके पीछे कहीं से न रुकनेवाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं ॥७॥

आकाश में उठ जाने, सूर्य-चन्द्रादि लोक-लोकान्तरों में स्वेच्छानुसार अव्याहतगतिपूर्वक भ्रमण करने आदि की शक्तियां=अणिमादि सिद्धियां मरण के पश्चात् ही मुक्त जीवों को प्राप्त होती हैं, जीवित दशा में कदापि नहीं। जो लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि जीते जी जीवन्मुक्त योगी पुरुषों को उक्त शक्तियां सिद्ध हो जाती हैं, वे वृथा भ्रम में पड़े हैं ।

यह बात निःस्सन्देह=निश्चित जानो कि कोई भी योगी न तो अपने देह को रबड़वत् खेंचतान वा सकोड़कर बड़ा वा छोटा कर सकता है, न कायप्रवेश, न बेरोकटोक=अव्याहतगति से सूर्य-चन्द्रादि लोक-लोकान्तरों में आकाश मार्गद्वारा गमन, और न संकल्प-मात्र से शरीर-रचना तथा उसका धारण वा त्याग कदापि कर सकता है। किन्तु मृत्यु के पश्चात् शरीर से पृथक् होने पर वे अपनी इच्छापूर्वक मोक्ष का आनन्द भोगते हुए छोटे वा बड़े अभीष्ट देह को धारण, तथा आकाश में सर्वत्र जहां चाहते हैं, वहां चले जा सकते हैं। इसी कारण श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने भी मुक्तिविषय में ही इन सिद्धियों का वर्णन उपनिषद् तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के प्रमाणपूर्वक किया है।

आत्मब्रह्मज्ञानी विद्वान्-महात्माओं का सत्संग, सेवा-शुश्रूषा-विषयक उपदेश, तथा मुक्तजीव का लक्षण

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोके जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥८॥
मुण्ड ३। खण्ड १। मं० १०॥

पदार्थ—(विशुद्धसत्त्वः) जब विद्वान् उपासक योगी प्रकृति का आधार छोड़कर अपने विशुद्धसत्त्व आत्मदिव्य स्वरूप से निष्केवल =परम शुद्ध परमात्मा के ही आधार में मृत्यु को उल्लंघन करके अमृत=मोक्षसुख को प्राप्त होता है, तब (यं यं लोकम्) जिस-जिस सूर्यादिलोक में पहुंचने का (मनसा संविभाति) मन से संकल्प अर्थात् इच्छा करता है, (यान् च कामान्) और जिन सुख-भोगों की (कामयते) अभिलाषा करता है, (तं तं लोकं तान् कामान् च) उस-उस लोक और उन सब कामनाओं को (जायते) प्राप्त होता है। (तस्मात् भूमिकामः) इसलिये योगसम्बन्धी सिद्धियों के चाहनेवाले जिज्ञासु पुरुष को उचित है कि (आत्मज्ञं हि अर्चयेत्) ब्रह्मज्ञानी महात्मा की सेवा-शुश्रूषा सत्कार अवश्य करे॥८॥

ओम् अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः ।
साहस्रस्य रायऽ ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥९॥
यजु० अ० १७ । मं० ७१ ॥

पदार्थ—(हे सहस्राक्ष शतमूर्द्धन् अग्ने=योगिराज!) हे हजारहों व्यवहारों में अपना विशेष ज्ञान, वा सैंकड़ों प्राणियों में मस्तकवाले, अग्नि के समान प्रकाशमान योगिराज ! जिस (ते शतम् प्राणाः) आपके सैंकड़ों जीवन के साधन, तथा (सहस्रं व्यानाः) हजारहों क्रियाओं के निमित्त शरीरस्थ वायु, तथा जो (त्वं साहस्रस्य रायः ईशिषे) आप हजारहों जीव और पदार्थों का आधार जो जगत् उसके धन के स्वामी हैं, (तस्मै वाजाय ते [वयम्]) उस विशेष ज्ञानवाले आपके लिये हम लोग (स्वाहा विधेम) सत्यवाणी से सत्कारपूर्वक व्यवहार करें ॥९॥

भावार्थ – जो योगी पुरुष तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधानं आदि योग के साधनों से योग=धारणा ध्यान समाधिरूप संयम के बल को प्राप्त होके, और अनेक प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करके अनेक शिर नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है, अनेक पदार्थों वा धनों का स्वामी भी हो सकता है, उसका हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिये ॥९॥

इस मन्त्र में योगी को कायप्रवेश की सिद्धि के प्राप्त होने का वर्णन है। सो जैसे अणिमादि सिद्धियां कैवल्य मुक्ति प्राप्त योगी को सिद्ध होती हैं, वैसे ही यह सिद्धि भी कैवल्य=मुक्तिवाले को ही प्राप्त होती है।

अधर्मी मनुष्य ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं होते, अतः उनको मोक्ष भी नहीं प्राप्त होता

ओं न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥१०॥
यजु० अ० १७ । मं० ३१ ॥

पदार्थ—[हे मनुष्याः ! यथा अब्रह्मविदः जनाः] हे मनुष्यो ! जैसे ब्रह्म को न जाननेवाले पुरुष (नीहारेण चाऽज्ञानेन प्रावृताः) धूम के आकार कुहर के समान अज्ञानरूप अन्धकार से अच्छे प्रकार से ढके हुए, (जल्प्याः) थोड़े सत्य-असत्य वादानुवाद में स्थिर रहनेवाले, (असुतृपः उक्थशासः) प्राणपोषक, और योगाभ्यास को छोड़ शब्द अर्थ सम्बन्ध के खण्डन में रमण करते हुए (चरन्ति [तथाभूताः यूयम्]) विचरते हैं, वैसे हुए तुम लोग [तं न विदाथ] उस परमात्मा को नहीं जानते हो, (यः इमा जजान) जो इन प्रजाओं को उत्पन्न करता है, (यद् [ब्रह्म] युष्माकम् [सकाशात्] अन्यत् अन्तरम् बभूव) जो ब्रह्म तुम अधर्मी अज्ञानियों के सकाश से अन्यत्= कार्यकरणरूप जगत् और जीवों से भिन्न, तथा सबों में स्थिर हुआ भी दूरस्थ के समान होता है। [तदतिसूक्ष्ममात्मन आत्मभूतं न विदाथ] उस अतिसूक्ष्म आत्मा के आत्मरूप अर्थात् परमात्मा को तुम नहीं जानते ॥१०॥

भावार्थ—जो पुरुष ब्रह्मचर्य आदि व्रत आचरण, विद्यायोगाभ्यास, धर्म के अनुष्ठान सत्सङ्ग और पुरुषार्थ से रहित हैं, वे अज्ञानरूप अन्धकार में दबे हुए, ब्रह्म को नहीं जान सकते। जो ब्रह्म जीवों से पृथक् अन्तर्यामी सब का नियन्ता और सर्वत्र व्याप्त है। उसके जानने को जिनका आत्मा पवित्र है, वे ही योग्य होते हैं, अन्य नहीं ॥१०॥

तात्पर्य यह है कि दुष्टजन ब्रह्मविद्या=योगाभ्यास द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करने के अधिकारी नहीं हैं। अतएव उनको मुक्ति मिलना भी दुर्लभ है। अर्थापत्ति से यह आशय निकला कि जिनके अन्तःकरण के संस्कार शुद्ध होकर आचरण अर्थात् गुण कर्म स्वभाव शुभ हैं, वे ही जन मोक्षमार्ग और मोक्षप्राप्ति के अधिकारी हो सकते हैं।

———o———

अथ उपासना-योगे विज्ञान-योगः

तत्रादौ 'आत्मवादः'

वेद-वेदान्तादि शास्त्रों में बहुधा 'आत्मा' इस एक पद से ही दोनों आत्माओं=जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण होता है। किन्तु विद्वान् लोग प्रकरणानुकूल यथार्थ अभिप्राय जान ही लेते हैं, और अविद्वानों तथा वेद-विरुद्धमतानुयायी जनों को भ्रम ही होता है। उस भ्रम के निराकरणार्थ, तथा जीवब्रह्म का भेद स्पष्टतया दर्शाने के हेतु वेदों तथा वेदान्त-ग्रन्थों के अनुसार अब इस आत्मवाद का संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

अथाग्निदृष्टान्तेन जीवगुणा उपदिश्यन्ते=अग्नि के, दृष्टान्त से जिस प्रकार ईश्वर ने वेदों में जीवात्मा के गुणों का उपदेश किया है, उसकी व्याख्या आगे करते हैं—

नू चित् सहोजा अमृतो नि तुन्दते होता यद् दूतो अभवद्विवस्वतः।
वि साधिष्ठेभिः पथिभी रजो मम आ देवताता हविषा विवासति ॥१॥

ऋ० मं० १। सू० ५८। मं० १॥

पदार्थ—हे मनुष्यो! (यत्) जो (चित्) विद्युत् के समान स्वयंप्रकाशमान, (सहोजाः) बल को उत्पादन करनेहारा, (अमृतः) स्वस्वरूप से नाशरहित, (होता) कर्मफल का भोक्ता, और सब मन और शरीर आदि सबका धारण करनेहारा, (दूतः) सबको चलानेहारा, (देवताता) दिव्य पदार्थों के मध्य में दिव्यस्वरूप, (अभवत्) होता है, और जो (साधिष्ठेभिः पथिभिः) अधिष्ठानों के सहवर्त्तमान मार्गों में (रजः नु) पृथिवी आदि लोकसमूह के शीघ्र बनानेहारे (विवस्वतः [मध्ये वर्त्तमानः सन्]) स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर के मध्य में वर्त्तमान होकर (हविषा) ग्रहण किये हुए शरीर-सहित (नितुन्दते=नितराम् व्यथते) निरन्तर जन्म मरण आदि दुःखों से पीड़ित होता है, और अपने कर्मों के फलों का (विवासति) सेवन

करता है, और अपने कर्मों में (वि आ भमे) सब प्रकार से वर्त्तता है, [स जीवात्मा वेदितव्यः]सो जीवात्मा है, ऐसा तुम लोग जानो ॥१॥

भावार्थ—अनादि अर्थात् उत्पत्तिरहित, सत्यस्वरूप, ज्ञानमय, आनन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, स्वप्रकाशस्वरूप, सब को धारण करनेवाला, सबका उत्पादक, देश काल और वस्तुओं के परिच्छेद से रहित, सर्वव्यापक परमेश्वर के आधार में नित्य व्याप्यव्यापक सम्बन्ध से जो अनादि नित्य चेतन अल्प एकदेशस्थ और अल्पज्ञ है, हे मनुष्यो ! वही जीव है, ऐसा तुम लाग निश्चित जानो ॥१॥

उपर्युक्त मन्त्र तथा उसके भावार्थ से ज्ञात होता है कि—

(क) जीव अपने ज्ञानरूपी प्रकाश और सामर्थ्य को शरीरस्थ वुद्धि इन्द्रिय मन आदि समस्त स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में फैलाकर फिर उन सबसे यथावत् काम लेता है। जैसे कि कछुआ इच्छानुसार अपने अङ्गों को फैला वा सिकोड़ लेता है।

(ख) दूसरे यह है कि—जीवात्मा अपने देह में सर्वज्ञ है, किन्तु व्यापक नहीं। निज देह में सर्वज्ञ न होता, तो सर्वत्र देह में उसको ज्ञान न होता। और जो देह में व्यापक होता, तो कीड़ों में छोटा और हाथी में बड़ा होना पड़ता। इसलिये व्यापक नहीं, अव्यापक है।

(ग) इस वेदवाक्य से आधुनिक अद्वैतवादी=जीव-ब्रह्म की एकता माननेवाले, तथा श्रीमान् स्वामी शंकराचार्योद्दिष्टमतानुयायी आदिकों के मत का सर्वथा खण्डन होता है। क्योंकि अग्नि के दृष्टान्त से जीव-ईश दोनों अर्थात् एक सर्वज्ञ और ज्योतिःस्वरूप परमात्मा=ब्रह्म, और दूसरे अल्पज्ञ और स्वयंप्रकाशमान जीवात्मा =जीव का भिन्नत्व=भेदभाव स्पष्टया दर्शा दिया गया है।

ओम् आ स्वमद्म युवमानो अजरस्तृष्वविष्यन्नतसेषु तिष्ठति।
अत्यो न पृष्ठं प्रुषितस्य रोचते दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत् ॥२॥

ऋ० मं० १। सू० ५८। मन्त्र २ ॥

पदार्थ—[हे मनुष्याः ! यूयम्] हे मनुष्यो ! तुम (यो युवमानः)

जो संयोग और विभागकर्त्ता, ([स्वस्वरूपेण] अजरः) अपने स्वरूप से जीर्णावस्था वा जरारोगरहित, ([देहादिकम्] अविष्यन्) देह आदि की रक्षा करनेवाला होता हुआ (अतसेषु तिष्ठति) आकाश-पवनादि विस्तृत पदार्थों में वर्त्तमान वा स्थित रहता है, (प्रुषितस्य =स्निग्धस्य पूर्णस्य [मध्ये स्थितः सन्]) पूर्ण परमात्मा के आधार कार्य का सेवन करता हुआ (अत्यः=अश्वः न=इव पृष्ठम्=पृष्ठ-भागम्=अर्थात् पृष्ठमत्यो न देहादि वहति]) जैसे घोड़ा अपनी पीठ पर भार को लादकर ले जाता है, उस ही प्रकार देहादि के भार का जो वाहन है, (दिवः न सानु रोचते) सूर्य के समान प्रकाश से जैसे पर्वत के शिखर वा मेघ की घटा प्रकाशित होती है, वैसे प्रकाशमान होता है, (स्तनयन्=शब्दयन् अर्थात् विद्युत्स्तनयन्निव) जैसे बिजली शब्द करती है, वैसे (अचिक्रदत्=विकलयति) सर्वथा शब्द करता है, (स्वम्=स्वकीयम् अद्म अत्तुमर्हं कर्मफलम्) अपने किये भोक्तव्य कर्म को (तृषु=शीघ्रम् आ=समन्तात् [भुङ्क्ते]) शीघ्र सब प्रकार से भोगता है। [स देही जीव इति मन्यध्वम्] वह देह का धारण करनेवाला जीव है, यह बात निश्चित जानो ॥२॥

भावार्थ—जिसको पूर्ण ईश्वर ने धारण किया है, जो आकाशादि तत्त्वों में प्रयत्न करता है, जो सब बुद्धि आदि का प्रकाशक है, और जो ईश्वर के न्याय-नियम से अपने किये शुभाशुभ कर्म के सुख-दुःख-रूप फल को भोगता है, सो इस शरीर में स्वतन्त्र कर्त्ता भोक्ता जीव है। ऐसा सब मनुष्यों को जानना और मानना उचित है ॥२॥

इस मन्त्र में भी जीव और ईश्वर के यथार्थ लक्षण और स्वरूप का वर्णन करके दोनों का भेदभाव स्पष्टता से जनाया गया है।

ओं रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥३॥
ऋ० मं० ६। सू० ४७। मन्त्र १८॥

पदार्थ—([हे मनुष्याः! यः] इन्द्रः) हे मनुष्यो! जो जीव

(मायाभिः प्रतिचक्षणाय) बुद्धियों से प्रत्यक्ष कथन के लिये (रूपंरूपं प्रतिरूपः बभूव) रूप-रूप के प्रतिरूप अर्थात् जिस-जिस देह को धारण करता है, उस-उस प्रत्येक देह के स्वरूप से तदाकार वर्त्तमान होता है, और (पुरुरूपः ईयते तत् अस्य=जीवात्मनः रूपम् [अस्ति)] बहुत शरीर धारण करने से अनेक प्रकार का पाया जाता है, वह इस शरीर धारण किये हुए जीवात्मा का वा शरीर का रूप है। (अस्य [देहिनः] हि दश शता हरयः[1] युक्ताः [शरीरं वहन्ति, तत् अस्य सामर्थ्यं वर्त्तते]) इस देहधारी जीवात्मा के निश्चय करके दश संख्या से विशिष्ट 'घोड़ों के समान इन्द्रिय अन्तःकरण और प्राणयुक्त हुए शरीर को धारण करते हैं, वह इस जीवात्मा का सामर्थ्य है ॥३॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे बिजली पदार्थ-पदार्थ के प्रति तद्रूप होती है, वैसे ही जीव शरीर-शरीर के प्रति तत्तत्स्वभाववाला होता है। और जब बाह्यविषय के देखने की इच्छा करता है, तब उसको देखकर तत्स्वरूपज्ञान इस जीव को होता है। और जो जीव के शरीर में बिजली के सहित असंख्य नाड़ियां हैं, उन नाड़ियों से यह सब शरीर के समाचार को जानता है ॥३॥

यो क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः पुरोहितो होता निषत्तो रयिषाळमर्त्यः।
रथो न विक्ष्वृञ्जसान आयुषु व्यानुषग्वार्या देव ऋण्वति ॥४॥

ऋ० मं० १। सू० ५८। मन्त्र ३॥

पदार्थः—[यः] जो (रुद्रेभिः=प्राणैः वसुभिः=पृथिव्यादिभिरष्टवसुभिः सह) प्राणों तथा वास देनेहारे पृथिव्यादि आठ वसुओं के साथ (निषत्तः=स्थितः) स्थित और चलने-फिरनेहारा, (होता=अत्ता खल्वादाता) कर्मफल का भोक्ता और देहादि का धारण करनेहारा, (पुरोहितः=पूर्वं ग्रहीता) प्रथम ग्रहण करने योग्य, (रयिषाड्=यो रयिं द्रव्यं सहते) धन का सहन करनेहारा, (अमर्त्यः=नाशरहितः) अपने स्वरूप से मरणधर्मरहित, (क्राणा=

1. हरयः=अश्वा इवेन्द्रियाऽन्तःकरणप्राणाः।

कर्त्ता) कर्मों को कर्त्ता (ऋञ्जसान=यो ऋञ्जति प्रसाध्नोति सः) किये हुए कर्म को प्राप्त होनेवाला, (विक्षु=प्रजासु रथः=रमणीयस्वरूपः न=इव) प्रजाओं में रथ के समान शरीरसहित होके, (आयुषु=बाल्ययौवनजराद्यवस्थासु) बाल्यादि जीवनावस्थाओं में (आनुषक्=अनुकूलतया) अनुकूलता से वर्त्तमान, (वार्या=वर्त्तुं योग्यानि वस्तूनि सुखानि वा) उत्तम सुखद पदार्थों वा सुखों को (व्यृण्वति=वि विशिष्टार्थे ऋण्वति कर्माणि साध्नोति) तथा कर्मों को विविध प्रकार से सिद्ध करता है, (देवः=देदीप्यमानः [अर्थात् स एव देवो जीवात्माऽस्तीति वेद्यम्]) वही शुद्ध प्रकाशस्वरूप जीवात्मा है, ऐसा निश्चय करके जानो ॥४॥

भावार्थ—जो पृथिवी में प्राणों के साथ चेष्टा, रथ के समान शरीर के साथ मन के अनुकूल क्रीड़ा, श्रेष्ठ वस्तु और सुख की इच्छा करते हैं वे ही जीव है, ऐसा सब लोग जानें ॥४॥

ओं वि वातजूतो अतसेषु तिष्ठते वृथा जुहूभिः सृण्या तुविष्वणिः ।
तृषु यदग्ने वनिनो वृषायसे कृष्णं त एम रुशदूर्मे अजर ॥५॥
ऋक् म० १ । सू० ५८ । मं० ४ ॥

पदार्थ—(हे रुशदूर्मे=रुशन्त्य ऊर्मयो ज्वाला यस्य तत्संबुद्धौ) हे अपने स्वभाव की लहरी से युक्त, (अजर=स्वयं जरादिदोषरहित) अपने स्वरूप से स्वयं जरा=वृद्धा अवस्थादि से रहित, (अग्ने=विद्युद्वद्वर्त्तमान ! [यस्त्वम्]) बिजली के तुल्य वर्त्तमान जीव ! जो तू (अतसेषु=विस्तृतेष्वाकाशपवनादिषु पदार्थेषु, व्याप्तव्येषु तृणकाष्ठभूमिजलादिषु वा) आकाश पवनादि विस्तृत नाम व्यापक पदार्थों में, वा तृण काष्ठ भूमि जलादि व्याप्तव्य पदार्थों में (वितिष्ठते=विशेषेण वर्त्तसे) विशेष करके ठहरता है, (यत्=यः वातजूतः=वातेन वायुना जूतः प्राप्तवेगः) जो वायु का प्रेरक, और वायु के समान वेगवाला, (तुविष्वणिः=यस्तुविषो बहून् पदार्थान् वनति सम्भजति सः) बहुत पदार्थों का सेवक, (जुहूभिः=जुह्वति

याभिः क्रियाभिः) ग्रहण करने के साधनरूप क्रियाओं और (सृण्या=धारणेन हननेन वा) धारण तथा हननरूप कर्म के साथ वर्त्तमान, (वनिनः=प्रशस्ता रश्मयो वनानि वा येषां येषु वा तान्) विद्युद्युक्त प्राणों को प्राप्त होके ([त्वम्] तृषु=शीघ्रम्) तू शीघ्र ही (वृषायसे=वृष इव आचरसि) वृष के समान बलवान् होता है, ([यस्य] ते कृष्णम्=कर्षति विलिखति येन ज्योतिःसमूहेन तम्) जिस तेरे कर्षण-रूप गुण को ([वयम्] एम=विज्ञाय प्राप्नुयाम) जानकर हम लोग प्राप्त होते हैं, ([सः त्वम्] वृथा=व्यर्थे [वृथाभिमानं परित्यज्य स्वात्मानं जानीहि]) सो तू वृथाभिमान को छोड़के अपने स्वरूप को जान ॥५॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है कि जैसा मैंने जीव के स्वभाव का उपदेश किया है, वही तुम्हारा स्वरूप है, यह निश्चय जानो। इस मन्त्र से स्थावरों में जीव का होना सिद्ध होता है ॥५॥

यो तपुर्जम्भो वन आ वातचोदितो यूथे न साह्वाँ अव वाति वंसगः।
अभिव्रजन् नक्षितं पाजसा रजः स्थातुश्चरथं भयते पतत्रिणः ॥६॥

ऋक् म० १। सू० ५८। मं० ५॥

पदार्थ—([यो] वंसगः=यो वंसान् संभक्तान् पदार्थान् गच्छति प्राप्नोति सः, वने=रश्मौ आ=समन्तात्) जो भिन्न-भिन्न पदार्थों को सब ओर से प्राप्त होता है, (वातचोदितः=वायुना प्रेरितः) प्राणों से प्रेरित, (तपुर्जम्भः=तपूंषि तापा जम्भो वक्त्रमिव यस्य सः) जिस का मुख के समान ताप ऐसे अग्नि के सदृश वह जीव (यूथे=सैन्ये न=इव साह्वान्=सहनशीलो वीरः) सेना में शूर के समान सहनशील, (अववाति=अव विनिग्रहे, वाति गच्छति विस्तृतो भूत्वा हिनस्ति) सब शरीर को चेष्टा कराता है, अर्थात् विस्तृत होके दुःखों का हनन करता है, ([यो] अभिव्रजन्=अभितः सर्वतो गच्छन्) सो सर्वत्र आवा-जाता हुआ, (चरथम्=चर्यते गम्यते भक्ष्यते यत्तत्, अक्षितम्

=क्षयरहितम् रजः=सकारणलोकसमूहम्) चरनेहारे क्षयरहित कारण के सहित लोकसमूह को (पाजसा=बलेन [धरति]) बल से धारण करता है, (स्थातुः=कृतस्थितेः पतत्रिणः=पक्षिणः [स्थातुस्तिष्ठतो वृक्षादेर्मध्ये पतत्रिणइव]) स्थिर वृक्ष में बैठे हुए पक्षी के समान (भयते=भयं जनयति) भय उत्पन्न करता है, [हे मनुष्याः ! तद् युष्माकमात्मस्वरूपमस्तीति विजानीत] हे मनुष्यो ! वह तुम्हारा आत्मस्वरूप है, इसी प्रकार तुम लोग जानो ॥६॥

भावार्थ—जो अन्तःकरणचतुष्टय अर्थात् मन बुद्धि चित्त अहंकार, प्राण=प्राणादि दश वायु, और इन्द्रियों=श्रोत्रादि दश इन्द्रिय का प्रेरक, इन को धारण करनेहारा नियन्ता स्वामी, तथा इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान आदि गुणवाला है, वह इस देह में जीव है। सब मनुष्यों को उचित है कि ऐसा सब लोग जानें ॥ ६ ॥

न्याय तथा वैशेषिक में भी इसी प्रकार के कर्म और गुण जीव के कहे हैं। यथा—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति ॥

न्या० अ० १।आ० १। सू०१०॥

अर्थ—जिसमें (इच्छा) राग, (द्वेष) वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ, (सुख-दुःख), (ज्ञान) जानना गुण हों, वह 'जीवात्मा' कहाता है ॥

वैशेषिक में इतना विशेष है कि—

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि॥ वै० अ०३। आ० २। सू०४॥

अर्थ—(प्राण)भीतर से वायु को निकालना अर्थात् श्वास छोड़ना, (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना अर्थात् श्वास लेना, (निमेष) आंख को नीचे ढांकना अर्थात् आंख को मीचना वा पलक मारना, (उन्मेष) आंख को ऊपर उठाना अर्थात् आंख का पलक खोलना, (जीवन) प्राण का धारण करना अर्थात् जीवित रहना—जीना, (मनः) मनन विचार अर्थात् ज्ञान, (गति) यथेष्ट गमन

करना अर्थात् चलना-आना, (इन्द्रिय) इन्द्रियों को विषयों में चलाना, उन से विषयों का ग्रहण करना, (अन्तर्विकार) क्षुधा तृषा ज्वर पीड़ा आदि विकारों का होना, और पूर्वोक्त सुख दुःख इच्छा द्वेष और प्रयत्न ये सब आत्मा के लिंग अर्थात् कर्म और गुण हैं ॥

[द्र०—स० प्र०, समु० ३, पृ० ८७, ८८]

ओं दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारुं सुहवं जनेभ्यः ।
होतारमग्ने अतिथिं वरेण्यं मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने ॥७॥

ऋक्० म० १। सू०५८। मं०६॥

पदार्थ—(हे अग्ने!) हे अग्नि के सदृश स्वप्रकाशस्वरूप जीव ! ([यं]त्वा=त्वाम्) जिस तुझ को (भृगवः=परिपक्वविज्ञाना मेधाविनो विद्वांसः) परिपक्व ज्ञानवाले मेधावी विद्वान् लोग (मानुषेषु=मानवेषु) मनुष्यों में (जनेभ्यः=विद्वद्भ्यो मनुष्यादिभ्यः [विद्यां प्राप्य]) विद्वानों के संग से विद्या को प्राप्त होके (चारुम्=सुन्दरम्) सुन्दर स्वरूपवाले, (सुहवम्=सुखेन होतुम् योग्यम्) सुखों के देनेहारे, (रयिम् न=धनमिव) धन के समान, (होतारम्=दातारम्) दानशील, (अतिथिम्=न विद्यते नियता तिथिर्यस्य तम्) अनियत स्थितिवाले, अर्थात् अतिथि के सदृश देह-देहान्तर और स्थान-स्थानान्तर में जानेहारे, (वरेण्यम्=वरितुमर्हं श्रेष्ठम्) ग्रहण करने के योग्य, (शेवं=सुखस्वरूपम्) सुखरूप, (मित्रं न=सखायमिव [जीवं लब्ध्वा])मित्र के सदृश जीव को प्राप्त होके, (दिव्याय=दिव्यभोगान्विताय) शुद्ध वा दिव्यसुख भोगों से संयुक्त, (जन्मने=प्रादुर्भावाय) जन्म के लिये (आदधुः=आ समन्तात् धरन्तु) सब प्रकार धारण करते हैं, [तमेव त्वं जीवं विजानीहि] उसी को तू जीव जान ॥७॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य विद्या वा लक्ष्मी तथा मित्रों को प्राप्त होकर सुखों को प्राप्त होते हैं, वैसे ही जीव के स्वरूप को जाननेवाले विद्वान् लोग अत्यन्त सुखों को प्राप्त होते हैं ॥७॥

सारांश यह है कि जीव को स्वशरीरस्थ तथा संसारस्थ पदार्थों

का, और अपने भी स्वरूप का जब यथावत् ज्ञान होता है, तब उसको समस्त आनन्द भोग और सुख प्राप्त होते हैं। अतएव मूल सिद्धान्त यह निकला कि सबको अपने आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अवश्य पुरुषार्थ करना चाहिये। जिससे कि परमात्मा को भी जानकर मोक्ष प्राप्त हो। इस मन्त्र से पुनर्जन्म भी सिद्ध होता है।

ओं होतारं सप्त जुह्वो यजिष्ठं यं वाघतो वृणते अध्वरेषु।
अग्निं विश्वेषामरतिं वसूनां सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम् ॥८॥
ऋक् म० १। सू० ५८। मन्त्र ७।

पदार्थ—[हे मनुष्याः ! यस्य] हे मनुष्यो ! जिसके (सप्त=सप्तसंख्याकाः) सात (जुह्वः=याभिर्जुह्वत्युपदिशन्ति परस्परं ताः) सुख की इच्छा के साधन हैं, कि जिनसे विद्वान् लोग परस्पर उपदेश करते हैं, ([तम्] होतारम्=सुखदातारम्) उस सुखों के दाता, (यजिष्ठम्=अतिशयेन यष्टारम्) अतिशय संगति में निपुण, (विश्वेषां वसूनाम्=सर्वेषां पृथिव्यादीनाम्) सब पृथिव्यादि लोकों को (अरतिम्=प्रापकम्) प्राप्त होनेहारे, (यम्=शिल्पकार्योपयोगिनम्) शिल्पविद्या से उपयोग लेनेवाले जिस को (वाघतः=मेधाविनः) बुद्धिमान् लोग (प्रयसा=प्रयत्नेन) पुरुषार्थपूर्वक प्रीति से (अध्वरेषु=अनुष्ठातव्येषु कर्ममयेषु यज्ञेषु) कर्मकाण्डमय कर्त्तव्य यज्ञकर्मों में, अर्थात् अहिंसनीय गुणों में (अग्निम्=पावकम्) अग्नि के सदृश (वृणते=संभजन्ते) स्वीकार करते हैं, ([तम्] रत्नम्=रमणीयानन्दस्वरूपम्) उस रमणीयानन्दस्वरूपवाले जीव को ([अहम्] यामि=प्राप्नोमि) मैं प्राप्त होता हूं, और (सपर्यामि=परिचरामि) सेवा करता हूं ॥८॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने आत्मा को जानके परब्रह्म को जानते हैं, वे ही मोक्ष को पाते हैं ॥८॥

अभिप्राय यही है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों भिन्न हैं। इनके भेदभाव का जब यथावत् ज्ञान होता है, तब ही सम्पूर्ण क्लेशों

की निवृत्ति और मोक्षरूपी आनन्द की प्राप्ति होती है। किन्तु जो लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' के अभिमानी होते हैं, उनको परमात्मा का भय न होने के कारण न तो उनकी दुष्कर्मों से निवृत्ति और न उनको मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यः परतस्तु सः[1] ॥
भ० गी०, अ० ३। श्लोक ४२॥

अर्थ—विद्वान् लोग कहते हैं कि स्थूल शरीर और शरीरस्थ प्राणादि वायुओं की अपेक्षा इन्द्रियां और उनकी शक्तियां तथा उनके विषय परे हैं। मन की अपेक्षा बुद्धि, और बुद्धि से भी परे वह जीवात्मा है॥

इस श्लोक से यह भी आशय निकलता है कि जीवात्मा से भी अत्यन्त परे=प्रबल श्रेष्ठ वा सूक्ष्म परमात्मा है। जैसा कि पूर्व इस ग्रन्थ के पृष्ठ ६२–६५ में कठोपनिषत् वल्ली ३, मन्त्र १०-१५ के प्रमाण द्वारा कहा गया है।

—:o:—

परमात्मज्ञान वा ब्रह्मज्ञान

आगे 'ईश्वर-विषय' का वर्णन करते हैं—

ओं सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः॥१॥ यजु० अ० ४०। मं० ८॥

अर्थ—वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी, अनन्त बलवान्, शुद्ध, सर्वज्ञ, सब का अन्तर्यामी, और अपनी जीवरूप सनातन

१. यहां 'सः' इस पद से जीवात्मा और परमात्मा दोनों ग्राह्य हैं। ऐसे ही अन्य स्थलों में 'आत्मा' 'चेतन' आदि एक-एक पद से प्रकरणानुकूल दोनों का ग्रहण यथा होता है।

अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है। वह कभी शरीर धारण नहीं करता, अर्थात् जन्म नहीं लेता। उसमें छिद्र नहीं होता, वह नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता, और कभी पापाचरण नहीं करता। अर्थात् क्लेश दुःख वा अज्ञान उसको कभी नहीं होता। वह परमात्मा रागद्वेषादि दुर्गुणों से सर्वथा रहित है ॥१॥ [स० प्र०, समु० ७, पृष्ठ २६३]

इस मन्त्र में ईश्वर की सगुण और निर्गुण स्तुति है, तथा ईश्वर के अवतार का सर्वथा निषेध है। और यह बात भी सिद्ध है कि जैसे जीवात्मा अज्ञानवश पापाचरणों में फंसकर दुःखादि क्लेशों को प्राप्त होता है, उस प्रकार परमात्मा कभी न तो पापाचरणों को करता है, और न अविद्यादि क्लेशों में पड़ता है। जैसा कि "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (यो० पा० १, सू० २४) इस सूत्र में पूर्व पृष्ठ ८९ में कहा गया है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥२॥

श्वेता० अ० ३। मं० १९॥

अर्थ—परमेश्वर के हाथ नहीं, परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सब का रचन-ग्रहण करता है। पग नहीं, परन्तु व्यापक होने से सब से अधिक वेगवान् है। चक्षु का गोलक नहीं, परन्तु सब को यथावत् देखता है। श्रोत्र नहीं, तथापि सब की बात सुनता है। अन्तःकरण नहीं, परन्तु सब जगत् को जानता है। और उसको अवधि-सहित जाननेवाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन, सब से श्रेष्ठ, सब में पूर्ण होने से 'पुरुष' कहते हैं ॥२॥ [स० प्र०, समु० ७, पृ० २७२]

अर्थात् ईश्वर इन्द्रियों और अन्तःकरण के बिना अपने सब काम अपने सामर्थ्य से करता है। यही विलक्षणता दर्शाती है कि जीव और ईश भिन्न-भिन्न हैं।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥३॥
श्वेता० अ० ६। मं० ८ ॥

अर्थ—परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य, और उसको करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं । न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। सर्वोत्तम शक्ति अर्थात् जिसमें अनन्तज्ञान, अनन्तबल और अनन्तक्रिया है, वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुना जाती है ॥३॥ [स० प्र०, समु० ७, पृ० २७२]

इस मन्त्र से भी जीव और ईश्वर का भिन्नत्व स्पष्ट सिद्ध है।

ओम् अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥
य० अ० ४०। मं० ४॥

पदार्थ—[हे विद्वांसो मनुष्याः!] हे विद्वान् मनुष्यो ! (यत् एकम् अनेजत्) जो अद्वितीय, नहीं कंपनेवाला अर्थात् अचल, अपनी अवस्था से हटना 'कंपन' कहाता है उससे रहित, (मनसः जवीयः) मन के वेग से भी अतिवेगवान्, (पूर्वम् अर्षत्) सबसे आगे चलता हुआ, अर्थात् जहां कोई चलके जावे वहां प्रथम ही सर्वत्र व्याप्ति से पहुंचता हुआ ब्रह्म है, (एनत् देवाः न आप्नुवन्) इस पूर्वोक्त ईश्वर को चक्षु आदि इन्द्रिय नहीं प्राप्त होते । (तत् तिष्ठत्) वह परब्रह्म अपने आप=स्वयं स्थिर हुआ अपनी अनन्त व्याप्ति से (धावतः अन्यान् अति एति) विषयों की ओर गिरते हुए आत्मा के स्वरूप से विलक्षण मन वाणी आदि इन्द्रियों का उल्लङ्घन कर जाता है।(तस्मिन्) उस सर्वत्र अभिव्याप्त ईश्वर की स्थिरता में (मातरिश्वा=मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति प्राणान् धरति वायुः तद्वत् जीवः) अन्तरिक्ष में प्राणों को धारण करनेहारे वायु के तुल्य जीवात्मा (अपः दधाति) कर्म वा क्रिया को धारण करता है। [इति विजानीत] यह बात तुम लोग विशेष निश्चय करके जानो ॥४॥

भावार्थ—ब्रह्म के अनन्त होने से जहां-जहां मन जाता है, वहां-वहां प्रथम ही अभिव्याप्त, पहले से ही स्थिर ब्रह्म वर्त्तमान है। उसका विज्ञान शुद्ध मन से होता है। वह चक्षु आदि इन्द्रियों और अविद्वानों से देखने योग्य नहीं है। वह आप निश्चल हुआ सब जीवों को नियम से चलाता और धारण करता है। उसके अति सूक्ष्म होने तथा इन्द्रियगम्य न होने के कारण धर्मात्मा विद्वान् योगी को उसका साक्षात् ज्ञान होता है, अन्य को नहीं ॥४॥

ओं तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

य० अ० ४०। मं० ५ ॥

पदार्थ—([हे मनुष्याः!] तत्=ब्रह्म एजति) हे मनुष्यो! वह ब्रह्म मूर्खों की दृष्टि से चलायमान होता है, (तत् न एजति) वह अपने स्वरूप से न चलायमान है, और न चलाया जाता है। (तत् दूरे) वह अधर्मी अविद्वान् अयोगियों से दूर, अर्थात् करोड़ों वर्ष में भी उन्हें प्राप्त नहीं होता। (तत् उ अन्तिके) वह ही धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप है। (तत् अस्य सर्वस्य अन्तः) वही इस सब जगत् वा जीवों के भीतर है। (तत् उ अस्य सर्वस्य बाह्यतः [बाह्यतः वर्तते इति निश्चिनुत]) और वह इस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् के बाहर भी वर्त्तमान है, यह बात तुम निश्चय करके जानो ॥५॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! वह ब्रह्म मूढ़ों की दृष्टि में कम्पता जैसा है, किन्तु वह आप व्यापक होने से कभी नहीं चलायमान होता। जो जन उसकी आज्ञा से विरुद्ध हैं, वे इधर-उधर भागते हुए भी कभी उसको नहीं जानते। और जो ईश्वर की आज्ञा का अनुष्ठान करनेवाले हैं, वे अपने आत्मा में स्थिर अति निकट ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। जो ब्रह्म सब प्रकृति आदि के बाहर-भीतर अवयवों में अभिव्याप्त होके अन्तर्यामीरूप से सब जीवों के सब पाप-पुण्य कर्मों को जानता हुआ यथार्थ फल देता है, वही सब को ध्यान में रखना चाहिये, और उसी से सब को डरना चाहिये ॥५॥

ओं द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥६॥
ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० २० [स० प्र०, समु० ८, पृ० ३०६]॥

पदार्थ—([हे मनुष्याः ! यौ] द्वौ=ब्रह्मजीवौ पक्षिणौ) हे मनुष्यो ! जो ब्रह्म और जीव दो पक्षी=पखेरू (सुपर्णा=शोभनानि पर्णानि गमनागमनादीनि कर्माणि वा ययोस्तौ, अथवा पालनचेतनतादिषु गुणेषु सदृशौ) सुन्दर पंखोंवाले अर्थात् गमनागमनादि कर्मों में एक से, अथवा चेतनता और पालनादि गुणों में सदृश, (सयुजा=यौ समानसम्बन्धौ व्याप्यव्यापकभावेन सहैव युक्तौ वा) समान सम्बन्ध रखनेवाले, अथवा व्याप्यव्यापकभाव वा सम्बन्ध से संयुक्त रहनेवाले, (सखाया=मित्रवद्वर्तमानौ, अनादि-सनातनौ, समानख्याति-आत्मपदवाच्यौ वा) परस्पर मित्रों के समान वर्त्तमान, और अनादि तथा तथा सनातन, अथवा चेतन वा आत्मादि एक से नाम कहानेवाले हैं, और (समानम्=तमेवैकम्) उस एक ही (वृक्षम्=यो वृश्च्यते छिद्यते तं कार्यकारणाख्यम्) वृक्ष को, जो काटा जाता है, अर्थात् अनादि मूलरूप कार्ययुक्त वृक्ष जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, उस कार्यकारण वृक्ष का (परिषस्वजाते=सर्वतः स्वजेते आश्रयतः) सर्वथा आश्रय करते हैं, (तयोः=जीवब्रह्मणोरनाद्योर्द्वयोः) उन ब्रह्म और जीव दोनों अनादि पदार्थों में से (अन्यः=एको जीवः, [स वृक्षरूपेऽस्मिज्जगति]) एक जो जीव है, वह इस वृक्षरूपी संसार में [पिप्पलम्=परिपक्वं फलम्, पापपुण्यजन्यं सुखदुःखात्मकभोगं वा) पाप-पुण्य-जन्य सुखदुःखात्मक परिपक्व फलरूप भोग को (स्वादु अत्ति=स्वादु भुङ्क्ते) स्वाद लेकर अच्छे प्रकार भोगता है । (अन्यः=परमात्मा ईश्वरः) दूसरा अर्थात् ईश्वर=परमात्मा (अनश्नन्=उक्तभोगमकुर्वन्) उक्त कर्मों के फलों को न भोगता हुआ (अभि=अभितः सर्वतः)चारों ओर अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र (चाकशीति=पश्यति)प्रकाशमान हो रहा है । [अर्थात् साक्षिभूतः सन् पश्यन्नास्ते]

अर्थात् साक्षीरूप होकर जीवकृत व्यवहारों को देखता हुआ व्यापक हो रहा है; [इति यूयं वित्त] यह वार्त्ता तुम लोग निश्चय करके जानो ॥

अर्थात् जीव-ईश इन दोनों में से एक तो चलने-फिरने आदि अनेक क्रियाओं का करनेवाला, दूसरा क्रियाजन्य काम को जाननेवाला है। दोनों क्रमपूर्वक व्याप्य-व्यापकभाव के साथ ही सम्बन्ध रखते हुए मित्रों के समान वर्त्तमान हैं। और समान कार्यकारणरूप देह और ब्रह्माण्ड का आश्रय करते हैं। उन दोनों अनादि जीव ब्रह्म में जो जीव है, वह पाप-पुण्य से उत्पन्न हुए सुखदुःखात्मक भोग को स्वादुपन से भोगता है। और दूसरा ब्रह्मात्मा न तो कर्मों को करता ही है, और न विवेक=ज्ञान की अत्यन्त अधिकता वा प्रबल प्रकाश के कारण भोगता ही है। किन्तु उक्त भोगते हुए जीवात्मा को सब ओर से देखता ही है, अर्थात् उस जीवात्मा के कर्मों का साक्षी परमात्मा है। अतएव जीव से ईश्वर और ईश्वर से जीव, और इन दोनों से प्रकृति भिन्नस्वरूप तथा तीनों अनादि हैं ॥६॥

भावार्थ—१. जीवात्मा, २. परमात्मा=ब्रह्मात्मा और ३. जगत् का कारण प्रकृति ये तीन पदार्थ अनादि और नित्य हैं। जीव ईश=परमात्मा यथाक्रम से अल्प अनन्त, चेतन विज्ञानवान्, सदा विलक्षण अर्थात् एक-दूसरे से भिन्न गुण कर्म स्वभावलक्षणादि-वाले, व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त, और मित्र के समान हैं। वैसे ही जिस अव्यक्त परमाणुरूप कारण से कार्यरूप जगत् होता है, वह भी अनादि और नित्य है। समस्त जीव पापपुण्यात्मक कर्मों को करके उनके फलों को भोगते हैं। और ईश्वर एक सब ओर से व्याप्त होता हुआ न्याय से पाप पुण्य के फलों को देने से न्यायाधीश के समान देखता है ॥६॥

इस मन्त्र में अत्यन्त स्पष्टता के साथ जीव और ईश इन दोनों के भेदभाव को दर्शाया है। क्योंकि द्विवचनान्त पदों के प्रयोग से

जीव और ब्रह्म इन दोनों के पृथक्-पृथक् होने में किञ्चिन्मात्र भ्रम नहीं रहता। इन दोनों को एक माननेरूप भ्रम कभी किसी को होता भी है, तो उसका कारण यह है कि आत्मा पुरुष चेतन सनातन नित्य शुद्ध अजर अमर आदि विशेषण गौण और मुख्यभाव से दोनों में घट जाते हैं। अतः आत्मा पुरुष आदि नाम से दोनों ही कहाते हैं। किन्तु प्रकरणवित् विद्वानों को उस शब्दप्रयोग से तात्पर्यार्थ जान लेना कठिन नहीं है। अविद्वान् पुरुष वा हठी के लिये यह वचन ठीक ही है कि—'ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति'=ब्रह्मा भी उस पुरुष को समझाकर प्रसन्न वा सन्तुष्ट नही कर सकता। वर्त्तमान समय में आर्यावर्त्त में 'अद्वैतवाद' अधिक प्रचलित है, इसी कारण इस विषय को स्पष्ट करने की आवश्यकता जानी गई।

ओं त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान्।
त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान्त्स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम् ॥७॥
ऋ० म० ३। सू० ५६। मं० ३॥

पदार्थ—(हे पुरुध [विद्वन्!]) हे बहुतों को धारण करनेवाले विद्वान् पुरुष! (यः त्रिपाजस्यः वृषभः) जो तीन अर्थात् शरीर आत्मा और सम्बन्धियों के बलों में निपुण, वृष्टिकर्त्ता है, (त्र्युधा विश्वरूपः [विद्युत् इव]) जिसमें तीन अर्थात् कारण सूक्ष्म और स्थूल=बढ़े हुए जीव शरीर, और अन्य सम्पूर्ण रूप विद्यमान हैं, जो बिजली के सदृश है, (उत प्रजावान् त्र्यनीकः [इव]) और बहुत प्रजा-जन, तथा त्रिगुणित सेना से युक्त के समान (माहिनावान् पत्यते) बहुत सत्कारवान् है, वा जो स्वामी के सदृश आचरण करता है, (सः वृषभः शश्वतीनाम् रेतोधाः [सूर्य इव वीर्यप्रदोऽस्तीति विजानीहि]) वह अत्यन्त बलयुक्त, अनादि काल से हुई प्रकृति और जीव नामक प्रजाओं का जल के सदृश वीर्य को धारण करनेवाले सूर्य के सदृश वीर्य का देनेवाला जगदीश्वर है, ऐसा जानो ॥७॥

भावार्थ—जो जगदीश्वर बिजली के सदृश सब जगह व्यापक

होके प्रकाशकर्त्ता, फिर न्यायाधीश स्वामी, अनन्त महिमा से युक्त, और अनादि जीवों का न्यायाधीश वर्त्तमान है। उससे डरके और पापों का त्याग करके प्रीति से धर्म का आचरण कर अपने अन्तःकरण में सब लोग उसी का ध्यान करें ॥७॥

ओं ससृवांसमिव त्मनाऽग्निमित्था तिरोहितम्।
ऐनं नयन्मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितं परि॥८॥

ऋक् म० ३। सू० ९। मन्त्र ५॥

पदार्थ—[हे मनुष्याः! यथा] हे मनुष्यो! जैसे (मातरिश्वा परावतः देवेभ्यः) वायु दूर देश से विद्वानों के लिये (मथितम् तिरोहितम् अग्निम्) मन्थन किये प्रच्छन्न अग्नि को (ससृवांसमिव परि आ नयत्) प्राप्त होते हुए मनुष्य के समान सब ओर से सब प्रकार प्राप्त कराता है, (इत्था [तम्] एनम् त्मना=आत्मना [यूयं विजानीत]) इसी प्रकार उस अग्नि को आत्मा से तुम लोग विशेष करके जानो ॥८॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! जैसे प्रयत्न के साथ मन्थन आदि से उत्पन्न हुये अग्नि को वायु बढ़ाता और दूर पहुंचाता है, तथा अग्नि प्राप्त हुए पदार्थों को जलाता, और दूरस्थ पदार्थों को नहीं जलाता, इसी प्रकार ब्रह्मचर्य विद्या योगाभ्यास धर्म्मानुष्ठान और सत्पुरुषों के संग से साक्षात् किया आत्मा और परमात्मा सब दोषों को जलाके सुन्दर प्रकाशित ज्ञान को प्रकट करता है ॥८॥

कौन जीव आत्मविद्या को प्राप्त होता है?

ओं य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश॥९॥

ऋक् मं० १। सू० १६४। मन्त्र ३२॥

पदार्थः—(यः [जीवः] ईम् चकार) जो जीव क्रियामात्र करता है, (सः अस्य [स्वरूपम्] न वेद) वह इस अपने स्वरूप को नहीं जानता है। (यः ईम् ददर्श [स्वस्वरूपं च पश्यति]) जो समस्त क्रिया

को देखता और अपने स्वरूप को जानता है, (स तस्मात् हिरुक् [सन्]) वह उससे अलग होता हुआ, (मातुः योना अन्तः परिवीतः) माता के गर्भाशय के बीच सब ओर से ढंपा हुआ (बहुप्रजाः निर्ऋतिम्) बहुत बार जन्म लेनेवाला भूमि को (इत् नु आ विवेश) ही शीघ्र प्रवेश करता है ।।९।।

भावार्थ—जो जीव कर्ममात्र करते हैं, किन्तु उपासना और ज्ञान को नहीं प्राप्त होते, वे अपने स्वरूप को भी नहीं जानते। और जो कर्म उपासना और ज्ञान में निपुण हैं, वे अपने स्वरूप और परमात्मा के जानने के योग्य हैं। जीवों के पूर्व अर्थात् गत जन्मों का आदि, और आगे होनेवाले जन्मों का अन्त नहीं है। जब वे शरीर को छोड़ते हैं, तब आकाशस्थ हो गर्भ में प्रवेश कर और जन्म पाकर पृथिवी में चेष्टा=क्रियावान् होते हैं ।।९।।

इस मन्त्र से भी पुनर्जन्म स्पष्ट सिद्ध है। बहुत लोग ईश्वर को निष्क्रिय जानते और मानते हैं। सो यहां यह बात भी सिद्ध होती है कि ईश्वर में अनन्त विविध क्रिया विद्यमान हैं। यदि वह निष्क्रिय होता, तो जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय न कर सकता। अतः वह विभु तथा चेतन होने से उसमें क्रिया भी है। किन्तु वह बिना किसी साधन व सहायक के अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब कुछ करता है। यही जीव की अपेक्षा ईश में विलक्षणता है। जिससे वे दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न जाने जाते हैं।

इत्यादि सत्यशास्त्रों के अनेक वाक्यों से ईश्वर और जीव के गुण कर्म स्वभाव, जिनसे जीवात्मा और परमात्मा का भेदभाव प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं ।।

इत्यलं बुद्धिमद्वरसज्जनेषु ।

———:०:———

विज्ञानोपदेशः : योगी का कर्त्तव्य

अथेश्वरः प्राथमकल्पिकाय योगिने विज्ञानमाह=योग में प्रथम ही जो कोई प्रवृत्त होता है, उसके लिये ईश्वर ने जिस प्रकार वेद-द्वारा विज्ञान का उपदेश किया है, सो आगे वर्णन करते हैं—

ओम् अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥१॥
यजु० अ० ७। मं० ५॥

पदार्थ—(मघवन्=हे परमोत्कृष्टधनितुल्ययोगिन्!) हे परम उत्कृष्ट धनी के समान योगो! (ते अन्तः=अहम् आकाशाभ्यन्तर इव तव शरीराभ्यन्तरे हृदयाकाशे) आकाशान्तर्गत अवकाश के तुल्य तेरे शरीर के अन्तर्गत हृदयाकाश में मैं परमेश्वर,(द्यावापृथिवी=भूमिसूर्याविव विज्ञानादिपदार्थान्) सूर्य और भूमि के समान विज्ञा-नादिपदार्थों को (दधामि=स्थापयामि) स्थपित करता हूं। (उरु अन्तरिक्षं=बहुविस्तृतं अन्तरालमवकाशम्) बहुत विस्तारयुक्त आकाश को (अन्तः दधामि=शरीराभ्यन्तरे स्थापयामि) शरीर के भीतर धरता हूं। (सजूः त्वम्=मित्रइव त्वम्) मित्र के समान तू (देवेभिः=विद्वद्भिः [प्राप्तैः]) विद्वानों से विद्या को प्राप्त होके (अवरैः परैः च=निकृष्टैः उत्तमैश्वर्यव्यवहारैः सह च) थोड़े वा बहुत योगव्यवहारों से (अन्तर्यामे=यमानामयं यामः अन्तश्चासौ यामश्च तस्मिन्नन्तर्यामे वर्त्तमानः सन्) भीतर के नियमों में वर्त्त-मान होकर (मादयस्व=अन्यान् हर्षयस्व) अन्य सब को प्रसन्न किया कर॥१।

भावार्थ—ईश्वर का यह उपदेश है कि ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार के जितने पदार्थ हैं, उसी प्रकार के उतने ही मेरे ज्ञान में वर्त्तमान हैं। योगविद्या को नहीं जाननेवाला उनको नहीं देख सकता। और मेरी उपासना के बिना कोई योगी नहीं हो सकता॥१॥

पुनरीश्वरो योग-जिज्ञासुं प्रत्याह=फिर ईश्वर योगविद्या के चाहनेवाले के प्रति उपदेश करता है—

ओं स्वाङ्कृतोसि विश्वेभ्यऽ इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यऽ उदानाय त्वा ॥२॥ य० अ० ७। मं० ६ ॥

पदार्थ—(सुभव=हे सुष्ठ्वैश्वर्यवन् योगिन् ! त्वम्) हे शोभन ऐश्वर्ययुक्त योगी ! तू (स्वाङ्कृतः असि=स्वयंसिद्धोऽनादिस्वरूपोऽसि) अनादि काल से स्वयंसिद्ध है। [अहम्] मैं (विश्वेभ्यः=अखिलेभ्यः) समस्त (दिव्येभ्यः=निर्मलेभ्यः) शुद्ध (देवेभ्यः=प्रशस्तगुणपदार्थेभ्यो विद्वद्भ्यश्च) प्रशस्त गुणों और प्रशंसनीय पदार्थों से युक्त विद्वानों, (इन्द्रियेभ्यः=कार्यसाधकतमेभ्य इन्द्रियेभ्यः) कार्यों को सिद्ध करने के लिये उत्तम साधकरूप इन्द्रियों, और (मरीचिपेभ्यः=रश्मिभ्यः) योग के प्रकाशयुक्त व्यवहारों से (त्वा=त्वां स्वीकरोमि) तुझको स्वीकार करता हूं। और(पार्थिवेभ्यः=पृथिव्यां विदितेभ्यः पदार्थेभ्यः) पृथिवी पर प्रसिद्ध पदार्थों के लिये भी (त्वा=त्वां स्वीकरोमि) तुझ को स्वीकार करता हूं। (सूर्याय=सूर्यस्येव योगप्रकाशाय) सूर्य के समान योगप्रकाश करने के लिये, तथा (उदानाय च=उत्कृष्टाय जीवनबलसाधनायैव) उत्कृष्ट जीवन और बल के अर्थ (त्वा=त्वां स्वीकरोमि) तुझ को ग्रहण करता हूं। ([यतः] त्वा=त्वां योग-मभीप्सुम्) जिससे कि तुझ योग चाहनेवाले को (मनः=योग-मननम्) योगसमाधियुक्त मन (स्वाहा=सत्यवचनरूपा सत्यानुष्ठान-रूपा सत्यारूढा च क्रिया) सत्यभाषण और सत्यकर्म करने तथा सत्य पर आरूढ़ होने की क्रिया (अष्ट=प्राप्नोतु) प्राप्त हो ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य जब तक श्रेष्ठाचार करनेवाला नहीं होता, तब तक ईश्वर भी उसको स्वीकार नहीं करता। जब तक उसको ईश्वर स्वीकार नहीं करता, तब तक उसका पूरा-पूरा आत्मबल नहीं हो सकता। और जब तक आत्मबल नहीं बढ़ता, तब तक उस को अत्यन्त सुख भी नहीं होता ॥२॥

पुनर्योगिकृत्यमाह—अगले मन्त्र में फिर योगी का कृत्य कहा है—

ओं आ वायो भूष शुचिपाऽ उप नः सहस्रन्ते नियुतो विश्ववार ।
उपो ते अन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वा ॥३॥
यजु० अ० ७। मं० ७॥

पदार्थ—(हे शुचिपाः=शुचिं पवित्रतां पालयतीति शुचिपाः=पवित्रपालक !) हे अत्यन्त शुद्धता को पालनेहारे ! और हे (वायो=वायुरिव वर्त्तमानः त्वम्) पवन के तुल्य [=प्रयत्न पुरुषार्थ वा बल तथा संवेगपूर्वक निरन्तर] योगक्रियाओं में प्रवृत्त होनेवाले [=अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग तीव्राधिकारी] योगी ! तू (नः=अस्मान्) हमें (सहस्रम्=सहस्रशः बहूनि अगणितानि अखिलानि वा) हजारों अगणित (नियुतः=नियुज्यन्ते तान् निश्चितान् शमादिगुणान्) निश्चित शमादिक गुणों को (उप आभूष=स्वात्मसकाशात् आसमन्तात् अलंकुरु) अपने निज आत्मा के सकाश से सर्वथा भूषित कर। (हे विश्ववार=विश्वान् सर्वानानन्दान् वृणोति तत्सम्बुद्धौ) हे समस्त गुणों के स्वीकार करनेवाले ! (ते मद्यम्=तव तृप्तिप्रदम्) जो तेरा अच्छी तृप्ति देनेवाला (अन्धः=अन्नम्) अन्न है, उसको मैं (उपो=तव सकाशम्) तेरे समीप (अयामि=प्राप्नोमि) पहुंचाता हूं। (हे देव=योगेनात्मप्रकाशित! हे आत्मविद् ब्रह्मविद् ब्राह्मण !) हे योगवल से आत्मा को प्रकाशित करनेवाले ब्रह्मज्ञ योगी ! (यस्य ते=यस्य तव) जिस तेरा (पूर्वपेयम्=पूर्वैः पातुं योग्यमिव योगबलमस्ति) श्रेष्ठ योगियों की रक्षा करनेयोग्य योगबल है, ([यच्च त्वं] दधिषे=धरसि) जिसको तू धारण कर रहा है, (वायवे=तद् वायवे तद्योगबलप्रापणाय) उस योगबल के ज्ञान की प्राप्ति के लिये (त्वा=त्वाम् अहं स्वीकरोमि) तुमको मैं स्वीकार करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो योगी प्राण के तुल्य सब को भूषित करता है ईश्वर के तुल्य अच्छे-अच्छे गुणों में व्याप्त होता है, और अन्न और

जल के सदृश सुख देता है, वही योगी योग के बीच में समर्थ होता है ॥३॥

अभिप्राय यह है कि योगमार्ग में प्रवृत्त होनेवाले जिज्ञासु को उचित है कि उत्तम अधिकारी होने के लिये अत्यन्त पवित्रता से रहना, तीव्रसंवेगयुक्त योगक्रियाओं के अभ्यास में आलस्यरहित पुरुषार्थ करना, यमनियमशमादि षट्कसम्पत्ति इत्यादि जो विविध मुक्ति के साधन हैं उनका यथावत् पालन करना, और आप्त विद्वानों से शिक्षा पाकर अन्यों को शिक्षा वा उपदेश करना अत्यन्त आवश्यक है। जो कोई इस प्रकार से प्रवृत्त और कटिबद्ध होता है, उस ही को ईश्वर स्वीकार करके अनेक प्रकार के आनन्द-भोगों से तृप्त करता और मोक्षानन्द का दान करता है।

पुनः स योगी कीदृशो भवतीत्युच्यते=फिर वह योगी कैसा होता है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है—

ओम् इन्द्रवायूऽ इमे सुताऽ उप प्रयोभिरागतम्। इन्दवोवामुशन्ति हि। उपयामगृहीतोऽसि वायवऽ इन्द्रवायुभ्यान्त्वैष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वा ॥४॥ य० अ० ७। मं० ८॥

पदार्थ—(इन्द्रवायू=हे प्राणसूर्यसदृशौ योगस्योपदेष्टृभ्यासिनौ!) हे प्राण और सूर्य के सदृश योगशास्त्र के पढ़ने-पढ़ानेवालो! [यतः] जिस कारण से कि (इमे=प्रत्यक्षाः समक्षाः) ये (सुताः=निष्पन्नाः) उत्पन्न हुए (इन्दवः=सुखकारकाः जलादिपदार्थाः) सुख-कारक जलादि-पदार्थ (वाम्=युवाम्) तुम दोनों को (उशन्ति हि=निश्चयेन कामयन्ते) निश्चय करके प्राप्त होते ही हैं, ([तस्मात् युवां एतैः] प्रयोभिः=कमनीयैर्लक्षणैः पदार्थैः सहैव) इसलिये तुम दोनों इन मनोहर पदार्थों के साथ ही (उप आगतम्=उपागच्छतम्) अपना आगमन जानो अर्थात् साथ-साथ आये हो। [भो योगमभीप्सो! त्वमनेनाध्यापकेन] हे योग चाहनेवाले जिज्ञासु! तू इस योग पढ़ाने-वाले अध्यापक से (वायवे=वायुवद् गत्यादिसिद्धये, यद्वा वाति प्राप-

र्थति योगबलेन व्यवहारानिति वायुर्योगविचक्षणस्तस्मै तादृशसम्पन्नाय) पवन के तुल्य योगसिद्धि को पाने के लिये, अथवा योगबल से चराचर के ज्ञान की प्राप्ति के लिये (उपयामगृहीतोऽसि=योगस्य यमनियमाङ्गैः सह स्वीकृतोऽसि) योग के यम-नियमों के साथ स्वीकार किया गया है। [हे भगवन् योगाध्यापक !] हे योगाध्यापक भगवन्! (एषः ते=तव अयं योगः) आपका यह योग (योनिः=सर्वदुःखनिवारकं गृहमिवास्ति) सर्वदुःखों के निवारण करनेवाले घर के समान है, (इन्द्रवायुभ्यां त्वा=विद्युत्प्राणाभ्यामिव योगाकर्षणनिकर्षणाभ्यां जुष्टम् त्वाम्) विजली और प्राणवायु के समान योगवृद्धि और समाधि चढ़ाने और उतारने की शक्तियों से प्रसन्न हुए आपको, [तथा हे योगमभीप्सो !] और हे योग चाहनेवाले जिज्ञासु ! (सजोषोभ्यां त्वा=जोषसा सेवनेन सह वर्त्तमानाभ्यामुक्तगुणाभ्यां जुष्टं त्वां च) सेवन किये हुए उक्त गुणों से प्रसन्न हुए तुझ को [अहं वश्मि] मैं अपने सुख के लिये चाहता हूं ॥४॥

भावार्थ—वे ही लोग पूर्ण योगी और सिद्ध हो सकते हैं, जो कि योगविद्याभ्यास करके ईश्वर से लेके पृथिवी-पर्यन्त पदार्थों को साक्षात् करने का यत्न किया करते हैं, और यम-नियमादि साधनों से युक्त योग में रम रहे हैं, और जो इन सिद्धों का सेवन करते हैं, वे भी इस योगसिद्धि को प्राप्त होते हैं, अन्य नहीं ॥४॥

इस मन्त्र में चार उपदेश हैं— (१) प्रथम तो यह है कि—योगविद्या के जिज्ञासु को सदैव यह पूर्ण विश्वास रखना चाहिये कि ईश्वर ने हमारे संसार-व्यवहार के निर्वाहार्थ सब प्रकार के पदार्थ हमारे जन्म के साथ ही उत्पन्न किये हैं। उन के निमित्त कभी शोक संताप चिन्ता आदि न करे। किन्तु उपार्जन का प्रयत्न सन्तोष के साथ करता रहे।

(२) दूसरा यह है कि—ईश्वर से लेकर सम्पूर्ण चराचर जगत् के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करे।

(३) तीसरा यह है कि—यम-नियमादि योगांगों तथा अन्य विविध साधनों का यथावत् सेवन करता रहे।

(४) चौथा यह है कि—योगसिद्ध पुरुषों का सङ्ग और सेवन किये बिना यह विद्या सिद्ध नहीं होती। क्योंकि यह गुरुलक्ष्य विद्या है। इस में विद्वानों के संग तथा उनकी सेवा और प्रसन्नता की नितान्त आवश्यकता है।

ओं त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः।
अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय ॥ ५ ॥
ऋक् म० २। सू० २७। मं० ९ ॥

पदार्थ—([ये] हिरण्ययाः धारपूताः) जो लोग तेजस्वी हैं, और जिन की वाणी उत्तम विद्या और शिक्षा से पवित्र हुई है, वे (शुचयः उरुशंसाः अस्वप्नजः) शुद्ध पवित्र, बहुत प्रशंसावाले, अविद्यारूपी निद्रा से रहित, विद्या के व्यवहार में जागते हुए, (अनिमिषाः अदब्धाः) निमेष अर्थात् आलस्य से रहित, और हिंसा करने के अयोग्य अर्थात् रक्षणीय विद्वान् लोग, (ऋजवे मर्त्याय त्री दिव्या रोचना) सरलस्वभाववाले मनुष्य के लिये तीन प्रकार के शुद्ध दिव्य रुचियोग्य ज्ञान वा पदार्थों को (धारयन्त) धारण करते हैं, [ते जगत्-कल्याणकराः स्युः] वे जगत् के कल्याण करनेवाले हों ॥५॥

भावार्थ—जो मनुष्य जीव प्रकृति और परमेश्वर की तीन प्रकार की विद्या को धारण करके दूसरों को देते हैं, और सब को अविद्यारूप निद्रा से उठाके विद्या में जगाते हैं, वे मनुष्यों के मङ्गल करानेवाले होते हैं ॥५॥

अर्थात् मन्त्रोक्त तीन प्रकार की विद्या को जानकर अन्यों को भी उसका उपदेश करनारूप कल्याणकारी कर्म जीव का मुख्य कर्त्तव्य है।

ओम् आ धर्णसिर्बृहद्दिवो रराणो विश्वेभिर्गन्त्वोमभिर्हुवानः।
ग्ना वसान ओषधीरमृध्रस्त्रिधातुशृङ्गो वृषभो वयोधाः ॥ ६ ॥
ऋक म० ५। सू० ४३। मन्त्र १३ ॥

पदार्थ—[हे विद्वन्! यथा]—हे विद्वान्! जैसे (धर्णसिः बृहद्दिवः रराणः) धारण करनेवाला, बड़े प्रकाश का दान करता हुआ (विश्वेभिः ओमभिः) सम्पूर्ण रक्षण आदि के करनेवालों के साथ (हुवानः ग्नाः वसानः) ग्रहण करता, और वाणियों को आच्छादित करता हुआ (ओषधीः अमृध्रः त्रिधातुशृङ्गः) सोमलता आदि ओषधियों का नहीं नाश करनेवाला, तीन धातु अर्थात् शुक्ल रक्त कृष्ण गुण शृंगों के सदृश जिसके हैं, और (वयोधाः वृषभः=सूर्यः) सुन्दर आयु को धारण करनेवाला वृष्टिकारक सूर्य्य [जगदुपकारी वर्त्तते, तथैव भवान् जगदुपकाराय] संसार का उपकारी है, वैसे ही आप संसार के उपकार के लिये (आगन्तु) उत्तम प्रकार प्राप्त हूजिये॥ ६॥

भावार्थ—जो विद्वान् तीन गुणों से युक्त प्रकृति के जानने, वाणी के जानने, नहीं हिंसा करने, औषधों से रोगों को निवारण, और ब्रह्मचर्य्य आदि के बोध से अवस्था के बढ़ानेवाले होते हैं, वे ही संसार के पूज्य होते हैं॥ ६॥

अर्थात् मन्त्रोक्त गुणों से संयुक्त होने का उपाय करके अपनी तथा अन्यों की उन्नति सब को करनी चाहिये।

ओं शृण्वन्तु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्तः।
आदित्यैर्नो अदितिः शृणोतु यच्छन्तु नो मरुतः शर्म भद्रम्॥ ७॥
ऋ० मं० ३। सू० ५४। मं० २०॥

पदार्थ—[हे विद्वांसः! भवन्तः] हे विद्वानो! आप लोग (इळया=इडया [सह वर्त्तमानान्] नः=अस्मान् [कीर्तिमतः] शृण्वन्तु) प्रशंसित वाणी के साथ वर्त्तमान हम कीर्तिमान् लोगों की स्तुतिमय प्रार्थना को सुनिये। (वृषणः ध्रुवक्षेमासः पर्वतासः [इव अस्मान्] मदन्तः [उन्नयन्तु]) वृष्टि करनेवाले, और निश्चित रक्षा करनेवाले मेघों के समान हमारी, प्रसन्न होते हुए आप वृद्धि=उन्नति कीजिये। (आदित्यैः [सह] अदितिः नः शृणोतु) विद्वानों के साथ

माता हम लोगों को सुनें । (मरुतः नः भद्रं शर्म यच्छन्तु) मनुष्य लोग अथवा प्राणादि पवन हम लोगों के लिये कल्याण करनेवाले श्रेष्ठ गृह के सदृश सुख को देवें ॥७॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि सब प्राप्तियों से प्रथम उत्तम शिक्षा, तदनन्तर विद्या, पुनः सत्सङ्ग से कल्याणकारक आचरण, उत्तम, बातों का श्रवण, और उपदेश करके सबके योगक्षेम अर्थात भोजन आच्छादन के निर्वाह और कल्याण को सिद्ध करें ॥७॥

——:०:——

उपास्य देव कौन है ?

ओं वीरस्य नु स्वश्व्यं जनासः प्र नु वोचाम विदुरस्य देवाः ।
षोढा युक्ताः पञ्चपञ्चा वहन्ति महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १ ॥
ऋक् म० ३ । सू० ५५ । मं० १८ ॥

पदार्थ—(हे जनासः ! [वयम्] अस्य वीरस्य स्वश्व्यं नु प्रवोचाम) हे विद्याओं में प्रकट हुए पुरुषो ! हम इस शौर्य्यादि गुणों को प्राप्त हुए शूर को अति उत्तम अश्व-विषयक अच्छे वचन का शीघ्र उपदेश देवें । ([ये] युक्ताः देवाः देवानाम् महत् एकम् असुरत्वं विदुः) जो संयुक्त हुए विद्वान् जन विद्वानों में बड़े एक दोषों के दूर करने को जानते, और ([ये] षोढा युक्ताः पञ्चपञ्च [यत्] आ वहन्ति [तत् विदुः, तान् प्रति वयम् एतत् ब्रह्म] नु वोचाम) जो छः प्रकार की संयुक्त इन्द्रियां, और पांच-पांच प्राण जिस विषय को प्राप्त होते हैं, उसको जानते हैं, उनके प्रति हम लोग इस ब्रह्म का शीघ्र उपदेश देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिसकी प्राप्ति में पांच प्राण निमित्त, और जिसको सब योगी लोग समाधि से जानते हैं, उसी को उपासना भृत्यों में वीरपन को उत्पन्न करनेवाली है। ऐसा हम लोग उपदेश देवें ॥ १ ॥

ओं नि वेवेति पलितो दूत आस्वन्तर्महांश्चरति रोचनेन ।
वपूंषि बिभ्रदभि नो वि चष्टे महद्देवानामसुरत्वेकम् ॥ २ ॥

ऋ० म० ३ । सू० ५५ । मं० ९ ॥

पदार्थ—[हे मनुष्याः ! यः जगदीश्वरः] हे मनुष्यो ! जो जगदीश्वर (आसु अन्तः निवेवेति) इन प्रजाओं में भीतर अत्यन्त व्याप्त है, (पलितः दूतः [इव] महान् रोचनेन चरति) श्वेत केशों से युक्त समाचार देनेवाले दूत के समान व्याप्त होकर अपने प्रकाश से प्राप्त होता है, [विपूंषि बिभ्रत् नः अभि विचष्टे] रूपों को धारण करता हुआ हम लोगों को सम्मुख होकर विशेष करके उपदेश देता है, ([तद् एव] देवानाम् [अस्माकम्]) वही दिव्य गुणों, पृथिवी सूर्य जीव आदि दिव्य उत्तम पदार्थों तथा विद्वानों के मध्य में हम लागों का (एकम् =अद्वितीयम् असहायं चेतनामात्रं तेजःस्वरूपं ब्रह्म) केवल एक अद्वितीय सहायरहित चेतनमात्र तेजस्वरूप परब्रह्म परमात्मा (असुरत्वम् =यत् असुषु प्राणेषु रमते तत् प्राणाधारम्, अस्यति प्रक्षिपति दूरीकरोति सर्वाणि दुःखानि तत् सर्वेषां दुःखानां प्रक्षप्तृ) प्राणों में रमण करनेवाला, प्राणाधार तथा समस्त दुःखों को दूर करनेवाला, (महत् =सर्वेभ्यो बृहत् पूज्यं सत्कर्तुमर्हम् अस्ति) सबसे बड़ा, पूजनीय और सत्कार करने योग्य है ॥ २ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो जगदीश्वर योगियों को वायु के द्वारा वृद्ध दूत के सदृश दूर देश में वर्त्तमान समाचार वा पदार्थ को जनाता है, और अन्तर्यामी हुआ अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित करता है, और जीवों के कर्मों को जानकर उनका फल देता है, अन्तःकरण में वर्त्तमान हुआ न्याय और अन्याय करने और न करने को चिताता है, वही हम लोगों को अतिशय पूजा करने योग्य ब्रह्म वस्तु है । आप लोग भी ऐसा जानें ॥२॥

मनुष्याः कस्योपासनं कुर्युरित्याह=मनुष्य किस की उपासना करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है—

ओं यस्य प्रयाणमन्वन्यऽ इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा ।
यः पार्थिवानि विममे सऽ एतशो रजाᳬसि देवः सविता महित्वना ॥३॥
यजु० अ० ११ । मं० ६ ॥

पदार्थ—(यस्य देवस्य) हे योगी पुरुषो ! तुम को चाहिये कि जिस सब सुख देनेहारे ईश्वर के (महिमानं प्रयाणम्) स्तुति-विषय को, कि जिससे सब सुख प्राप्त होवें, (अनु अन्ये देवाः ययुः) उसके पीछे जीवादि और विद्वान् लोग प्राप्त होवें, (यः एतशः) जो सब जगत् में अपनी व्याप्ति से प्राप्त हुआ, (सविता देवः) सब जगत् का रचनेहारा शुद्धस्वरूप भगवान् (महित्वना ओजसा) अपनी महिमा और पराक्रम से (पार्थिवानि रजाँसि) पृथिवी पर प्रसिद्ध सब लोकों को (विममे इत्) विमानादि यानों के समान रचता है, उसे ही निरन्तर उपासनीय मानो ॥३॥

भावार्थ—जो विद्वान् लोग इस जगत् के बीच-बीच पोल में अपने अनन्त बल से धारण करने रचने और सुख देनेहारे, शुद्ध सर्व-शक्तिमान्, सबके हृदयों में व्यापक, ईश्वर की उपासना करते हैं, वे ही सुख पाते हैं, अन्य नहीं ॥३॥

अथ गृहाश्रममिच्छद्भ्यो जनेभ्यः परमेश्वर एवोपास्य इत्युच्यते= अब गृहस्थाश्रम की इच्छा करनेवालों को ईश्वर ही की उपासना करनी चाहिये, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

ओं यस्मान्न जातः परो अन्योऽ अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सᳬरराणस्त्रीणि ज्योतीᳬषि सचते स षोडशी॥४॥
य० अ० ८ । मन्त्र ३६ ॥

पदार्थ—(यस्मात् परः अन्यः न जातः) जिस परमेश्वर से उत्तम और दूसरा कोई नहीं हुआ. (यः विश्वा भुवनानि आविवेश) जो परमात्मा समस्त लोकों को व्याप्त हो रहा है, (सः प्रजापतिः प्रजया संरराणः) वह संसारमात्र का स्वामी परमेश्वर सब संसार से उत्तम दाता होता हुआ (षोडशी) इच्छा=कर्मचेष्टा वा ईक्षण, प्राण श्रद्धा पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश,दशों इन्द्रिय, मन अन्न वीर्य=

पराक्रम, तप=धर्मानुष्ठान, मन्त्र=वेदविद्या, लोक और नाम (=लोक और लोक के नाम,अर्थात् जिस संज्ञा से संज्ञी पहिचाना जाता है, अथवा नाम=यश और कीर्ति जिससे कि सर्वत्र प्रसिद्धि होती है) इन सोलह कलाओं को, और (त्रीणि ज्योतींषि सचते) सूर्य बिजली और अग्नि इन तीन ज्योतियों को सब पदार्थों में स्थापित करता है ॥४॥

भावार्थ—गृहस्थाश्रम की इच्छा करनेवाले पुरुषों को चाहिये कि जो सर्वत्र व्याप्त, सब लोकों को रचने और धारण करनेवाला, दाता न्यायकारी, सनातन अर्थात् सदा ऐसा ही बना रहता है, सत्=अविनाशी चेतन और आनन्दमय, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव,और सब पदार्थों से अलग रहनेवाला, छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा, सर्वशक्तिमान् परमात्मा, जिस से कोई भी पदार्थ उत्तम वा जिसके समान नहीं है, उसकी उपासना करें ॥४॥

इन १६ कलाओं के बीच में सब जगत् है। और परमेश्वर में अनन्त कला हैं, और जीव में भी ये १६ कला हैं।

—:o:—

अथ शिष्यायाध्यापककृत्यमाह=अब शिष्य के लिये पढ़ाने वाले का कर्म अगले मन्त्र में कहा है—

ओम् अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम। सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽ अग्निः ॥ १ ॥

यजु० अ० ७। मं० १४॥

पदार्थ—हे (देव) योगविद्या के चाहनेवाले, (सोम) प्रशंसनीय गुणयुक्त शिष्य ! हम अध्यापक लोग (ते सुवीर्यस्य) तुझ योग के जिज्ञासु के लिये,जिस पदार्थ से शुद्ध पराक्रम बढ़े,उसके समान (अच्छिन्नस्य रायः पोषस्य ददितारः स्याम) अखण्ड योगविद्या से उत्पन्न हुए धन की दृढ़ पुष्टि के देनेवाले हों। (प्रथमा विश्ववारा संस्कृतिः) जो यह पहली सब ही सुखों के स्वीकार कराने योग्य विद्यासुशिक्षाजनित नीति है, (सा) वह तेरे लिये जगत् में सुखदायक हो। और हम लोगों में जो (वरुणः अग्निः) श्रेष्ठ अग्नि के

समान सब विद्याओं से प्रकाशित अध्यापक है, (सः प्रथमः मित्रः) वह सब से प्रथम मेरा मित्र हो॥ १॥

भावार्थ—योगविद्या में सम्पन्न शुद्धचित्तयुक्त योगियों को योग्य है कि जिज्ञासुओं के लिये नित्य योग और विद्यादान देकर उन्हें शारीरिक और आत्मबल से युक्त किया करें ॥ १ ॥

पुनरध्यापकशिष्यकृत्यमाह=फिर अध्यापक और शिष्य का कर्म अगले मन्त्र में कहा है—

ओम् अयं वाम्मित्रावरुणा सुतः सोमऽ ऋतावृधा।
ममेदिह श्रुतꣳ हवम्। उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा ॥२॥
य० अ० ७। मन्त्र ६ ॥

पदार्थ – (मित्रावरुणा=भो प्राणोदानाविव वर्त्तमानौ) हे प्राण और उदान के समान वर्त्तमान, (ऋतावृधा=यौ ऋतं विज्ञानं वर्द्धयतस्तौ सत्यविज्ञानवर्धकयोगविद्याध्यापकाध्येतारौ!) सत्यविज्ञानवर्द्धक योगविद्या के पढ़ने-पढ़ानेवालो ! (वाम् अयम्) तुम दोनों का यह (सोमः=योगैश्वर्यवृन्दः) योग के ऐश्वर्य्य का समूह (सुतः=निष्पादितः अस्ति) सिद्ध किया हुआ है। (इह=अस्मिन् योगविद्याग्राहके व्यवहारे) इस योगविद्या के ग्रहण करनेरूप व्यवहार में (मम हवम्=स्तुतिसमूहं मे) योगविद्या से प्रसन्न होनेवाले मेरी स्तुति को (श्रुतम्=शृणुतम्) सुनो। [हे यजमान ! यतस्त्वम्] हे यजमान ! जिस कारण तू (उपायमगृहीतः इत् असि) अच्छे नियमों के साथ स्वीकार किया हुआ ही है, [अतोऽहम्] इस कारण से मैं (मित्रावरुणाभ्यां [सह वर्त्तमानम्]) प्राण और उदान के साथ वर्त्तमान (त्वा=त्वां [गृह्णामि]) तुझको ग्रहण करता हूं ॥२॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि इस योगविद्या का ग्रहण करके, श्रेष्ठ पुरुषों का उपदेश सुनकर, और यमनियमों को धारण करके, योगाभ्यास के साथ अपना वर्त्ताव रक्खें ॥२॥

पुनरध्यापकशिष्यकृत्यमाह=पुनः अध्यापक और शिष्य का कर्म अगले मन्त्र में कहा है—

ओं राया वयᳬं ससवाᳬंसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः। तान्धेनुम्मित्रावरुणा युवन्नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यान्त्वा ॥३॥ य० अ० ७। मं० १०॥

पदार्थ—(ससवांसः=हे संविभक्ताः) हे भले-बुरे के अलग-अलग करनेवाले, (देवाः=विद्वांसः!, [च]) विद्वानो! आप, और (वयम्=पुरुषार्थिनः) हम पुरुषार्थी लोग (यवसेन=अभीष्टेन तृणबुसादिना) अभीष्ट तृण घास भूसा आदि से (गावः इव=गवादयः पशव इव) गौ आदि पशुओं के समान, (हव्येन राया=गृहीतव्येन धनेन सह) ग्रहण करने के योग्य धन से (मदेम=हृष्येम) हर्षित हों। और (हे मित्रवरुणा=हे प्राणवत सखायावुत्तमौ जनौ !) हे प्राण के समान प्रिय उत्तम जनो ! (युवं नः=युवां अस्मभ्यम्) तुम दोनों हमारे लिये (विश्वाहा=सर्वाणि दिनानि) सब दिनों में (अनपस्फुरन्तीम्=विज्ञापयित्रीमिव योगविद्याजन्याम्) ठीक-ठीक योगविद्या के ज्ञान को देनेवाली (धेनुम्=वाचम्) वाणी को (धत्तम्) धारण कीजिये। (एषः ते योनिः [हे यजमान ! यस्य एषः ते विद्याबोधो योनिः अस्ति, अतः]) हे यजमान ! जिससे तेरा यह विद्याबोध घर है, इससे (ऋतायुभ्याम्=आत्मन ऋतमिच्छद्भ्यामिव सहितम्) सत्य व्यवहार चाहनेवालों के सहित (त्वा=[त्वां वयमाददीमहे]) तुझको हम लोग स्वीकार करते हैं ॥३॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि अपने पुरुषार्थ और विद्वानों के संग से परोपकार की सिद्धि और कामना को पूर्ण करनेवाली वेद-वाणी को प्राप्त होकर आनन्द में रहें ॥३॥

पुनरप्येतयोः कर्त्तव्यमुपदिश्यते—फिर भी इन योगविद्या के पढ़ने-पढ़ानेवालों के करनेयोग्य काम का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

ओं या वाङ्कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती तया यज्ञम्मिमिक्षितम्। उपयामगृहीतोस्यश्विभ्यान्त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यान्त्वा ॥४॥
य० अ० ७। मं० ११॥

पदार्थ—(हे अश्विनौ !) हे सूर्य और चन्द्र के तुल्य प्रकाशित योग के पढ़ने-पढ़ानेवालो ! (या वां मधुमती) जो तुम्हारी प्रशंसनीय मधुरगुणयुक्त (सूनृतावती कशा) प्रभात समय में क्रम-क्रम से प्रदीप्त होनेवाली उषा के समान वाणी है, (तया यज्ञम्) उससे ईश्वर से संग करानेहारे योगरूपी यज्ञ को (मिमिक्षितम्) सिद्ध करना चाहो। हे योग पढ़नेवाले ! तू (उपयामगृहीतोऽसि) यम-नियमादिकों से स्वीकार किया गया है। (ते एषः योनिः) तेरा यह योग घर के समान सुखदायक है, इससे (अश्विभ्यां त्वा) प्राण और अपान के योगोचित नियमों के साथ वर्त्तमान तेरा, और हे योगाध्यापक ! (माध्वीभ्यां त्वा) माधुर्य के लिये जो श्रेष्ठ नीति और योगरीति है, उनके साथ वर्त्तमान आपका, हम लोग आश्रय करते हैं, अर्थात् समीपस्थ होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—योगी लोग मधुर प्यारी वाणी से योग सीखनेवालों को उपदेश करें, और अपना सर्वस्व योग ही को जानें। तथा अन्य मनुष्य वैसे योगी का सदा आश्रय किया करें ॥४॥

अथ योगिगुणा उपदिश्यन्ते=फिर भी अगले मन्त्र में योगी के गुणों का उपदेश किया है—

ओं तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳ स्वर्विदम्। प्रतीचीनं वृजनन्दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्द्धसे। उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥५॥ य० अ० ७। मं० १२ ॥

पदार्थ—[हे योगिन् ! त्वम्] हे योगी ! आप (उपयामगृहीतः असि) योग के अङ्गों अर्थात् शौचादि नियमों के ग्रहण करनेवाले हैं। (ते एषः योनिः) आपका यह योगयुक्त स्वभाव सुख का हेतु है। जिस योग से आप (अपमृष्टः) अविद्यादि दोषों से अलग हुए हैं, तथा (शण्डः असि) शमादिगुणयुक्त हैं, और (यासु वर्द्धसे) जिन योगक्रियाओं में आप वृद्धि को प्राप्त होते हैं, तथा (विश्वथा प्रत्नथा पूर्वथा इमथा)

समस्त प्राचीन महर्षि पूर्वकाल के योगी और वर्त्तमान योगियों के समान आप, उस (ज्येष्ठतातिम्) अत्यन्त प्रशंसनीय (बर्हिषदम्) हृदयाकाश में स्थिर, (स्वर्विदम्) सुख-लाभ करनेवाले, (प्रतीचीनम्) अविद्यादि दोषों से प्रतिकूल होनेवाले,(आशु वर्धन्तम्)शीघ्र सिद्धि देनेवाले, उत्कर्ष को पहुंचानेवाले, और (धुनिम्) इन्द्रियों को कंपानेवाले, (वृजनम् दोहसे) योग-बल को परिपूर्ण करते हैं, (तम्) उस योगबल को (शुक्रपाः) जो कि योगवीर्य वा योगबल को रक्षा करनेहारे, (देवाः) योगबल के प्रकाश से प्रकाशित योगी लोग हैं, वे (त्वा प्रणयन्तु) आप को अच्छे प्रकार पहुंचावें=सिखावें। (अच्छाय) शमदमादि गुणयुक्त उस- योगबल को प्राप्त हुए आपके लिये उसी योग की (अनावृष्टा असि) दृढ़ वीरता हो=प्राप्त हो, (वीरताम् पाहि) और आप उस वीरता की रक्षा कीजिये। (अनु त्वा) तथा रक्षा को प्राप्त हुई वह वीरता आप को पाले ॥२॥

भावार्थ—हे योगविद्या की इच्छा करनेवाले ! जैसे शमदमादि गुणयुक्त पुरुष योगबल से विद्याबल की उन्नति कर सकता है, और वही अविद्यारूपी अन्धकार का विध्वंस करनेवाली योगविद्या सज्जनों को प्राप्त होकर यथोचित सुख देती है, वैसे आप को भी दे ॥१॥

उक्तयोगानुष्ठाता योगी कीदृग्भवतीत्युपदिश्यते—उक्त योग का अनुष्ठान करनेवाला योगी कैसा होता है, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

ओं सुवीरो वीरान्प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्।
संजग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः शुक्रस्याधिष्ठानमसि ॥६॥ यजु० अ० ७। मं० १३ ॥

पदार्थ—हे योगिन् ! (सुवीरः) श्रेष्ठ वीर के समान योगबल को प्राप्त हुए आप (वीरान् प्रजनयन्) अच्छे-अच्छे गुणयुक्त पुरुषों को प्रसिद्ध करते हुए (परीहि) सब जगह भ्रमण कीजिये। और इस प्रकार (यजमानम् अभि) धन आदि पदार्थों को देनेवाले उत्तम पुरुषों

के सम्मुख (रायस्पोषेण संजग्मानः) धन की पुष्टि से संगत हूजिये। और आप (दिवा पृथिव्या) सूर्य और पृथिवी के गुणों के साथ (शुक्रः शुक्रशोचिषा) अति बलवान्, सब को शोधनेवाले सूर्य की दीप्ति से (निरस्तः) अन्धकार के समान पृथक् हुए ही योगबल के प्रकाश से विषयवासना से छूटे हुए (शण्डः) शमादिगुणयुक्त (शुक्रस्य अधिष्ठानम् अस्ति) अत्यन्त योगबल के आधार हैं ॥६॥

भावार्थ—शमदमादि गुणों का आधार, और योगाभ्यास में तत्पर योगीअपनी योगविद्या के प्रचार से योगविद्या चाहनेवालों का आत्मबल बढ़ाता हुआ सब जगह सूर्य के समान प्रकाशित होता है ॥६॥

———०———

परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये ?

अथ किमर्थं परमेश्वर उपास्यः प्रार्थनीयश्चास्तीत्याह—अब किसलिये परमेश्वर की उपासना और प्रार्थना करनी चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है—

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥१॥
यजु० अ० ११। मं० ७॥

पदार्थ—(देव सवितः) हे सत्ययोगविद्या से उपासना के योग्य, शुद्ध ज्ञान के देने और सब सिद्धियों को उत्पन्न करनेहारे परमेश्वर! आप (नः भगाय यज्ञं प्रसुव) हमारे अखिल ऐश्वर्य की प्राप्ति के अर्थ, सुखों को प्राप्त करानेहारे व्यवहार को उत्पन्न कीजिये। (यज्ञपतिं प्रसुव) तथा इस सुखदायक व्यवहार के रक्षक जन को उत्पन्न कीजिये। (गन्धर्वः दिव्यः केतपूः) पृथिवी को धारण करनेहारे, शुद्ध गुण कर्म और स्वभावों में उत्तम, और विज्ञान से पवित्र करनेहारे आप (नः केतम् पुनातु) हमारे विज्ञान को पवित्र कीजिये। और (वाचस्पतिः) सत्यविद्याओं से युक्त वेदवाणी के प्रचार से रक्षा करनेवाले आप (नः वाचं स्वदतु) हमारी वाणी को स्वादिष्ट अर्थात् कोमल मधुर कीजिये ॥१॥

भावार्थ—जो पुरुष सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त, शुद्ध निर्मल ब्रह्म की उपासना और योगविद्या की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं, वे सब ऐश्वर्य को प्राप्त अपने आत्मा को शुद्ध और योगविद्या को सिद्ध कर सकते हैं। वे सत्यवादी होके सब क्रियाओं के फलों को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

पुनस्तमेव विषयमाह=फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में भी कहा है—

ओम् इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यꣳ सखिविदꣳ सत्राजितन्धनजितꣳ स्वर्जितम् । ऋचा स्तोमꣳ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्त्तनि स्वाहा ॥२॥ य० अ० ११ । मं० ८ ॥

पदार्थ--(देव सवितः) हे सत्य कामनाओं को पूर्ण करने, और अन्तर्यामिरूप से प्रेरणा करनेहारे जगदीश्वर! आप (नः इमम्) हमारे पीछे कहे और आगे जिसको कहेंगे उस (देवाव्यम्) दिव्य विद्वान् वा दिव्य गुणों की जिससे रक्षा हो, (सखिविदम्) मित्रों को जिससे प्राप्त हों, (सत्राजितम्) सत्य को जिससे जीतें, (धनजितम्) धन की जिससे उन्नति होवे, (स्वर्जितम्) सुख को जिससे बढ़ावें, (ऋचा स्तोमम्) ऋग्वेद से जिसकी स्तुति हो, उस (यज्ञम् स्वाहा प्रणय) विद्या और धर्म का संयोग करानेहारे यज्ञ को सत्यक्रिया के साथ प्राप्त कीजिये । (गायत्रेण गायत्रवर्त्तनि) गायत्री आदि छन्द से गायत्री आदि छन्दों की गानविद्या के (बृहत् रथन्तरम्) बड़े अच्छे-अच्छे यानों से जिसके पार हों, उस मार्ग को (समर्धय) अच्छे प्रकार बढ़ाइये ॥२॥

भावार्थ—जो मनुष्य ईर्ष्या द्वेष आदि दोषों को छोड़कर ईश्वर के समान सब जीवों के साथ मित्रभाव रखते हैं, वे सम्पत् को प्राप्त होते हैं ॥२॥

—:o:—

ब्रह्मविद्या का उपदेश करने की आज्ञा

अगले मन्त्र में आत्मज्ञान नाम ब्रह्मविद्या-विषयक उपदेश करने की वेदोक्त आज्ञा कहते हैं—

ओम् अच्छिद्रा सूनो सहसो नो अद्य स्तोतृभ्यो मित्रमहः शर्म यच्छ ।
अग्ने गृणन्तमंहस उरुष्योर्जो नपात् पूर्भिरायसीभिः ॥ १ ॥
ऋ० मं० १ । सू० ५८ । मन्त्र ८ ॥

पदार्थ—हे (सहसः सूनो) पूर्ण ब्रह्मचर्य से शारीरिक बलयुक्त और विद्याद्वारा आत्मा के बलयुक्त जन के पुत्र, (मित्रमहः अग्ने) सब के मित्र और पूजनीय, तथा अग्निवत् प्रकाशमान विद्वन् ! (नपात्) नीच कक्षा में न गिरनेवाले पुरुष आप (अद्य नः अंहसः पाहि) आज अपने आत्मस्वरूप के उपदेश से हमारी पापाचरण से रक्षा कीजिये, (अच्छिद्रा शर्म यच्छ) छेदभेद-रहित सुखों को प्राप्त कराइये, (स्तोतृभ्यः [विद्यां प्रापय]) विद्वानों से विद्याओं की प्राप्ति कराइये, और (गृणन्तम् पूर्भिः आयसीभिः ऊर्जः उरुष्य) आत्मा की स्तुति के कर्त्ता को रक्षा करने में समर्थ अन्न आदि क्रियाओं से परिपूर्ण, और ईश्वररचित सुवर्ण आदि भूषणों से पराक्रम के बल द्वारा दुःख से पृथक् रखिये ॥ १ ॥

भावार्थ—हे आत्मा और परमात्मा के जाननेवाले योगी जनो ! आप लोग आत्मा और परमात्मा के उपदेश=आत्मविद्या वा ब्रह्मविद्या से सब मनुष्यों को दुःख से दूर करके निरन्तर सुखी किया करो ॥ १ ॥

जो लोग इस आत्मविद्या में पुरुषार्थ करते हैं, उनकी सहायता ईश्वर भी करता है । जैसा कि अगले वेदमन्त्र में कहा है—

ओं महाँ २ऽइन्द्रो यऽ ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ २ऽइव । स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे । उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥२॥ य० अ० ७ । मं० ४० ॥

पदार्थ—हे अनादिसिद्ध महायोगिन्, सर्वव्यापी ईश्वर ! जो

आप योगियों से (उपयामगृहीतः असि [तस्माद् वयम्]) यमनियमादि योग के अङ्गों से स्वीकार किये हुए हैं, इस कारण हम लोग (महेन्द्राय त्वा [उपाश्रयामहे]) योग से प्रकट होनेवाले अच्छे ऐश्वर्य के लिये आप का आश्रय करते हैं। (ते एषः योनिः [अत एव]) आप का यह योग हमारे कल्याण का निमित्त है, इसलिये (महेन्द्राय त्वा [वयं ध्यायेम]) मोक्ष करानेवाले ऐश्वर्य के लिये हम लोग आप का ध्यान करते हैं। (यः महान् वष्टिमान् पर्जन्य इव) जो बड़े-बड़े गुण कर्म और स्वभाववाला, वर्षनेवाले मेघ के तुल्य (वत्सस्य स्तोमैः) स्तुतिकर्त्ता की स्तुतियों से (ओजसा) अनन्त बल के साथ [(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर] सुख की वर्षा करता है, उस ईश्वर को जानकर योगी (वावृधे) अत्यन्त उन्नति को प्राप्त होता है ॥२॥

भावार्थ—जैसे मेघ वर्षा समय में अपने जल के समूह से सब पदार्थों को तृप्त करता हुआ उन्नति देता है, वैसे ईश्वर भी योगाऽभ्यास करने के समय में योगाभ्यास करनेवाले योगी पुरुष के योग को अत्यन्त बढ़ाता है ॥२॥

———:०:———

गुरु शिष्य का परस्पर बर्त्ताव

ब्रह्मविद्या सीखने और सिखानेहारों को किस प्रकार परस्पर बर्त्ताव करना उचित है, सो आगे कहते हैं—

ओं सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
तैत्तिरीयारण्यके नवमप्रपाठके प्रथमानुवाके [ऋ०भा०भू०, पृ० १]॥

अर्थ—हे 'ओं' वाच्य सर्वशक्तिमान् ईश्वर! आपकी कृपा रक्षा और सहाय से हम दोनों (=गुरु-शिष्य) परस्पर एकदूसरे की रक्षा करें। हम दोनों परम प्रीति से मिलकर सबसे उत्तम ऐश्वर्य के आनन्द को आप के अनुग्रह से सदा भोगें। हे कृपानिधे! आपके

सहाय से हम दोनों ब्रह्मविद्या के अभ्यास द्वारा योगवीर्य अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान और मोक्षप्राप्तिमूलक सामर्थ्य को पुरुषार्थ से बढ़ाते रहें। हे प्रकाशमय सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर! आप के अनुग्रह और सामर्थ्य से हमारा ब्रह्मविद्या का यथावत् ज्ञान और ब्रह्मतेज सदा उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता रहे। हे प्रीति के उत्पादक पर-मात्मन्! ऐसी कृपा कीजिये कि हम दोनों परस्पर विरोध कभी न करें, किन्तु परस्पर प्रेम भक्ति और मित्रभाव से वर्त्तें। और हे भग-वन्! आप अपनी करुणा से हम दोनों के तापत्रय को सम्यक् शान्त और निवारण कर दीजिये॥

इस मन्त्र में जो ब्रह्मतेज=ब्रह्मवर्चस की वृद्धि के लिये प्रार्थना की गई है, सो यही ब्रह्मतेज सब प्रकार के बल पराक्रम विद्या आयु योग्यता और सामर्थ्य आदि प्राप्त करने का प्रथम उपाय है। सो यथावत् ब्रह्मचर्य के धारण करने से प्राप्त होता है। जिसका सांगो-पांग पालन 'सत्यार्थप्रकाश' के समग्र तृतीय समुल्लासोक्त शिक्षा के अनुसार करना उचित है। ब्रह्मचर्य के धारण करने में वीर्य की रक्षा और स्वाध्याय अर्थात् ब्रह्मविद्या-विधायक वेदादिसत्यशास्त्रों का पठन-पाठन तथा योगाभ्यास के अनुष्ठान की प्रधानतया आवश्यकता है। अतः थोड़े से उपदेशरूप वाक्य आगे लिखते हैं—

योग सब आश्रमों में साधा जा सकता है—'स्वाध्याय' नाम ऋषि-यज्ञ का है। अर्थात् वेदादिसत्यशास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन, योगा-भ्यास का अनुष्ठान, ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना। अर्थात् सन्ध्योपासन जो स्वाध्याय का ही अंग है, सो योगाभ्यास के ही अन्तर्गत है। और वीर्य की रक्षा भी अष्टाङ्गयोगान्तर्गत वीर्याकर्षक प्राणायाम के अभ्यास करने से सिद्ध होती है। अतएव इस ग्रन्थ का मुख्य विषय जो योगाभ्यास है, वही ऋषियज्ञ का प्रधान अङ्ग है, और वेदादि का पठन-पाठन उसका साधन है।

वक्ष्यमाण द्वादश वाक्यों में भी यही उपदेश किया है कि स

प्रकार से सर्वदा स्वाध्याय नाम योगाभ्यास का अनुष्ठान करते रहना चाहिये। यथा—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ १ ॥

अर्थ—ईश्वर की वेदोक्त आज्ञा के पालनपूर्वक यथार्थ आचरण द्वारा योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥१॥

सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ २ ॥

अर्थ—मन कर्म और वचन से सत्य के आचरण द्वारा योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥२॥

तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ३ ॥

अर्थ—तपस्वी होकर अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए यम-नियमों के सेवनपूर्वक योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥३॥

दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ४ ॥

अर्थ—बाह्य इन्द्रियों को दमन अर्थात् दुष्टाचरणों से रोकके योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥४॥

शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ५ ॥

अर्थ—मन को शमन और शांत करके, अर्थात् चित्त की वृत्तियों को सब प्रकार के दोषों से हटाके योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥५॥

अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥६॥

अर्थ—विद्युत् अग्नि की विद्या को जानकर उससे शिल्पविद्या कलाकौशल सिद्ध करते हुए तथा आहवनीयाग्नि गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों में अग्निहोत्रादि यज्ञों द्वारा ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों के नियमों का यथायोग्य पालन करते हुए और संन्यासाश्रम में ज्ञानयज्ञ द्वारा प्राणों में प्राणों का हवन करते हुए योगाभ्यास करते और कराते रहो। इसमें अग्निष्टोम ज्योतिष्टोम आदि अश्वमेधपर्यन्त सब यज्ञ आ गये ॥६॥

अग्निहोत्रञ्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ७ ॥

अर्थ—अग्निहोत्रनामक नैत्यिक देवयज्ञ को करते हुए योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥७॥

अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ८ ॥

अर्थ—अतिथियों की सेवा करते हुए योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥८॥

मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ९ ॥

अर्थ—मनुष्य-सम्बन्धी अर्थात् विवाह आदि गृहाश्रम-सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य वर्त्तते हुए योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥९॥

प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ १० ॥

अर्थ—सन्तान और राज्य का पालन करते हुए योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥१०॥

इस वाक्य में गृहस्थ के लिये सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा, राजा के लिये राज्य और प्रजा का पालन करने की आज्ञा है। सो वेदोक्त ईश्वराज्ञानुसार न्यायादिनियमपूर्वक करना चाहिये। अगले वाक्यों में भी ऐसा ही उपदेश है।

प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ११ ॥

अर्थ—वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए योगाभ्यास करते और कराते रहो। गृहस्थ यदि ऋतुकालाभिगामित्व आदि नियमों के पालन-पूर्वक सन्तानोत्पत्ति करे, तब भी उसका ब्रह्मचर्य और वीर्य नष्ट नहीं होता ॥११॥

प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ १२ ॥

अर्थ—अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥१२॥ तैत्तिरीयोपनिषत्; शिक्षाध्याय, नवम अनुवाक [स० प्र०, समु० ३, पृष्ठ ७१] ॥

उक्त बारह उपदेशों में संसार-सागर का उल्लङ्घन करके मोक्ष-प्राप्ति के हेतु चार प्रकार के कर्म की आज्ञा है। अर्थात् एक—योगाभ्यास दूसरा—अग्निहोत्रादि यज्ञ, तीसरा—मानस-ज्ञानमय-यज्ञ, और चौथा—ब्रह्मचर्य। ये उपदेश वेदानुकूल हैं, इनकें वैदिक प्रमाण भी थोड़े से आगे लिखते हैं।

उक्त उपदेशावलि से यह भी असंदिग्ध सिद्ध होता है कि मनुष्य सब देश काल अवस्था आश्रम और दशा में योगाभ्यास करता हुआ योगी हो सकता है। यह मिथ्याभ्रम है कि बिना मूंड मुंडाये, काषायवस्त्र धारण किये, घर-बार पुत्र कलत्र धन-धान्य छोड़े योग सिद्ध हो ही नहीं सकता।

—:o:—

वेदोक्त-तीर्थ

अथ मनुष्यैः किं कार्यमित्याह=मनुष्यों को क्या करना चाहिये, इस विषय का उपदेश आगे कहते हैं। वक्ष्यमाण मन्त्र में संसार-सागर के पार करने का उपदेश है। सो उक्त १२ उपदेशों में कहे चारों प्रकार के उपाय इस एक मन्त्र में आ गये हैं—

ओं ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषंगिणः।
तेषाँ सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि॥ १॥

यजु० अ० १६। मं० ६१॥

पदार्थ—(ये सृकाहस्ताः निषगिणः [इव]) हम लोग, जो हाथों में वज्र धारण किये हुए, प्रशंसित बाण और कोश से युक्त जनों के समान (तीर्थानि प्रचरन्ति) दुःखों से पार करनेहारे वेद आचार्य सत्यभाषण और ब्रह्मचर्यादि अच्छे नियम, अथवा जिनसे समुद्रादिकों के पार उतरते हैं, उन नौका आदि तीर्थों का प्रचार करते हैं, और (तेषां सहस्रयोजने) उनके हजार योजन के देश में (धन्वानि अवतन्मसि) शस्त्रों को विस्तृत करते हैं॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों के दो प्रकार के तीर्थ होते हैं। उनमें पहिले तो वे हैं—जो ब्रह्मचर्य, गुरु की सेवा, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सत्संग, ईश्वर की उपासना, और सत्यभाषण आदि दुःखसागर से मनुष्यों को पार करते हैं। और दूसरे वे हैं—जिससे समुद्रादि जलाशयों के इस पार उस पार आने-जाने को समर्थ हों ॥१॥

योगाभ्यास-विषयक वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा प्रथम लिख चुके हैं। अतः अग्निहोत्रविषयक मन्त्र आगे लिखते हैं। अग्निहोत्रादि यज्ञ संन्यासाश्रम से अतिरिक्त तीन आश्रमों में कर्तव्य धर्म हैं—

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ २ ॥
यजु० अ० ३। मं० १ [ऋ०भा०भू०, पृ० २८२-२८४] ॥

पदार्थ—(समिधा घृतैः) हे विद्वान् लोगो ! तुम लोग वायु ओषधि और वर्षाजल की शुद्धि से सबके उपकार के अर्थ जिन इन्धनों से अच्छे प्रकार प्रकाश हो सकता है, उन घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्र वा ढाक आदि काष्ठों से (अग्निं बोधयत) भौतिक अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो। ([तम्] अतिथिम् [इव] दुवस्यत) उस अग्नि का अतिथि के समान सेवन करो। अर्थात् जैसे उस संन्यासी का,कि जिसके आने-जाने वा निवास का कोई दिन नियत नहीं है, सेवन करते हैं, वैसे उस अतिथिरूप अग्नि का सेवन करो। और (अस्मिन् हव्या आजुहोतन) उस अग्नि में होम करने योग्य जो चार प्रकार के साकल्य हैं[=(१) पुष्ट—घृत दुग्ध आदि, (२) मिष्ट—शर्करा गुड़ आदि, (३) सुगन्धित—केशर कस्तूरी आदि, (४) रोगनाशक—सोमलता अर्थात् गुडूची आदि ओषधि] उन को अच्छे प्रकार हवन करो ॥२॥

भावार्थ—जैसे गृहस्थ मनुष्य आसन अन्न जल वस्त्र और प्रियवचन आदि से उत्तम गुणवाले संन्यासी आदि का सेवन करते हैं, वैसे ही विद्वान् लोगों को यज्ञवेदी कलायन्त्र और यानों में अग्नि स्थापन

कर यथायोग्य इन्धन घी जलादि से उस अग्नि को प्रज्वलित करके वायु वर्षा जल की शुद्धि वा यात्तों की रचना नित्य करनी चाहिये ॥२॥

अब अग्निहोत्र का फल आगे कहते हैं—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ ३ ॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ॥ ४ ॥

अथर्व का० १९। सू० ५५। मं० ३, ४ [ऋ० भा० भू०, पृ० २८२, २८५] ॥

अर्थ—प्रतिदिन सायंकाल में श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर आनेवाले प्रातःकाल-पर्यन्त आरोग्य आनन्द और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है। इसी से परमेश्वर धनदाता प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! आप मेरे राज्य ऐश्वर्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो। हे परमेश्वर! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आप का मान करते हुए अपने शरीर से पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों ॥३॥

(प्रातःप्रातः०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो। परन्तु इसमें इतना अन्तर है कि जैसे प्रथम मन्त्र के आरम्भ के वाक्य का यह अर्थ है कि सायंकाल में किया हुआ अग्निहोत्र प्रातःकाल-पर्यन्त आरोग्य आदि की वृद्धि करनेवाला है, वैसे ही इस मन्त्र के प्रथम वाक्य का यह अर्थ है कि प्रातःकाल में किया हुआ होम सायंकाल पर्यन्त उक्त उत्कृष्ट सुख का दाता है। और दूसरे वाक्य का यह अर्थ है कि भौतिक अग्नि तथा ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्यन्त, अर्थात् सौ वर्ष तक धनादि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त हों ॥४॥

अभिप्राय यह है कि प्रथम मन्त्र में सायंकाल में अग्निहोत्र करने

का, और दूसरे में प्रातःकाल में अग्निहोत्र करने का फल कहा है। अर्थात् जो संध्याकाल में होम होता है, वह हुतद्रव्य प्रातःकाल तक वायु-शुद्धि द्वारा सुखकारी होता है। और जो अग्नि में प्रात काल में होम किया जाता है; वह हुतद्रव्य सायंकाल पर्यन्त वायु की शुद्धि द्वारा बल बुद्धि और आरोग्यकारक होता है। इसीलिये दिनरा त्र की सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्तसमय में परमेश्वर का ध्यान (=ध्यान-योग द्वारा उपासना) और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये।

[स० प्र०, समु० ४, पृष्ठ १४३]

मानस-ज्ञानमय-यज्ञ

अगले वेदमन्त्र में यह जताया गया है कि पाकशाला में बने वा अन्य उत्तम पदार्थ का भोजन गृहस्थ को अग्निहोत्र में बिना होम किये ग्रहण न करना चाहिये। किन्तु संन्यासी योगी दधि मधु घृता-न्नादि भोज्य पदार्थों का भोजन भौतिकाग्नि में हवन किये बिना भी कर सकते हैं। क्योंकि वे प्राणाग्नि में प्राणायामादि योग-क्रियाओं द्वारा महान् तपोनुष्ठानरूप होम सदैव किया करते हैं। इस प्रकार प्राणों में प्राणों का हवन करनेहारे तपस्वी तथा ईश्वराग्नि के श्रेष्ठ उपासक 'निरग्नि' कहाते हैं। क्योंकि भौतिक अग्निद्वारा यज्ञादि कर्मों का उल्लङ्घन करके वे केवल ज्ञान और विज्ञानकाण्ड के अधिकारी हो जाते हैं। उससे कर्मकाण्ड छूट जाता है।

आगे 'मानस-ज्ञानमय-यज्ञ-विषयक' वेदमन्त्र' लिखते हैं। इस ही को यथार्थ ध्यानयोग, उपासनायोग, योगाभ्यास, ब्रह्मविद्या, विज्ञान-योग आदि जानो—

ओं यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १ ॥

यजु० अ० ३१। मन्त्र १४।

पदार्थ—[हे मनुष्याः !] यत् हविषा पुरुषेण [सह] हे मनुष्यो! जब ग्रहण करने योग्य पूर्ण परमात्मा के साथ (देवाः यज्ञं

अतन्वत) विद्वान् लोग मानसज्ञानमययज्ञ को विस्तृत करते हैं, ([तदा] अस्य वसन्तः आज्यम्) तब इस यज्ञ का पूर्वाह्णकाल ही घी है, (ग्रीष्मः इध्मः) मध्याह्नकाल इन्धन=प्रकाशक है, (शरत् हविः आसीत्) और आधी रात हविः नाम होमने योग्य पदार्थ है, [इति यूयं विजानीत] ऐसा तुम लोग जानो ॥१॥

भावार्थ—जब बाह्य सामग्री के अभाव में विद्वान् लोग सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर की उपासनारूप मानसज्ञानयज्ञ को विस्तृत करें, तब पूर्वाह्ण आदि काल ही साधनरूप से कल्पना करना चाहिये ॥१॥

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्यादि वानप्रस्थान्त तीनों आश्रम सुष्ठुतया समाप्त करके चतुर्थाश्रम में संन्यासी उपासकों को अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती। वहां मुख्यतया मानसज्ञानमययज्ञ का ही अनुष्ठान रहता है। अतः उनके लिये काल ही सामग्रीरूप साधन है।

ओं सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वानाऽ अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ २ ॥

यजु० अ० ३१। मन्त्र १५॥

पदार्थ—[हे मनुष्याः] हे मनुष्यो ! (यत् यज्ञं तन्वानाः देवाः पशुम् पुरुषं [हृदि] अबध्नन्) जिस मानस-ज्ञानमय-यज्ञ को विस्तृत करते हुए विद्वान् लोग जानने योग्य परमात्मा को हृदय में बांधते हैं, ([तस्य] अस्य सप्त परिधयः आसन्) उस यज्ञ के सात गायत्री आदि छन्द चारों ओर से सूत के सात लपेट के समान हैं। (त्रिःसप्त समिधः कृताः)७×३=इक्कीस अर्थात् प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पांच सूक्ष्मभूत, पांच स्थूलभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, और सत्त्व रजस् तमस् तीन गुण ये सामग्री रूप किये। (तं यज्ञं यथावत् विजानीत] उस यज्ञ को यथावत् जानो ॥२॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम लोग इस अनेक प्रकार से कल्पित

परिधि आदि सामग्री से युक्त मानस-ज्ञानमय-यज्ञ को करके उससे पूर्ण ईश्वर को जानके सब प्रयोजनां की सिद्ध करो ॥२॥

ओं स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेदसे।
सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति ॥ ३ ॥
ऋ० म० २। सू० १०। मन्त्र ३ ॥

पदार्थ—[हे अग्ने ! यः समिधा) हे सब के प्रकाशक जन ! जो सम्यक्प्रकाशक इन्धन वा सुन्दर विज्ञान से (जातवेदसे ते [आत्मानं] ददाशति) उत्पन्न हुए पदार्थों में विद्यमान, वा बुद्धि को प्राप्त हुए आपके लिये, आत्मां=अपने स्वरूप को देता, अर्थात् प्राप्त कराता है, (सः घ सुवीर्यम् धत्ते) वह ही सुन्दर विज्ञानादि धन वा पराक्रम को धारण करता है। (सः पुष्यति सः [अन्यान् पोषयति च] वह सब ओर से पुष्ट होता है, और वह दूसरों को पुष्ट करता है ॥३॥

भावार्थ— जैसे प्राणी अग्नि में घृतादि उत्तम द्रव्य का होम कर वायु आदि की शुद्धि होनें से सब आनन्द को प्राप्त होतें हैं, वैसे ही विद्वान् लोग परमात्मा में अपने आत्मा समर्पण कर समस्त सुखों को प्राप्त होते हैं ॥३॥

ओं ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानाᳬ संवत्सरीणमुपभागमासते।
अहुतादो हविषो यज्ञेऽस्मिन्त्स्वयम्पिबन्तु मधुनो घृतस्य ॥ ४ ॥
यजु० अ० १७। मं० १३ ॥

पदार्थ—(ये देवानां [मध्ये] अहुतादः देवाः) जो विद्वानों के बीच में बिना हवन किये हुए पदार्थ का भोजन करने हारे विद्वान्, वा (यज्ञियानां [मध्ये] यज्ञियाः [विद्वांसः]) यज्ञ करने में कुशल पुरुषों में योगाभ्यासादि यज्ञ के योग्य विद्वान् लोग (संवत्सरीणम् भागम् उपासते [ते]) वर्षभर पुष्ट किये सेवने योग्य उत्तम परमात्मा की उपासना करते हैं, वे (अस्मिन् यज्ञे मधुनः घृतस्य

हविषः स्वयम् पिबन्तु) इस समागमरूप यज्ञ में शहद घृत वा जल, और हवन के योग्य पदार्थों के भाग को अपने आप सेवन करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् लोग इस संसार में अग्निक्रिया से रहित, अर्थात् आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि-सम्बन्धी बाह्य कर्मों को छोड़के आभ्यन्तर अग्नि को धारण करनेवाले संन्यासी हैं, वे बिना होम किये भोजन करते हुए सर्वत्र विचारके सब मनुष्यों को वेदार्थ का उपदेश किया करें ॥४॥

———:o:——— —

ब्रह्मचर्य का महत्त्व

आगे ब्रह्मचर्य-विषयक वेदमन्त्र लिखते हैं [द्र०—ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका, वर्णाश्रमविषय, पृष्ठ २७२-२७४]—

ओं ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥१॥
अथर्व० का० ११ । सू० ५ । मन्त्र ६ ॥

पदार्थ—(ब्रह्मचारी समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानः दीर्घश्मश्रुः दीक्षितः [सन् परमानन्दम्] एति) जो ब्रह्मचारी होता है, वही विद्या और तप से अपने ज्ञान को प्रकाशित, और मृगचर्म को धारण करके बड़े केश-श्मश्रुओं से युक्त और दीक्षा को प्राप्त होके परमानन्द को प्राप्त होता है । (सः पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रं सद्यः एति) वह विद्या को ग्रहण करके पूर्वसमुद्र, जो ब्रह्मचर्य आश्रम का अनुष्ठान है, उसके पार उतरके उत्तरसमुद्र-स्वरूप गृहाश्रम को शीघ्र ही प्राप्त होता है । ([एवं निवासयोग्यान् सर्वान्] लोकान् संगृभ्य मुहुः आचरिक्रत्) इस प्रकार विद्या का संग्रह करके निवासयोग्य सब लोकों को प्राप्त होके जगत् में अपने धर्मोपदेश का विचारपूर्वक बारम्बार प्रचार करता है, अर्थात् अपने धर्मोपदेश का ही सौभाग्य बढ़ाता है ॥ १ ॥

ओं ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुराँस्ततर्ह ॥ २ ॥
अथर्व कां० ११ । सू० ५ । मं० ७ ॥

पदार्थ—[सः] ब्रह्मचारी ब्रह्म=वेदविद्यां [पठन्]) वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को पढ़ता हुआ, (अपः=प्राणान्) प्राणविद्या=योगाभ्यास वा ब्रह्मविद्या, (लोकं=दर्शनम्) षड्दर्शनविद्या=वैदिक फिलासफी, (परमेष्ठिनं प्रजापतिम्) सबसे बड़े प्रजानाथ, और (विराजम्=विविधप्रकाशकं परमेश्वरम्) विविध चराचर जगत के प्रकाशक परमेश्वर को (जनयन्=प्रकटयन्) जानता और जनाता हुआ (अमृतस्य=मोक्षस्य योनौ=विद्यायाम्) मोक्ष-मार्ग की प्रकाशक ब्रह्मविद्या के ग्रहण करने के लिये (गर्भो भूत्वा=गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा) गर्भवत् नियम-पूर्वक स्थित होकर यथावत् विद्योपार्जन करके (इन्द्रो ह भूत्वा=सूर्यवत्प्रकाशकः सन्) सूर्यवत्प्रकाशक अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त होकर (असुरान्=दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान् पाखण्डिनो जनान् दैत्यरक्षः-स्वभावान्) असुरों अर्थात् दुष्टकर्म करनेहारे मूर्खों, पाखण्डियों और दैत्य तथा राक्षसों के से स्वभाववाले जनों को (ततर्ह=तिरस्करोति सर्वान्निवारयति) तिरस्कार करता है, अर्थात् उन सबका निवारण करता है, वा उसकी अविद्या का छेदन कर देता है। [यथेन्द्रः सूर्य्योऽसुरान् मेघान् रात्रिं च निवारयति, तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभ-गुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति] यथा इन्द्र नाम सूर्य असुरों=मेघों=वृत्रासुर का और रात्रि का निवारण कर देता है, वैसे ही ब्रह्मचारी सर्व शुभगुणों का प्रकाश करनेवाला और अशुभ-गुणों का नाश करनेवाला होता है ॥२॥

ओं ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥३॥
अथर्व० का० ११। सू० ५। मं० १९॥

पदार्थ - (देवा:=विद्वांस:) विद्वान् लोग (ब्रह्मचर्येण=वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन) वेदाध्ययनपूर्वक ब्रह्मविज्ञान=आत्म-विज्ञान को प्राप्त होकर (तपसा=धर्मानुष्ठानेन च) और धर्मानुष्ठान से (मृत्युं=जन्ममृत्युप्रभवदु:खम्) जन्ममरण-जन्य दु:ख को (उपाघ्नत=नित्यं घ्नन्ति [नान्यथा]) नित्य नाश करते हैं। अर्थात् उसको जीतकर मोक्षसुख को प्राप्त हो जाते हैं । क्योंकि मुक्त होने का अन्य कोई उपाय नहीं है । ([यथा] ब्रह्मचर्येण=सुनियमेन) जैसे परमेश्वर के नियम में स्थित होके (इन्द्रो ह=सूर्य:) सूर्य (देवेभ्य:=इन्द्रियेभ्य:) सब लोकों के लिये (स्व:=सुखं प्रकाशं च) सुख और प्रकाश को (आभरत्=धारयति) धारण करता है, [तथा विना ब्रह्मचर्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद्भवति । अतो ब्रह्मचर्यानुष्ठानपूर्वकम् एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमा: सुखमेधन्ते, अन्यथा मूलाभावे कुत: शाखा: ? किन्तु मूले दृढे शाखापुष्पफलच्छायादय: सिद्धा भवन्त्येवेति] इस ही प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत यथावत् धारण किये बिना किसी को भी ब्रह्मविद्या और मोक्ष वा सांसारिक विद्या और सुख यथावत् नहीं होता। इसलिये ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान करनेवाले पुरुष ही गृहाश्रमादि तीनों आश्रमों में सुख पाते हैं। अन्यथा मूल के अभाव में शाखा कहां ? किन्तु जड़ दृढ़ होने से ही शाखा पुष्प फल छाया आदि सिद्ध=प्राप्त होते हैं। इससे ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमों में उत्तम है । क्योंकि इसमें मनुष्य का आत्मा सूर्यवत् प्रकाशित होके सब को प्रकाशित कर देता है। इस कारण योगी को ब्रह्मचर्य के धारणपूर्वक विद्या और वीर्य की वृद्धि अवश्य करनी उचित है ।।३।। क्योंकि—

ओं व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ४ ॥

यजु० अ० १९। मन्त्र ३० [ऋ० भा० भू०, पृष्ठ ११३]।।

पदार्थ—[यो बालक: कन्यका मनुष्यो वा]जो बालक कन्या वा

पुरुष (व्रतेन = सत्यभाषणब्रह्मचर्यादिनियमेन) सत्यभाषण और ब्रह्मचर्यादिनियमों से (दीक्षाम्=ब्रह्मचर्यविद्यादिसुशिक्षाप्रज्ञाम्) ब्रह्मचर्य्य विद्या सुशिक्षा आदि सत्कर्मों के आरम्भरूपी दीक्षा को (आप्नोति =प्राप्नोति) प्राप्त होता है, (दीक्षया) और दीक्षा से (दक्षिणाम् आप्नोति=प्रतिष्ठां श्रियं वा प्राप्नोति) प्रतिष्ठा और धन को प्राप्त होता है, (दक्षिणा=दक्षिणया) उस प्रतिष्ठा वा धनरूप दक्षिणा से (श्रद्धामाप्नोति=श्रत्सत्यं दधाति ययेच्छया ताम् श्रद्धां प्राप्नोति) सत्य के धारण में प्रीतिरूप श्रद्धा को प्राप्त होता है। (श्रद्धया) उस श्रद्धा से (सत्यम्=सत्सु नित्येषु पदार्थेषु व्यवहारेषु वा साधुस्तं परमेश्वरं धर्मं वा, आप्यते=प्राप्यते) जो नित्य पदार्थों वा व्यवहारों में सबसे उत्तम है, उस परमेश्वर वा धर्म को प्राप्त करता है, [सः सुखी भवति] वह सुखी होता है ॥४॥

भावार्थ--कोई भी मनुष्य विद्या अच्छी शिक्षा और श्रद्धा के बिना सत्य व्यवहारों को प्राप्त होने और दुष्ट व्यवहारों के छोड़ने को समर्थ नहीं होता ॥४॥

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है, तभी सत्य को जानता है। उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं। अर्थात् जब मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है, तब दीक्षा=उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है। उत्तम गुणों से युक्त होकर जब मनुष्य उत्तम अधिकार प्राप्त कर लेता है, तब उसको दक्षिणा प्राप्त होती है। अर्थात् सब लोग सब प्रकार से उस धर्मनिष्ठ उत्तमाधिकारी जन की सत्कीर्ति प्रतिष्ठा और सत्कार करते हैं। जब ब्रह्मचर्य आदि सत्यव्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है। फिर सत्य के आचरण में जितनी-जितनी श्रद्धा बढ़ती जाती है, उतना-उतना ही धर्मानुष्ठानरूप सत्यमार्ग का ग्रहण और अधर्माचरणरूप असत्य का त्याग करने से मनुष्य लोकव्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायें। जिससे सत्य धर्म की यथावत् प्राप्ति हो, और परिणाम में सत्यस्वरूप जो परमात्मा है, उसकी प्राप्तिद्वारा सत्यसुख अर्थात् अमृतरूप मोक्षानन्द भी प्राप्त हो। —:०:—

ब्रह्मविद्या का अधिकारी कौन है ?

ब्रह्मविद्या का अधिकारी कौन हो सकता है, अर्थात् कैसे मनुष्य को इस विषय का उपदेश करना चाहिये, और किस प्रकार के जन को उपदेश नहीं करना चाहिये, यह विषय अगली श्रुति में कहा है—

ओम् ऊर्जो नपात९ स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये।
भुवद्वाजेष्वविता भुवद् वृधऽ उत त्राता तनूनाम् ॥१॥

यजु० अ० २७। मन्त्र ४४॥

पदार्थ—([हे विद्यार्थिन्!] सः [त्वम्]) हे विद्यार्थी ! सो तुम (ऊर्जः नपातम् हिन=हिनु=वर्द्धय) पराक्रम की, और न नष्ट करनेहारे विद्याबोध की वृद्धि कीजिये। ([यतः] अयम् [भवान्] जिससे कि यह प्रत्यक्ष आप (अस्मयुः वाजेषु अविता भुवत्) हमको चाहनेवाले, और संग्रामों में रक्षा करनेवाले होवें,। (उत तनूनां वृधे त्राता भुवत्) और शरीरों के बढ़ने के अर्थ पालन करनेहारे होवें। ([ततः त्वाम्] हव्यदातये [वयं] दाशेम) इससे आपको देने योग्य पदार्थों को देने के लिये हम लोग स्वीकार करें ॥१॥

भावार्थ— जो पराक्रम और बल को न नष्ट करे, शरीर और आत्मा की उन्नति करता हुआ रक्षक हो, उसके लिये आप्त जन विद्या देवें। जो इससे विपरीत लम्पट दुष्टाचारी निन्दक हो, वह विद्याग्रहण में अधिकारी नहीं होता, यह जानो ॥१॥

आप्त विद्वान् उपदेशकों को उचित है कि सदा सर्व प्रकार का उपदेश अज्ञानी मनुष्यों को करते रहा करें, सो आगे कहते हैं—

ओं पाहि नो अग्न एकया पाह्यु त द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जांपते पाहि चतसृभिर्वसो ।।२।।
यजु० अ० २७। मं० ४३।।

पदार्थ - (हे वसो अग्ने [त्वम्]) हे सुन्दर वास देनेहारे, अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वन् ! आप (एकया नः पाहि) उत्तम शिक्षा से हमारी रक्षा कीजिये । (द्वितीयया पाहि) दूसरी अध्यापन-क्रिया से रक्षा कीजिये । (तिसृभिः गीर्भिः पाहि) कर्म उपासना और ज्ञान को जतानेवाली तीन वाणियों से रक्षा कीजिये । (हे ऊर्जांपते ! [त्वं] नः चतसृभिः उत पाहि) हे बलों के रक्षक आप हमारी धर्म अर्थ काम और मोक्ष इनका विज्ञान करानेवाली चार प्रकार की वाणी से भी रक्षा कीजिये ।।२।।

भावार्थ - सत्यवादी धर्मात्मा आप्त जन उपदेश करने और पढ़ाने से भिन्न किसी साधन को मनुष्य का कल्याणकाक नहीं जानते । इससे नित्यप्रति अज्ञानियों पर कृपा कर सदा उपदेश करते और पढ़ाते हैं ।।३।।

———:o:———

ब्रह्मविद्या का अधिकारी कौन नहीं है ?

'उपासनायोग' दुष्ट मनुष्य को नहीं सिद्ध होता । क्योंकि—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।१।।
कठोप० वल्ली २। मन्त्र २४ [स० प्र० समु० ५, पृ० १८३]।।

पदार्थ—([यः पुरुषः] दुश्चरितात् अविरतः सः एनम्[परमात्मानम्] न [प्राप्नुयात्]) जो पुरुष दुराचार से पृथक् नहीं, वह इस परमात्मा को नहीं प्राप्त होता । (अशान्तः न [प्राप्नुयात्]) जिसको शांति नहीं, वह भी नहीं पा सकता । (असमाहितः न [प्राप्नुयात्]) जिसका आत्मा योगी नहीं वह भी नहीं पा सकता । (अशान्तमानसः अपि वा न [प्राप्नुयात्]) अथवा जिसका

मन शान्त नहीं, वह भी इस परमात्मा को नहीं प्राप्त होता। किन्तु (प्रज्ञानेन एनम् [परमात्मानम्] आप्नुयात्) प्रज्ञान=ब्रह्मविद्या और योगाभ्यास से प्राप्त किये विज्ञान वा आत्मज्ञान से इस परमात्मा को प्राप्त होता है । क्योंकि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस वाक्य से भी सिद्ध है कि ज्ञान के बिना अन्य किसी प्रकार परमात्मा वा मुक्ति नहीं प्राप्त होती ॥१॥

क्रोधी को भी परमात्मा वा मोक्ष प्राप्त नहीं होता । सो आगे कहा है—

ओम् परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये ।
वयो न वसतीरुप ॥२॥ ऋ० म० १। सू० २५ । मं० ४॥

पदार्थ [हे जगदीश्वर ! त्वत्कृपया] हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से (वयः वसतीः [विहाय दूरस्थानानि] उप पतन्ति न) जैसे पक्षी अपने रहने के स्थानों को छोड़-छोड़ दूर देश को उड़ जाते हैं, वैसे (मे=मम[वासात्] वस्यइष्टये) मेरे निवास-स्थान से अत्यन्त धन-प्राप्ति के लिये (विमन्यवः) अनेक प्रकार के क्रोध करनेवाले दुष्ट जन (परा [पतन्ति] हि) दूर ही चले जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे उड़ाये हुए पक्षी दूर जाके वसते, हैं, वैसे ही क्रोधी जीव मुझ से दूर बसें, और मैं उनसे दूर बसूं । जिससे हमारा उलटा स्वभाव और धन की हानि कभी न होवे ॥२॥

वक्ष्यमाण दूषणों से युक्त पुरुष को भी ब्रह्मविद्या तो क्या किन्तु अन्य कोई विद्या भी नहीं आती । अतः इन दोषों से भी पृथक् रहना अतीव उचित है । यथा चोक्तम्—

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ॥
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥३॥

सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ।।४।।

महा० विदुर प्रजा० अ० ४०। श्लोक ५,६ [स० प्र०, समु० ४, पृ० १६०] ।।

अर्थ—आलस्य अर्थात् शरीर और बुद्धि में जड़ता, नशा, मोह नाम किसी वस्तु में फंसावट, चपलता, और इधर-उधर की व्यर्थ कथा करना-सुनना, विद्या-ग्रहण में रुक जाना, अभिमानी होना, तथा अत्यागी होना, ये सात दोष विद्यार्थियों में होते हैं ।।४।।

जो ऐसे हैं, उनको विद्या कभी नहीं आती। सुख भोगने की इच्छा करनेवाले को विद्या कहां ? और विद्या पढ़नेवाले को सुख कहां ? इसीलिये विषय-सुखार्थी विद्या की और विद्यार्थी विषय-सुख की आशा छोड़ दे ।।४।।

——:०:——

आहार-विषयक उपदेश

अब योगी-जिज्ञासु के लिये आहार-विषयक कुछ संक्षिप्त नियम लिखते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ! ।।१।।

भ० गी०, अ० ६। श्लोक १६।।

अर्थ—हे अर्जुन ! न तो अधिक भोजन करनेवाले को योग सिद्ध होता है, और न एकाएकी कुछ भी न खानेवाले को । न अधिक सोनेवाले पुरुष को, और न अधिक जागनेवाले पुरुष को ही योग सिद्ध कदापि होता है ।।१।।

इसलिये इतना भोजन करे कि जिसके सम्पूर्ण रस को नाड़ियां खींचकर अच्छे प्रकार पचा सकें। जिससे गन्दी डकार वा गन्दा अपानवायु न निकले, अर्थात् अजीर्ण न होने पावे । यदि अजीर्ण हो,

तो जब तक अन्न अच्छे प्रकार पचकर क्षुधा न लगे, तब तक न खाये। परन्तु श्रेष्ठ बात तो यह है कि जिस दिन अजीर्ण हो, उस दिन कुछ न खाये। जब इच्छा हो, तब थोड़ा दूध पी ले। कभी-कभी केवल दूध पीकर व्रत भी कर लिया करे। विष्टब्ध में भी भोजन थोड़ा करे, अथवा दूध पीकर ही रहे। भोजन करने से १ घण्टे पश्चात् जल पीये। खाते समय जल थोड़ा पीना चाहिये, सो भी भोजन के मध्य में। यदि भोजन समय में जल न पीने का अभ्यास किया जाय, तो अच्छा है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥२॥

भ० गी०, अ० ६। श्लोक १७॥

अर्थ—जो पुरुष युक्ति से प्रमाण का भोजन नियत समय पर करता है, तथा युक्ति और प्रमाण से ही आने-जाने, मार्ग चलने आदि का नियम रखता है, कर्त्तव्य कामों में संयमादि यथोचित नियमों का पालन करता है, और नियत समय में नियमानुसार सोता और जागता है, उस पुरुष का योग दुःखनाशक होता है ॥२॥

ओं प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा ॥३॥ य० अ० २२। मं० २३॥

पदार्थ—[यैर्मनुष्यैः] जिन मनुष्यों करके (प्राणाय स्वाहा) जो पवन भीतर से बाहर निकलता है, उसके लिये योगविद्यायुक्त क्रिया, (अपानाय स्वाहा) जो बाहर से भीतर को आता है उस पवन के लिये वैद्यकविद्यायुक्त क्रिया, (व्यानाय स्वाहा) जो विविध प्रकार के अङ्गों में व्याप्त होता है उस पवन के लिये वैद्यकविद्यायुक्त वाणी, (चक्षुषे स्वाहा) जिससे प्राणी देखता है उस नेत्र इन्द्रिय के लिये प्रत्यक्ष प्रमाणयुक्त वाणी, (श्रोत्राय स्वाहा) जिससे सुनता है, उस कर्णेन्द्रिय के लिये शास्त्रज्ञ विद्वान् के उपदेशयुक्त वाणी, (वाचे स्वाहा) जिससे बोलता है उस वाणी के लिये सत्यभाषण आदि

व्यवहारों से युक्त बोल-चाल, (मनसे स्वाहा [च]) तथा विचार के निमित्त संकल्प और विकल्पवान् मन के लिये विचार से भरी वाणी, [प्रयुज्यते, ते विद्वांसो जायन्ते] प्रयोग की जाती है, अर्थात् भली-भांति उच्चारण की जाती है, वे विद्वान् होते हैं ॥३॥

भावार्थ—जो मनुष्य यज्ञ में शुद्ध किये जल ओषधि पवन अन्न पत्र पुष्प फल रस, कन्द अर्थात् अरबी आलू कसेरू रतालू और शकरकन्द आदि पदार्थों का भोजन करते हैं, वे नीरोग होकर बुद्धि बल आरोग्य और आयुवाले होते हैं ॥३॥

इस मन्त्र में कई उपदेश हैं। यथा—योगाभ्यास, वैद्यक-विद्यानुसार खान-पान का नियम, श्रवणचतुष्टय का अनुष्ठान, प्राणाग्नि में हवन इत्यादि।

जठराग्नि बढ़ाने का उपदेश

ओ३म् अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्।
अपाᳬ रेताᳬसि जिन्वति ॥ यजु० अ० १५। मन्त्र २० ॥

पदार्थ—([यथा हेमन्त ऋतौ] अयम् अग्निः) जैसे हेमन्त ऋतु में यह प्रसिद्ध अग्नि (दिवः पृथिव्याः [च मध्ये]) प्रकाश और भूमि के बीच (मूर्द्धा ककुत्पतिः [सन्]) शिर के तुल्य सूर्यरूप से वर्त्तमान, दिशाओं का रक्षक होके (अपाम् रेतांसि जिन्वति) प्राणों के पराक्रमों को पूर्णता से तृप्त करता है, [तथैव मनुष्यैः बलिष्ठैः भवितव्यम्] वैसे ही मनुष्यों को बलवान् होना चाहिये ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि युक्ति से जठराग्नि को बढ़ा, संयम से आहार-विहार करके नित्य बल बढ़ाते रहें ॥

योग-भ्रष्ट मनुष्य पुनर्जन्म में भी योगरत होता है

यदि योगी योग को यथावत् पूर्ण करने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो, तो उसका योग निष्फल नहीं जाता। यह विषय आगे कहते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥१॥
भ० गी०, अ० ६। श्लोक ४० ॥

अर्थ--हे अर्जुन! उस योग-भ्रष्ट पुरुष के कर्मफल का विनाश इस लोक=जन्म तथा परलोक=पुनर्जन्म में नहीं होता। हे तात! शुभ कर्म करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गति को नहीं प्राप्त होता। अर्थात् मनुष्य-योनि को ही प्राप्त होता है, अधोगति=नीच योनि में नहीं जाता। अथवा अनेक प्रकार के दुःसह दुःख भी नहीं भोगता ॥१॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥२॥
भ० गी०, अ० ६। श्लोक ४१ ॥

अर्थ—वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्मा लोगों के निवास करने योग्य लोकों को प्राप्त करके बहुत वर्षों तक सुखपूर्वक वहां वास करके शुद्धाचरणी पुण्यशील पवित्र पुण्यात्मा जनों तथा श्रीमानों के घर में जन्म लेता है ॥२॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥३॥
भ० गी०, अ० ६। श्लोक ४२ ॥

अर्थ— अथवा बुद्धिमान योगियों के कुल में ही जन्म पाता है। जगत् में योगियों के कुल में जो ऐसा जन्म मिलता है, सो अति दुर्लभ है ॥३॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४॥
भ० गी०, अ० ६। श्लोक ४३ ॥

अर्थ—वहां अर्थात् धनाढ्यों राजाओं वा योगियों के कुल में उस ही पूर्व-देह-सम्बन्धी बुद्धि-संयोग को प्राप्त होता है। और फिर योग की सम्यक् सिद्धि के लिये अधिक यत्न करता है ॥४॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥५॥
भ० गी०, अ० ६ । श्लोक ४४ ॥

अर्थ—विवश अर्थात् ऐश्वर्यादि भोगों में फंसा हुआ होने पर भी पूर्वजन्म में किये योगाभ्यास के संस्कारों से प्रेरित होकर वह पुरुष अवश्यमेव योगाभ्यास करने को आकर्षित होता है। और योग का जिज्ञासु होनेमात्र से भी शब्द-ब्रह्म का उल्लङ्घन कर जाता है ॥५॥

शब्दब्रह्म के उल्लङ्घन करने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म के वाचक 'ओं' शब्दरूपी महामन्त्र का जाप करते-करते सविकल्प समाधियों को सिद्ध करता हुआ, उनके परे जो निर्विकल्प समाधि है, वहां तक पहुंचकर मुक्ति को प्राप्त करता है। 'ओ३म्' यह शब्द ब्रह्म का परम उत्कृष्ट नाम है, अतः 'शब्दब्रह्म' कहाता है। क्योंकि इससे बढ़कर उच्च काष्ठा का अन्य कोई शब्द नहीं। अतः इन शब्दों में सबसे श्रेष्ठ वा बड़ा होने के कारण शब्दब्रह्म है।

योगभ्रष्ट पुरुष अगले जन्म में फिर योग के साधनों में ही तत्पर होता है, इस विषय का वेदोक्त प्रमाण आगे लिखा जाता है—

ओं विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे ।
यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवीꣳषि जुहुरे समिद्धे ॥६॥
य० अ० १७ । मं० ७५ ॥

पदार्थ—(हे अग्ने=योगिन् !) हे योग-संस्कार से दुष्ट कर्म को दग्ध करनेवाले योगी ! (ते परमे जन्मन्=जन्मनि) तेरे सब से अति उत्तम योग के संस्कार से उत्पन्न हुए पूर्व जन्म में, वा (त्वे=त्वयि [वर्त्तमाने] अवरे=अर्वाचीने) तेरे वर्त्तमान जन्म में, तथा आगे होनेवाले जन्म में (सधस्थे [वर्त्तमाना वयम्]) एक साथ स्थान में वर्त्तमान हम लोग (स्तोमैः विधेम) स्तुतियों से सत्कारपूर्वक तेरी सेवा करें। [त्वम् अस्मान्] तू हम लोगों को (यस्मात् योनेः उदारिथ) जिस स्थान से अच्छे-अच्छे साधनों के सहित प्राप्त हों,

(तम् [योनिम् अहम्] प्रयजे) उस स्थान को मैं अच्छे प्रकार प्राप्त होऊं। और ([यथा होतारः] समिद्धे [अग्नौ] हवींषि जुहुरे) जैसे होम करनेवाले लोग अच्छे प्रकार जलते हुए अग्नि में होम करने योग्य वस्तुओं को होमते हैं, ([तथा योगाग्नौ दुःखसमूहस्य होम] विधेम) वैसे योगाग्नि में हम लोग दुःखसमूहों के होम का विधान करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस संसार में योग के संस्कार से युक्त जिस जीव का पवित्रभाव से जन्म होता है, वह संस्कार की प्रबलता से योग ही के जानने की चाहना करनेवाला होता है। और उसका जो सेवन करते हैं, वे भी योग की चाहना करनेवाले होते हैं। उक्त सब योगी जन, जैसे अग्नि इन्धन को जलाता है, वैसे समस्त दुःख तथा अशुद्धिभाव को योग से जलाते हैं ॥६॥

इस मन्त्र से पुनर्जन्म सिद्ध होता है। सन्निहितमरण पुरुष को प्राण-प्रयाण-समय में किस प्रकार परमात्मा का स्मरण करना चाहिये, सो आगे कहते हैं—

मरण-समय का ध्यान

ओं वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥

यजु० अ० ४० । मं० १५ ॥

पदार्थ—(हे क्रतो! [त्वं शरीरत्यागसमये] ओ३म् स्मर) हे कर्म करनेवाले जीव! तू शरीर छूटते समय 'ओ३म्' इस नाम-वाच्य ईश्वर का स्मरण कर। (क्लिबे स्मर=परमात्मानं स्वस्वरूपं च स्मर) अपने सामर्थ्य के लिये परमात्मा और अपने स्वरूप का स्मरण कर। (कृतं स्मर) अपने किये का स्मरण कर। ([अत्रस्थः] वायुः= अनिलं [अनिलः] अमृतं [धरति]) इस संस्कार का 'वायु' धनञ्जयादिरूप वायु 'अनिलम्'=कारणरूप वायु को, और 'अनिलः' =कारणरूप वायु अविनाशी कारण को धारण करता है। (अथ

इदम् शरीरं भस्मान्तं [भवति, इति विजानीत]) इसके अनन्तर यह नष्ट होनेवाला सुखादि का आश्रय शरीर अन्त में भस्म होनेवाला होता है, ऐसा जानो ॥

भावार्थ – मनुष्यों को चाहिये कि जैसी मृत्यु-समय में चित्त की वृत्ति होती है, और शरीर से आत्मा का पृथक् होना होता है, वैसे ही इस समय भी जानें। इस शरीर की जलाने-पर्यन्त क्रिया करें। जलाने के पश्चात् शरीर का कोई संस्कार न करें। वर्त्तमान समय में एक परमेश्वर ही की आज्ञा का पालन, उपासना और अपने-अपने सामर्थ्य को बढ़ाया करें। 'किया हुआ कर्म निष्फल नहीं होता' ऐसा मानके धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति किया करें ॥

मरण-समय की प्रार्थना

ओं पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रम्म आगन् । वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ यजु० अ० ४ । मन्त्र १५ [ऋ० भा० भू०, पृष्ठ २३४, २३५] ॥

पदार्थ—([हे जगदीश्वर ! भवदनुग्रहेण सम्बन्धेन वा विद्यादि-श्रेष्ठगुणयुक्तं विज्ञानसाधकम्] मनः आयुः [च जागरणे अर्थात् शयनानन्तरं द्वितीये जन्मनि वा] पुनः पुनः मे आगन्=प्राप्नुयात्) हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा वा सम्बन्ध से विद्यादि श्रेष्ठगुणयुक्त तथा विज्ञान-साधक मन और आयु जागने पर अर्थात् सोने के अन्त में, वा दूसरे जन्म में, जब-जब जन्म लेना पड़े तब-तब सदैव मुझको प्राप्त हों। (प्राणः=शरीरधारकः, आत्मा=अतति सर्वत्र व्याप्नोति इति सर्वान्तर्यामिपरमात्मा, स्वस्वभावो सदात्मविचारः [शुद्धः सन्] मे पुनः पुनः आ=समन्तात् अगन्=प्राप्नुयात्) शरीर का आधार प्राण, सब में व्यापक सब के भीतर की सब बातों को जाननेवाले परमात्मा का विज्ञान, वा अपना स्वभाव, अर्थात् मेरे आत्मा का विचार शुद्ध होकर मुझको वारम्बार=पुनर्जन्म में सब ओर से अच्छे

प्रकार प्राप्त होवे। (चक्षुः=चष्टे येन तद्रूपग्राहकमिन्द्रियम्, श्रोत्रम् =शृणोति शब्दान् येन तच्छब्दग्राहकमिन्द्रियम्, पुनः पुनः [मनुष्य-देहधारणानन्तरम्]मे =मह्यम् आ अगन् =आभिमुख्येन प्राप्नुयात्) देखने के लिये नेत्र, शब्द को ग्रहण करनेवाला कान, मनुष्य-देह धारण करने के पश्चात् मुझको सब प्रकार प्राप्त हों। (अदब्धः =हिंसितुमनर्हः दम्भादिदोषरहितः; तनूपाः=यः शरीरमात्मानं च रक्षति, वैश्वानरः=शरीरनेता जठराग्निः सर्वस्य नेता परमेश्वरो वा सकलजगतो नयनकर्त्ता) हिंसा करने के अयोग्य, दम्भादिदोषरहित, शरीर वा आत्मा की रक्षा करनेवाला, शरीर को प्राप्त होनेवाला जठराग्नि, वा सब विश्व को प्राप्त होनेवाला परमेश्वर, सकल विश्व में विराजमान ईश्वर (अग्निः =अन्तःस्थो विज्ञानानन्दस्वरूपः परमेश्वरः सर्वपापप्रणाशकः) सबके हृदय में विराजमान आनन्दस्वरूप और सब पापों को नष्ट कर देनेहारा (अवद्यात् =पापाचरणात् दुरितात्= पापजन्यात् प्राप्तव्याद् दुःखाद् दुष्टकर्मणो वा) पाप से उत्पन्न हुए दुःख वा दुष्ट कर्मों से (पातु =रक्षतु) रक्षा करे॥

भावार्थ जब जीव मरण आदि व्यवहारों को प्राप्त होते हैं, तब जो-जो मन आदि इन्द्रिय नाश हुए के समान होकर फिर जगने पर वा जन्मान्तर में जिन कार्य करने के साधनों को प्राप्त होते हैं, वे इन्द्रिय विद्युत् अग्नि आदि के सम्बन्ध, परमेश्वर की सत्ता वा व्यवस्था से शरीरवाले होकर कार्य करने को समर्थ होते हैं। मनुष्यों को योग्य है कि जो अच्छे प्रकार सेवन किया हुआ जठराग्नि सब की रक्षा करता, और जो उपासना किया हुआ परमेश्वर=जगदीश्वर पापरूप कर्मों से अलग कर, धर्म में प्रवृत्त कर बारम्बार मनुष्य-जन्म को प्राप्त कराकर, दुष्टाचार वा दुःखों से पृथक् करके, इस लोक वा परलोक के सुखों को प्राप्त कराता है, उस जठराग्नि को उपयुक्त करें, और उस परमेश्वर ही की उपासना करें।

योगी के उपयोगी नियम

जिज्ञासु योगी को किस प्रकार नित्यप्रति अपने आचरणों का वर्त्तमान रखना चाहिये, सो आगे कहते हैं—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥१॥
मनु० अ० ४। श्लोक २०४ [स० प्र०, समु० ३, पृष्ठ ७१] ॥

अर्थ—बुद्धिमान् योगी को उचित है कि अहिंसादि यमों का निरन्तर सेवन करता रहे। किन्तु यमों को त्यागकर केवल शौचादि नियमों का ही सेवन न करे। क्योंकि यम-रहित केवल नियमों का सेवन करने से मनुष्य धर्म से पतित नाम च्युत हो जाता है ॥१॥

अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त यम-नियमों द्वारा जो बाह्य और आभ्यन्तर शौच का विधान शास्त्रों में किया गया है, उसके प्रधानांश यमों द्वारा आभ्यन्तर शुद्धि करना छोड़कर जो लोग दम्भ से स्नानादि बाह्यशुद्धि मात्र लोक-दिखावे के ही लिये करते हैं, वे धार्मिक नहीं हो सकते। अतः यम-नियम दोनों का यथावत् सेवन करना तो उत्तम कर्म है, परन्तु सामान्य पक्ष में यदि नियमों का कोई अंश छूट भी जाये, तो भी यमों का परित्याग न करे। तथापि जो कभी नहा धोकर बाह्य शुद्धि भी नहीं करते, उनकी अपेक्षा केवल बाह्य मेध्य का आचरण करनेवाले भी किसी अंश में अच्छे ही हैं।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२॥
मनु० अ० २। श्लोक २८ [स० प्र०, समु० ३, पृष्ठ ७२] ॥

पदार्थ—(स्वाध्यायेन) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने [सन्ध्योपासन योगाभ्यास करने], (व्रतैः) ब्रह्मचर्य-सत्यभाषणादि नियम पालने, (होमैः) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग, और सत्यविद्याओं का दान देने, (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्म उपासना और ज्ञान इन तीन प्रकार की विद्या ग्रहण करने, (इज्यया सुतैः)

पक्षेष्टयादि करने, सुसन्तानोत्पत्ति करने, (महायज्ञैश्च) ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ पितृयज्ञ बलिवैश्वदेवयज्ञ, और अतिथियज्ञ इन पांच महायज्ञों, और (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञों (च) तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से (ब्राह्मी इयं क्रियते तनुः) इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप ब्राह्मण का शरीर करना उचित है ॥२॥

इतने साधनों के बिना ब्राह्मण-शरीर नहीं बन सकता। और अपने आचरणों को सुधारे बिना अधर्मी पुरुष को योग सिद्ध होना असम्भव है। जैसा कि कहा है कि—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥३॥
मनु० अ० २। श्लोक १७ [स० प्र०, समु० ३, पृष्ठ ७३]॥

अर्थ—जो दुष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसके वेद त्याग=वैराग्य यज्ञ नियम तप और अन्य अच्छे धर्मयुक्त काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते ॥३॥

इसलिये मनुष्यों को उचित है कि अपने योगाभ्यासादि नित्यकर्मों का अनुष्ठान प्रतिदिन नियमपूर्वक अवश्यमेव करते रहें, कभी अनध्याय न करें। अतएव महर्षि मनु जी उपदेश करते हैं कि—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥४॥
मनु० अ० २। श्लोक १०५ [स० प्र०, समु० ३, पृष्ठ ७३]॥

अर्थ—वेद के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासन-योगाभ्यास, पञ्चमहायज्ञादि के करने, और होममन्त्रों को पढ़ने में अनध्याय-विषयक अनुरोध=आग्रह नहीं है ॥४॥

इस ही विषय में अत्यन्त आवश्यकता जताने के हेतु फिर दुबारा उक्त महर्षि आग्रहपूर्वक उपदेश करते हैं कि—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥५॥
मनु० अ० २ । श्लोक १०६ [स० प्र०, समु० ३, पृष्ठ ७४] ॥

अर्थ—नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता, जैसे श्वास-प्रश्वास सदा लिये जाते है, बन्द नहीं किये जा सकते; वैसे ही योगाभ्यासादि नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिये। किसी भी दिन छोड़ना उचित नहीं। क्योंकि अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तमकर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है। जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म में सदा अनध्याय और सत्कर्म में सदा स्वाध्याय ही होता है ॥५॥

अतएव मुमुक्षुजनों को अत्यन्त आवश्यकतापूर्वक उचित है कि प्रतिदिन न्यून से न्यून दो घण्टे, अर्थात् एक घण्टे तक प्रातःकाल तथा घण्टेभर तक ही सायंकाल में भी "ध्यान-योग" द्वारा ध्यानावस्थित होकर योगाभ्यास किया करें। आरम्भ में बालकों की विद्या शिक्षा और सुसंगति का तथा मुख्यतया वीर्य की रक्षा तथा मादक द्रव्यों से बचाव रखने आदि का प्रबन्ध 'सत्यार्थ-प्रकाश' के द्वितीय तथा तृतीय समुल्लास में किये उपदेशों के अनुसार करना चाहिये।

अब यह ग्रन्थ परम-कारुणिक ईश्वर की कृपा से समाप्त हुआ। इसके अनुसार जो कोई मुझ से निष्कपट होकर जब कभी योग सीखा चाहेगा, उसको मैं भी निष्कपटपूर्वक बताने में किञ्चित् दुराव न करूंगा। और जो कुछ सिखाऊंगा, उसको प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध कराकर पूर्ण विश्वास भी करा दूंगा।

अलमतिविस्तरेण ॥

ग्रन्थ-समाप्तिविषयक प्रार्थना

ओं शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् ऋतमवादिषं सत्यमवादिषम् ।
तन्मामावीत् तद्वक्तारमावीत् आवीन्माम् आवीद्वक्तारम् ॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ—हे परममित्र, स्वीकार करनेयोग्य, कमनीय, न्यायकारी, सर्वाधिपति, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, और अनन्तवीर्य परमात्मन् ! आप हमारे सर्व प्रकार से शान्तिकर्त्ता पुष्टिकर्त्ता तुष्टिकर्त्ता मोक्षानन्दप्रद न्यायकर्त्ता सर्वैश्वर्यप्रद पालक-पोषक, और सर्वाधार हैं। आप सबसे बड़े और सर्वशक्तिमान हैं ॥

इसलिये आप ही को हमारा बारंबार प्रणाम प्राप्त हो। क्योंकि प्रत्यक्ष ब्रह्म केवल आप ही हैं। मैंने इस ग्रन्थ में आप ही का प्रत्यक्ष ब्रह्म होना प्रतिपादन किया है। और जो कुछ मैंने कथन किया है, सो वेदादि-सत्यशास्त्रों के अनुकूल और निज क्षुद्रबुद्ध्यनुसार सत्य ही सत्य किया है। और मैं आपका परम उपकार मानता, धन्यवाद देता और अपने ताईं कृतकृत्य जानता हुआ मुक्तकण्ठ से कहता हूं कि आपने मेरी सर्वदा भले प्रकार सब विघ्नों और तापत्रय से यथावत् रक्षा की है। और आशा करता हूं कि जो कोई इस पुस्तक के अनुसार योगाभ्यास करेगा, उसकी भी आप इसी प्रकार सर्वदा सहायता करते रहेंगे ॥

इति श्री परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमयोगिनां
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण
लक्ष्मणानन्दस्वामिना सुप्रणीते
ध्यानयोगप्रकाशाख्यग्रन्थे
उपासनायोगो नाम
तृतीयोऽध्यायः
समाप्तः ॥

प्रथम परिशिष्ट

ध्यान-योग-प्रकाश में उद्धृत ग्रन्थनामों की सूची

१. द्र०—योग व्यासभाष्य शब्द ।

द्वितीय परिशिष्ट

ध्यान-योग-प्रकाश में उद्धृत आचार्य नामों की सूची

तृतीय परिशिष्ट

ध्यान-योग-प्रकाश में उद्धृत प्रमाणों की सूची

१. द्र०—स्वामी दयानन्द सरस्वती शब्द।
२. द्र०—महाराजा भोज शब्द।
३. द्र०—स्वामी शंकराचार्य शब्द।

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

वेद-विषयक ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य**—(संस्कृत हिन्दी वा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां। प्रथम भाग ३५-००, द्वितीय भाग ३०-००, तृतीय भाग ३०-०० ।

२. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण। प्रथम भाग अप्राप्य है। द्वितीय भाग मूल्य २५-०० ।

३. **तैत्तिरीय-संहिता**—मूलमात्र, मन्त्र-सूची-सहित। ४०-००

४. **अथर्ववेदभाष्य**—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत। ११-१३ काण्ड ३०-००। १४-१७ काण्ड २४-००; १८-१९ वां काण्ड २०-००; वीसवां काण्ड २०-०० ।

५. **माध्यन्दिन—(यजुर्वेद) पदपाठ**—शुद्ध संस्करण। २५-००

६. **गोपथ ब्राह्मण (मूल)**—सम्पादक श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण। मूल्य ४०-००

७. **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा**—युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वेद-विषयक १७ विशिष्ट निबन्धों का अपूर्व संग्रह। मूल्य ३०-००

८. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कट माधव कृत। इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है। व्याख्याकार—श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। उत्तम-संस्करण ३०-००, साधारण २०-०० ।

९. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—युधिष्ठिर मीमांसक मूल्य २-००

१०. **वैदिक-छन्दोमीमांसा**—युधिष्ठिर मीमांसक मूल्य १५-००

११. यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा—लेखक पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय । बढ़िया जिल्द २०-००, साधारण १६-०० ।

१२. वैदिक-पीयूष-धारा—लेखक श्री देवेन्द्रकुमार जी कपूर । चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थ पूर्वक विस्तृत व्याख्या, अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त । उत्तम जिल्द १५-००; साधारण १०-०० ।

कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थ

१३. बौधायन-श्रौत-सूत्रम् (दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायण कृत भाष्य सहित (संस्कृत) ४०-००

१४. दर्शपूर्णमास-पद्धति—पं० भीमसेन भाषार्थ सहित २५-००

१५. कात्यायनगृह्यसूत्रम्—मूलमात्र १५-००

१६. संस्कार-विधि—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट । मूल्य लागतमात्र १२-००, राज-संस्करण १५-०० । सस्ता संस्करण मूल्य ५-२५, अच्छा कागज सजिल्द ७-५० ।

१७. वैदिक-नित्यकर्म-विधि—सन्ध्यादि पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन मन्त्रों के पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित । यु० मी० मूल्य ३-०० सजिल्द ४-०० । मूलमन्त्रपाठमात्र ०-७५

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-विषयक ग्रन्थ

१८. वर्णोच्चारण-शिक्षा—ऋ० द० कृत हिन्दी व्याख्या मूल्य ०-६० ।

१९. शिक्षासूत्राणि-आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र शिक्षा-सूत्र ५-००

२०. निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य-विरचित एक मात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित । आरम्भ में उपोद्घात रूप में निरुक्त-शास्त्र विषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया हैं (संस्कृत) । सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधिः । उत्तम कागज, शुद्ध छपाई तथा सुन्दर जिल्द मूल्य १००-०० ।

२१. निरुक्त-समुच्चय—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। सं—युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य १५-००

२२. अष्टाध्यायी—(मूल) शुद्ध संस्करण। मूल्य ३-००

२३. धातुपाठ—धात्वादिसूची, शुद्ध संस्करण। मूल्य ३-००

२४. अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः (संस्कृत)-डा० विजयपाल विद्यावारिधि। मूल्य ५०-००

२५. वामनीयं लिङ्गानुशासनम्—स्वोपज्ञ व्याख्यासहितम्। मूल्य ८-००।

२६. अष्टाध्यायी-भाष्य—(संस्कृत तथा हिन्दी) श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। प्रथम भाग २४-००, द्वितीय भाग २०-००, तृतीय भाग २०-००।

२७. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक-श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रथम भाग १०-००, द्वितीय भाग १०-००।

२८. The Tested Easiest Method of Learning and Teaching Sanskrit (First Book)—यह पुस्तक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत 'बिना रटे संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि' भाग १ का अंग्रेजी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण में प्रवेश करने वालों के लिये यह आधिकारिक पुस्तक है। कागज और छपाई सुन्दर, सजिल्द २५-००।

२९. महाभाष्य—हिन्दी व्याख्या, पं० यु० मी०। प्रथम भाग ५०-००, द्वितीय भाग २५-००, तृतीय भाग २५-००

३०. उणादिकोष—ऋ० द०स० कृत व्याख्या, तथा यु० मी० कृत टिप्पणियों, एवं ११ सूचियों सहित। अजिल्द १०-००, सजिल्द १२-००

३१. दैवम् पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्—लीलाशुकमुनि कृत १०-००

३२. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति ६-००

३३. काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्—संस्कृत रूपान्तर। १५-००

३४. संस्कृत-धातुकोश—पाणिनीय धातुओं का हिन्दी में अर्थ निर्देश। सं० युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य १०-००

अध्यात्म-विषयक ग्रन्थ

३५. आर्याभिविनय (हिन्दी)—स्वामी दयानन्द । गुटका सजिल्द मूल्य ४-०० ।

३६. Aryabhivinaya—English translation and notes (स्वामी भूमानन्द) दोरङ्गी छपाई । अजिल्द ४-००, सजिल्द ६-०० ।

३७ विष्णुसहस्त्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य सहितम्)—पं० सत्यदेव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य (४ भाग) । प्रति भाग १५·००; पूरा सेट ६०-०० ।

३८. श्रीमदभगवद्-गीता-भाष्यम् श्री पं० तुलसीराम स्वामी कृत व्याख्या सहित । मूल्य ६-००

नीतिशास्त्र-इतिहास-विषयक ग्रन्थ

३९. शुक्रनीतिसार—व्याख्याकार श्री स्वा० जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती । विस्तृत विषय सूची तथा श्लोक-सूची सहित । उत्तम कागज, सुन्दर छपाई तथा जिल्द सहित । मूल्य ४५-००

४०. विदुरनीति—युधिष्ठिर मीमांसक कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित । मूल्य २०-००

४१. सत्याग्रह-नीति-काव्य—आ० स० सत्याग्रह १९३९ ई० में हैदराबाद जेल में पं० सत्यदेव वासिष्ठ द्वारा विरचित । हिन्दी व्याख्या सहित । मूल्य ५-०० ।

४२. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक कृत अप्राप्य । नया संस्करण छप रहा है ।

४३. संस्कृत व्याकरण गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि—लेखक–डा० कपिलदेव शास्त्री एम० ए० । सजिल्द १५-००

४४. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—इस बार इस में दयानन्द के अनेक नये उपलब्ध पत्र और विज्ञापन संगृहीत ऋषि किये गए हैं । इस बार यह संग्रह चार भागों में छप रहा है । प्रथम दो भागों में ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन आदि संगृहीत हैं । तीसरे

और चौथे भाग में विविध व्यक्तियों द्वारा ऋ० द० को भेजे गये पत्रों का संग्रह है। प्रथम भाग—३५-००, दूसरा भाग ३५-००, तीसरा भाग ३५-००, चौथा भाग ३५-००।

४५. विरजानन्द-चरित—लेखक—पं० भीमसेन शास्त्री एम० ए०। नया परिवर्धित और शुद्ध संस्करण। मूल्य ३-००

४६. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत-साहित्य को देन—लेखक—डा० भवानीलाल भारतीय एम०ए०। सजिल्द १५-००

४७. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास - लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। नया परिशोधित परिवर्धित संस्करण। मूल्य ४०-००

४८. ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन—इस बार पूना प्रवचन मूल मराठी से अनूदित एवं बम्बई प्रवचन सहित तथा विविध सूचियों, बढ़िया कागज और जिल्द से युक्त। मूल्य ३०-००

४९. दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह १०-००। दयानन्द प्रवचन संग्रह १०-००।

५०. कन्योपनयन-विधि—'कन्योपनयन-निषेध' का खण्डन। महारानी शंकर शर्मा। मूल्य ६-००

५१. सत्यार्थप्रकाश—३५०० टिप्पणियों और १४ विविध प्रकार के परिशिष्टों सूचियों के सहित १४०० पृष्ठ। सजिल्द ३०-००

दर्शन-आयुर्वेद-विषयक ग्रन्थ

५२. मीमांसा-शाबर-भाष्य — आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी व्याख्या। व्याख्याकार—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग ४०-००; द्वितीय भाग ३०-००; तृतीय भाग ५०-००; चौथा भाग यन्त्रस्थ।

५३. नाडी-तत्त्वदर्शनम्—श्री पं० सत्यदेव जी वासिष्ठ ३०-००
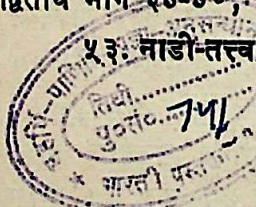
रामलाल कपूर ट्रस्ट

बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा) १३१०२१